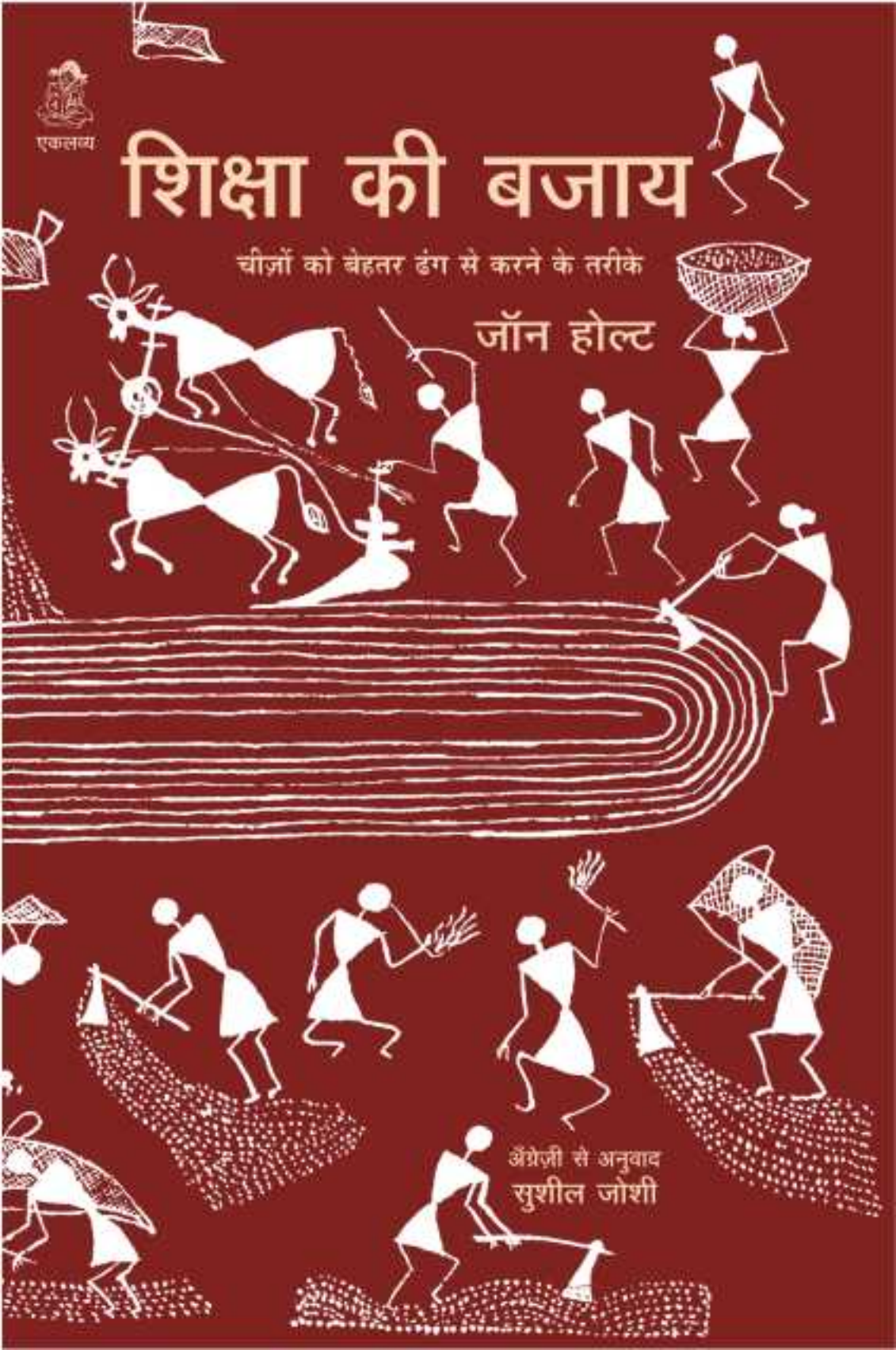


शिक्षा की बजाय

चीजों को बेहतर ढंग से करने के तरीके

जॉन होल्ट



अंग्रेज़ी से अनुवाद
सुशील जोशी

करना, “शिक्षा” नहीं

यह किताब *करने* के पक्ष में है – यानी स्व-निर्देशित, उद्देश्यपूर्ण व सार्थक जीवन और काम के पक्ष में – और “शिक्षा” के *विरुद्ध* है – यानी सक्रिय जीवन से कटकर घूस, लालच या भय के दबाव में सीखने के विरुद्ध।

यह किताब उन लोगों के बारे में है जो कुछ कर रहे हैं, और उसे बेहतर ढंग से कर रहे हैं। यह उन परिस्थितियों के बारे में है जिनमें हम चीज़ों को बेहतर ढंग से कर सकते हैं। ऐसे कुछ तरीकों के बारे में है जिनसे, *इन परिस्थितियों में*, हम दूसरों की (या दूसरे हमारी) मदद कर सकते हैं कि चीज़ों को बेहतर ढंग से कैसे किया जाए। और इस बारे में है कि वे परिस्थितियाँ मौजूद क्यों नहीं हैं और एक अनिवार्य, दमनपूर्ण, प्रतिस्पर्धात्मक स्कूल के अन्दर वे परिस्थितियाँ *पैदा क्यों नहीं की जा सकतीं*।

सभी लोग “शिक्षा” को उस अर्थ में नहीं लेंगे जो अर्थ मैंने यहाँ उसे दिया है। कुछ लोग सोचते होंगे, जैसा कि मैंने कभी कहा था, कि शिक्षा “वह चीज़ है जो व्यक्ति स्वयं को देता है, यह वह चीज़ नहीं है जो कोई और उसे दे।” किन्तु यहाँ मैं शिक्षा को उस अर्थ में परिभाषित करना चाहूँगा जिस अर्थ में अधिकांश लोग उसे लेते हैं, कि यह वह चीज़ है जो कुछ लोग अन्य लोगों पर उनके ही भले के लिए करते हैं, उन्हें आकार देते हैं, ढालते हैं और उन्हें वह सिखाने की कोशिश करते हैं जो उनकी नज़र में अन्य लोगों को जानना चाहिए। आज दुनिया भर में “शिक्षा” इसी को कहते हैं और मैं पूरी तरह इसके खिलाफ हूँ। लोग इस विषय पर चर्चा करते हुए काफी समय व्यतीत करते हैं – मैंने भी कई वर्षों तक ऐसा किया है – कि “शिक्षा” को ज़्यादा कारगर और कार्यक्षम कैसे बनाया जाए या कैसे यह अधिक लोगों को दी जाए या इसमें कैसे सुधार किया जाए या इसे मानवीय कैसे बनाया जाए। किन्तु इसे ज़्यादा कारगर और कार्यक्षम बनाने का

मतलब होगा इसे और बदतर बनाना तथा और अधिक नुकसान करने में मदद करना। इसमें सुधार नहीं किया जा सकता, इसे विवेकपूर्ण या मानवीय ढंग से नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका मकसद न तो विवेकपूर्ण है, न मानवीय।

जीवन के अधिकार के बाद हमारा सबसे बुनियादी मानव अधिकार अपने दिमाग और विचारों पर नियंत्रण का अधिकार है। इसका मतलब है कि हमें स्वयं के लिए यह तय करने का अधिकार है कि हम अपने आसपास की दुनिया की खोजबीन कैसे करें, अपने व अन्य लोगों के अनुभवों के बारे में कैसे सोचें, और कैसे जीवन के अर्थ की तलाश करें व उसे बनाएँ। हमें “शिक्षित” करने की कोशिश में जो कोई भी यह अधिकार हमसे छीनता है वह हमारे अस्तित्व के केन्द्र पर हमला करता है और हमें सबसे गहरी व स्थायी चोट पहुँचाता है। कुल मिलाकर वह हमें बताता है कि हम तो सोच भी नहीं सकते, कि हमें आजीवन दूसरों पर निर्भर रहना पड़ेगा, कि वे हमें हमारी दुनिया और ज़िन्दगी का अर्थ बताएँ, और इनका जो भी अर्थ हम अपने अनुभवों के आधार पर अपने आप लगाते हैं उसका कोई मूल्य नहीं है।

अब मुझे लगता है कि अनिवार्य और प्रतिस्पर्धापूर्ण स्कूलिंग के ढाँचों, तमाम पारितोषिकों और दण्डों, ग्रेड, डिप्लोमा, प्रमाण-पत्रों आदि से लैस शिक्षा शायद मानव जाति का सबसे तानाशाहीपूर्ण और खतरनाक सामाजिक आविष्कार है। यह आधुनिक व विश्वव्यापी गुलाम राज्य की सबसे गहरी बुनियाद है जिसमें अधिकांश लोग स्वयं को उत्पादनकर्ता, उपभोक्ता, दर्शक, प्रशंसक से अधिक कुछ नहीं समझते और अपने जीवन के हर क्षेत्र में लालच, ईर्ष्या व भय से संचालित होते हैं। मेरा सरोकार “शिक्षा” को बेहतर बनाने से नहीं बल्कि उससे निजात पाने से, लोगों को ढालने के इस भौण्डे व मानवविरोधी कारोबार को समाप्त करने से है तथा लोगों को स्वयं को ढालने की छूट देने से है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी व्यक्ति अन्य लोगों के विचारों व एहसासों पर असर न डाले या असर डालने की कोशिश न करे। हम जिन लोगों के साथ काम करते और जीते हैं, उनको छूते और बदलते ही हैं (और वे भी हमें बदलते हैं)। प्रकृति से ही हम बातूनी व सामाजिक प्राणी हैं तथा स्वाभाविक रूप से हम यथार्थ का अपना नज़रिया अन्य लोगों के साथ साझा करते हैं। बतौर एक लेखक व व्याख्याता अपने काम के दौरान

तथा अपने दोस्तों के बीच मैं यह करता ही रहता हूँ। मगर मैं उन लोगों को ऐसी स्थिति में रखने से इन्कार करता हूँ जहाँ उन्हें लगे कि उनके पास मेरी बातों से सहमत होने या सहमत दिखने के अलावा कोई चारा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि उन्हें यह अधिकार हो कि वे मेरे सारे या किसी भी विचार को पूरी तरह अस्वीकार कर दें; ठीक उसी तरह जैसे मुझे उनके विचारों को खारिज करने का अधिकार होना चाहिए। मैंने यह भी सीखा है कि कोई व्यक्ति मेरे या अन्य किसी व्यक्ति के विचारों पर तब तक सचमुच हँ नहीं कह सकता जब तक कि उसे ना कहने की छूट न हो। इसीलिए, एकाध बार के अपवादों को छोड़, अब मैं अपना शिक्षण कार्य प्रतिस्पर्धात्मक व अनिवार्य स्कूलों में नहीं करता।

मेरे कहने का आशय यह भी नहीं है कि किसी को यह अधिकार ही नहीं होना चाहिए कि वह किसी अन्य व्यक्ति से यह प्रदर्शित करने को कह सके कि वह क्या जानता है या कर सकता है। ज़ाहिर है, यदि कोई व्यक्ति हवाई जहाज़ उड़ाना चाहे या ऐसा ही कोई अन्य काम करना चाहे जिसका सीधा असर अन्य लोगों की जान या सेहत पर पड़ने की आशंका हो, तो समाज को अपने किसी एजेंट के ज़रिए यह माँग करने का अधिकार है कि वह व्यक्ति प्रदर्शित करे कि वह उस काम को कर सकता है। दरअसल, कई बार सेहत और सुरक्षा का मसला न होने पर भी किसी व्यक्ति से उसकी योग्यता का प्रदर्शन करने को कहा जा सकता है। जैसे यदि वह किसी ऑर्केस्ट्रा में शामिल होना चाहता है, कोरस में गाना चाहता है, किसी नाटक में ऐक्टिंग करना चाहता है या लोगों के साथ किसी भी काम में, चाहे पैसे के लिए, आनन्द के लिए या किसी भी और कारण से, जुड़ना चाहता है, तो उन लोगों को यह माँग करने का अधिकार है कि वह दिखाए कि वह उस काम को इतनी अच्छी तरह कर सकता है कि उन्हें मदद मिलेगी, बाधा उत्पन्न नहीं होगी। किन्तु इस तरह की माँग समय व स्थान के अनुसार होगी। यह उस तरह की माँग कदापि नहीं है कि किसी व्यक्ति को कहा जाए कि दुनिया में जीने तक के लिए उसे प्रदर्शित करना होगा कि उसे फलौं या ढिक्काँ चीज़ आती है।

“करने” से मेरा मतलब सिर्फ़ उन चीज़ों से नहीं है जो शरीर से, माँसपेशियों से, हाथों या औज़ारों से की जाती हैं, बल्कि उन चीज़ों से भी है जो अकेले दिमाग से की जाती हैं। मैं तथाकथित “शारीरिक” और “मानसिक” को अलग-अलग करने या एक-दूसरे के विरुद्ध रखने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। ऐसे अन्तर अवास्तविक और हानिकारक हैं। मन और शरीर का

विभाजन सिर्फ शब्दों में ही सम्भव है। हकीकत में वे एक हैं, एक साथ काम करते हैं। अतः “करने” के अन्तर्गत मैं बोलने, सुनने, लिखने, पढ़ने, सोचने, और यहाँ तक कि सपने देखने को भी शामिल करता हूँ।

मुद्दा यह है कि करने वाले ने तय किया है कि वह कहेगा, सुनेगा, पढ़ेगा, सोचेगा, या सपने देखेगा। वही अपनी क्रियाओं के केन्द्र में है। वही उनकी योजना बनाता है, उनका निर्देशन करता है, उन्हें नियंत्रित करता है, और उनका मूल्यांकन करता है। वह उन क्रियाओं को अपने मकसद से करता है – सम्भव है कि यह अन्य लोगों के साथ मिलकर तय किया गया साझा मकसद हो। उसकी क्रियाएँ बाहर से आदेशित या नियंत्रित नहीं हैं। वे उसकी हैं, उसका हिस्सा हैं।

करने वालों के लिए सर्वोत्तम तथा एकमात्र सचमुच अच्छा स्थान वह समाज होगा जो फिलहाल अस्तित्व में नहीं है। उस समाज में हर उम्र, लिंग, नस्ल वगैरह के सारे लोगों के पास करने को काम होगा जो अलग-अलग व रोचक होगा, जो उनके हुनर व बुद्धि को चुनौती व तुष्टि प्रदान करेगा। जिसे वे अच्छी तरह कर सकेंगे और अच्छी तरह करके गर्व महसूस करेंगे। जिस पर उनका कुछ हद तक नियंत्रण होगा। और जिसके लक्ष्यों व उद्देश्यों को वे समझ सकेंगे और उनका आदर कर सकेंगे। आज बहुत ही कम लोग – मात्र कुछ कलाकार, कारीगर, कुशल शिल्पी, विशेषज्ञ, पेशेवर और कुछ अन्य लोग ही – अपने काम के बारे में ऐसा महसूस कर पाते हैं। उस समाज में सारे लोग महसूस करेंगे – जैसा कि आज कुछ लोग ही करते हैं – कि वे जो भी सोचते हैं, चाहते हैं, कहते हैं, या करते हैं, उससे उनके जीवन या आसपास के लोगों के जीवन में सचमुच कोई अन्तर पड़ता है। उनके काम की तरह उनकी राजनीति भी सार्थक होगी। उनके द्वारा चुने गए पदाधिकारी छुटभैये राजा या सम्राट नहीं बल्कि लोक सेवक होंगे। वे जिस समाज में रहते हैं उसके द्वारा ढाले या नियंत्रित किए जाने की बजाय वे उस समाज को ढालेंगे और नियंत्रित करेंगे। ऐसे समाज में किसी को भी “शिक्षा” की चिन्ता नहीं होगी। लोग ऐसी दिलचस्प चीज़ें करने में व्यस्त रहेंगे जिनका महत्व है और वे इन चीज़ों को करने में ज़्यादा दक्ष, जानकार और समझदार होते जाएँगे। वे इस दुनिया में जीते हुए, इसमें काम करते हुए, इसे बदलते हुए तथा ऐसा ही करने वाले तमाम अन्य विविध लोगों को जानते हुए इस दुनिया के बारे में सीखेंगे। किन्तु इस दुनिया में ऐसा समाज कहीं नहीं है और न ही बनने की प्रक्रिया में है। हमारे

पास आगे बढ़ने के लिए कोई मॉडल भी नहीं है, सिवाय उन समाजों के जो इतने छोटे और आदिम हैं कि शायद ही मददगार हो सकें। हमें स्वयं ही ऐसे समाज का आविष्कार और रचना करनी होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में और जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी भी अन्य देश में ऐसे लोग मुट्ठी भर से ज़्यादा नहीं हैं जो इस बारे में संजीदगी से सोच रहे हों या बातचीत कर रहे हों कि वह समाज कैसा होगा या हम उसे कैसे बना सकते हैं। इसकी बजाय लोग वृद्धि, कार्यक्षमता और प्रगति के बारे में बहस कर रहे हैं। वे ये बातें कर रहे हैं कि कैसे इन लक्ष्यों के लिए इन्सानों का चयन किया जाए और उन्हें ढाला (“शिक्षित” किया) जाए।

यह किताब ऐसे क्रियाशील समाज के बारे में नहीं है और न ही इस बारे में है कि वह समाज कैसा होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह एक ऐसा समाज होगा जिसके औज़ार व संस्थाएँ पैमाने में कहीं छोटे होंगे और ये इन्सानों की सेवा करेंगे, इन्सान इनकी सेवा नहीं करेंगे। वह समाज ऊर्जा व पदार्थों का उपयोग किफायत से करेगा तथा प्रकृति व प्राकृतिक विश्व के प्रति उसका रवैया सम्मान व प्रेम का होगा। यह किताब इस बारे में है कि हम अपने मौजूदा समाज को करने वालों के लिए थोड़ा ज़्यादा उपयोगी व जीने योग्य कैसे बना सकते हैं, कि वे कौन-से संसाधन हैं जो कम से कम कुछ लोगों को एक अधिक क्रियाशील व दिलचस्प जीवन जीने में और शायद एक क्रियाशील समाज की कुछ शुरुआत करने या उसके बहुत छोटे-छोटे मॉडल बनाने में मददगार हो सकते हैं। यह किताब गरीबी, बेकारी, भेदभाव, शोषण, फिज़ूलखर्ची और कष्ट जैसी समस्याओं से निपटने या उनको हल करने के बारे में नहीं है। ये शिक्षा अथवा स्कूल की समस्याएँ नहीं हैं। अनिवार्य स्कूलों में जो कुछ किया जाता है उससे ये समस्याएँ न तो हल हुई हैं, न हो सकती हैं, और न होंगी। इन स्कूलों में परिवर्तन करने से (या इन्हें पूरी तरह खत्म कर देने से भी) ये समस्याएँ हल नहीं होंगी। अधिक से अधिक यही हो सकता है कि हम इस मुगालते से मुक्त हो जाएँ कि स्कूल इन समस्याओं को हल कर सकते हैं। तब शायद हम इनका सामना यथार्थवादी ढंग से और अक्लमन्दी से करने लगेंगे।

इस किताब में मैं मुख्य रूप से उन थोड़े से लोगों, जिनमें पालक, शिक्षक, भावी शिक्षक और स्वयं छात्र भी शामिल हैं, से मुखातिब हूँ जो यह मानते हैं कि यदि (अन्य लोगों की ही तरह) बच्चों को घूस न दी जाए, उनकी लल्लो-चप्पो न की जाए, उन पर दादागिरी न की जाए, उन्हें धमकाया न जाए, ज़लील न किया जाए और चोट न पहुँचाई जाए; यदि उन्हें

लगातार एक-दूसरे के खिलाफ एक ऐसी दौड़ में न हॉका जाए जिसमें कुछ को छोड़कर बाकी सबका हारना तय है; यदि उन्हें लगातार अक्षम, बेवकूफ, अविश्वसनीय, दोषी, भयातुर और शर्मिन्दा महसूस न कराया जाए; यदि उनकी रुचियों, सरोकारों और उत्साह को अनदेखा न किया जाए, उनकी हँसी न उड़ाई जाए; और यदि इसकी बजाय उन्हें एक-दूसरे के साथ काम करने, एक-दूसरे की मदद करने, एक-दूसरे से सीखने तथा उन चीज़ों के बारे में सोचने, बात करने, लिखने, पढ़ने की अनुमति व प्रोत्साहन और (यदि वे चाहें तो) मदद मिले जो उन्हें दिलचस्प लगती हैं, रोमांचित करती हैं, तो वे कहीं बेहतर जीवन जिएँगे, ज़्यादा सीखेंगे और इस दुनिया से जूझने को ज़्यादा तैयार होंगे। संक्षेप में, यदि वे दुनिया को अपने तरीके से खोज पाएँ, और ज़्यादा से ज़्यादा क्षेत्रों में अपने जीवन को दिशा-निर्देश दे पाएँ और उसे नियंत्रित कर पाएँ। एक निहायत दिलचस्प व ज़रूरी नई किताब *दी सेल्फ रिस्पेक्टिंग चाइल्ड* (थेम्स एण्ड हड्सन, लन्दन) में एलिसन स्टैलिब्रास ने बहुत ही बारीकी से वर्णन किया है कि यह खोजबीन कैसे होती है और *बच्चे के जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही शुरू हो जाती है* (परिशिष्ट ब में इस पुस्तक के कुछ उद्धरण देखे जा सकते हैं)। उस उम्र में भी बच्चे को मालूम होता है कि उसे क्या चाहिए और वह क्या जानना चाहता है। *इस बात की कोई ज़रूरत नहीं है कि बच्चों को दुनिया के बारे में सीखने को कहा जाए या बताया जाए कि वे कैसे सीखें। वे सीखना चाहते हैं और जानते हैं कि कैसे सीखें।*

फिलहाल तो इन मुट्ठी भर लोगों के लिए मैं यह सन्देश देना चाहता हूँ: सम्भावना यही है कि कम से कम अगली पीढ़ी तक सार्वभौमिक अनिवार्य शिक्षा और अनिवार्य स्कूल अस्तित्व में रहेंगे। इन सारे स्कूलों को सुधारने में अपनी ऊर्जा मत गँवाइए। इनको नहीं सुधारा जा सकता। यह मुमकिन है कि आप में से कुछ लोग कुछ स्थानों पर स्कूल नामक एक जगह बना पाएँगे जो बच्चों के लिए एक उपयोगी व मानवीय कार्य-स्थल होगा। यदि यह सम्भव हो तो ज़रूर करें। अधिकांश स्थानों पर तो इतना भी सम्भव नहीं होगा। अधिक से अधिक हम शायद इतना कर पाएँगे कि कुछ बच्चों को शिक्षा व स्कूलिंग से बच निकलने में मदद कर पाएँ और जो नहीं बच पाते उनकी मदद कर पाएँ कि उन्हें आज की अपेक्षा कम नुकसान हो। यानी शायद हम ऐसे तरीके खोजने में कुछ बच्चों की मदद कर पाएँ जिससे स्कूल उनकी जिज्ञासा, ऊर्जा, जुगाडु प्रवृत्ति और आत्मविश्वास की हत्या न कर सके, क्योंकि इन्हीं की मदद से वे दुनिया की खोजबीन

करते हैं। शायद हम बच्चों की मदद कर पाएँ कि वे स्कूल के बाहर इन गुणों का पोषण करने के तरीके खोजें, ताकि यदि वे स्कूल में कुछ भी उपयोगी न सीख पाएँ तो भी वे सीखने की उस प्रक्रिया को जारी रख सकें जिसे वे स्कूल में आने से पहले इतनी अच्छी तरह चला रहे थे।

इसके साथ-साथ हम अनिवार्य शिक्षा व स्कूलिंग की वैधता पर आक्रमण कर सकते हैं और हमें ऐसा करना भी चाहिए। सी.आइ.ए. (कुख्यात अमरीकी गुप्तचर एजेंसी) की भाषा में हमें “इसकी नकाब उतार देनी चाहिए”। अर्थात् जैसा कि हम सी.आइ.ए. के साथ कर रहे हैं, उसी तरह से हमें यह भी उजागर करना होगा कि शिक्षा और स्कूलिंग वास्तव में क्या करते हैं। हमें खुलासा करना होगा कि स्कूल और शिक्षाविद् अपना औचित्य सिद्ध करने और अपनी सतत् असफलता की व्याख्या करने के लिए हमें (और अपने आपको) जो किस्से और बहाने बताते हैं, वे असत्य हैं, मिथक हैं, भ्रमजाल हैं, और झूठ हैं। हमें लोगों से कहना चाहिए, “यदि आप अनिवार्य शिक्षा और अनिवार्य स्कूलिंग चाहते हैं तो ठीक है। किन्तु इशतहारों और पैकेज पर छपे लेबल के धोखे में मत आइए! यह जान लीजिए कि आपको मिल क्या रहा है।” शायद एकाध पीढ़ी में अधिकतर लोग वास्तव में समझ जाएँगे और फैसला करेंगे कि उन्हें यह सब और नहीं चाहिए।

पर शायद न समझें। उस स्थिति में यह किताब ऐसे लोगों और ऐसे किसी भी समाज के लिए एक चेतावनी समझी जा सकती है जो मानव स्वतंत्रता और गरिमा को संजीदगी से लेते हैं और उन्हें महत्व देते हैं। जब तक आप कुछ लोगों को यह अधिकार देते हैं कि वे अन्य लोगों को बताएँ कि उन्हें क्या सीखना या जानना चाहिए या वे आधिकारिक व “वस्तुनिष्ठ” ढंग से कहें कि कुछ लोग अन्यो की अपेक्षा अधिक काबिल या सम्माननीय हैं, तब तक मानव स्वतंत्रता तथा हर व्यक्ति के अनूठेपन, गरिमा और मूल्य का एहसास हासिल नहीं किया जा सकता। जो भी व्यक्ति ऐसे फैसले करना चाहे, वह इन्हें निजी तौर पर करे और इस समझ के साथ करे कि ऐसे फैसले निजी व व्यक्तिनिष्ठ ही हो सकते हैं। मगर इन फैसलों को स्थायी व आधिकारिक स्वीकृति न दी जाए, अन्यथा आपके नागरिकों की आज्ञादी और गरिमा जल्द ही काफूर हो जाएगी।

“सीखने” का मिथक

कई लोगों को शायद लगेगा कि पता नहीं क्यों मैं “सीखने” की बजाय “करने” या “चीज़ों को बेहतर ढंग से करने” की बात करता हूँ। इसका एक कारण तो यह है कि “सीखना” शब्द से लगता है (जैसा कि कई लोग मानते भी हैं) गोया सीखना शेष जीवन से अलग कोई चीज़ है, कि हम सीखने का काम तभी करते हैं या तभी अच्छी तरह से करते हैं जब कुछ और न कर रहे हों, और उसी स्थान पर करते हैं जहाँ और कुछ नहीं किया जाता। स्कूल में पढ़ा हर व्यक्ति मानने लगता है कि (1) यदि मुझे कोई भी महत्वपूर्ण बात सीखनी है तो मुझे स्कूल नामक जगह पर जाना पड़ेगा और शिक्षक नामक कोई व्यक्ति ढूँढना पड़ेगा जो मुझे वह बात सिखाएगा; (2) यह प्रक्रिया उबारू और कष्टदायक होगी; तथा (3) मैं शायद सीख नहीं पाऊँगा।

यह विचार काफी नया है कि हर महत्वपूर्ण चीज़ स्कूल में सीखना ज़रूरी है। अभी हाल तक अधिकतर लोग यह बात भलीभाँति समझते थे कि कुछ चीज़ें स्कूल में ही अच्छे से सीखी जा सकती हैं, किन्तु अन्य चीज़ें हैं जिन्हें लगभग उतने अच्छे से या उससे भी बेहतर स्कूल से बाहर सीखा जा सकता है, और कई चीज़ें तो स्कूल में सीखी ही नहीं जा सकतीं। वे लोग शायद इस बात पर हँसते कि सारा ज्ञान और विवेक कक्षाओं और किताबों में रखा या पाया जा सकता है। आज भी जो लोग मानते हैं कि सब कुछ स्कूल में ही सीखा जाना चाहिए, उन्होंने भी खुद सब कुछ स्कूल में नहीं सीखा है।

मैं जो कुछ जानता हूँ, उसमें से अधिकांश मैंने स्कूल में नहीं सीखा है। इतना ही नहीं, यह सब मैंने उन स्थितियों में भी नहीं सीखा है जिन्हें लोग “सीखने की स्थितियाँ” कहते हैं, अर्थात् वे अनुभव जिनसे मैं कोई खास

चीज़ सीखने के मकसद से गुज़रूँ। मैं जो कुछ भी करता हूँ वह “कुछ सीखने के मकसद” से नहीं करता। मैंने संगीत व संगीत रचना के बारे में जो कुछ सीखा है वह रिहर्सल और कार्यक्रमों में जा-जाकर सीखा है। मगर मैं वहाँ संगीत के “बारे में सीखने” नहीं जाता। मैं तो वहाँ इसलिए जाता हूँ क्योंकि वहाँ जो कुछ देखता-सुनता हूँ वह मुझे अच्छा लगता है। अन्य देशों और अपने ही देश के अन्य इलाकों की यात्राओं के दौरान मैंने उन जगहों के बारे में काफी कुछ सीखा है। मगर मैं वहाँ “सीखने” नहीं, लोगों से मिलने-जुलने और कुछ काम करने गया था। पिछले एक-दो वर्षों से मैंने अपने शहर बॉस्टन में अन्य नागरिकों के साथ मिलकर एक खराब व कुटिल तथाकथित नगर विकास योजना को रुकवाने या कम से कम कुछ देर तक टलवाने के लिए काम किया है। इसमें मैंने कानून, राजनीति और नगर की अर्थ व्यवस्था के बारे में और राज्य व नगर की सरकारों के कामकाज के बारे में काफी कुछ सीखा। किन्तु मैं इस काम में यह सब सीखने के लिए नहीं बल्कि अपने नगर को लूट और तबाही से बचाने के लिए जुड़ा था। मैं कई किताबें और पत्रिकाएँ पढ़ता हूँ, किन्तु उनमें जो कुछ है उसे “सीखने” के लिए नहीं। मैं इन्हें पढ़ता हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि ये शायद दिलचस्प, मददगार और रोमांचक होंगी। कभी-कभार मैं कुछ पता करने के लिए भी पढ़ता हूँ, मगर मैं सीखूँगा या नहीं, यानी वह चीज़ मुझे याद रहेगी या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि वह मेरे काम में या जीवन में या जीवन का लुत्फ उठाने में मददगार है या नहीं।

एक बात मैं पहले कह चुका हूँ और उसे यहाँ दोहराना चाहता हूँ: सीखने वाला सर्वोत्तम समुदाय जो मैंने देखा है और जिसका मैं सदस्य रहा हूँ, वह न तो सीखने वाला समुदाय कहलाता था, न ही यह उसका मकसद था। वह द्वितीय विश्व युद्ध की एक पनडुब्बी थी – यू.एस.एस. *बार्बरो*। हम इसमें “सीखने” के लिए नहीं बल्कि युद्ध में मदद देने के लिए थे। उस समय के लाखों लोगों की तरह हम भी “सीखने” के बारे में नहीं सोचते-बतियाते थे। इस कठिन काम को साथ-साथ करते हुए हमने काफी कुछ सीखा और अपने अनुभव व हुनर अधिक से अधिक लोगों के साथ साझा किए। एक सचमुच स्वस्थ व जीवन्त समाज में सारे लोग ऐसा ही महसूस करेंगे। कोई नहीं चाहता कि बाकी लोग अज्ञानी, हुनरहीन या बेवकूफ बने रहें ताकि वह उन्हें आसानी से छल सके या उन पर नियंत्रण कर सके या उनकी कीमत पर खुद धनवान बन जाए। एल्डस हक्सले द्वारा लिखित *ब्रेव न्यू वर्ल्ड* में एक पात्र वर्ल्ड कंट्रोलर मुस्ताफा मोण्ड कहता है कि एक

प्रयोग के बतौर ऐसा एक समाज गठित किया गया था जिसमें सब अल्फा ही अल्फा (यानी अक्लमन्द) थे, मगर यह चला नहीं और कभी चल नहीं सकता था। हक्सले गलत थे। हमारी पनडुब्बी ऐसा ही एक समाज था (और भी कई हैं), और वह किसी अन्य तरीके से चल ही नहीं सकता था। त्रासदी यह है कि कई लोगों को सिर्फ युद्ध के समय ही ऐसे समाज में रहने का मौका मिलता है।

“सीखने के अनुभव” की बात के साथ दिक्कत यह है कि इससे लगता है कि अनुभव दो प्रकार के होते हैं – एक वे जिनसे हम कुछ सीखते हैं, और दूसरे वे जिनसे हम कुछ नहीं सीखते। किन्तु ऐसा तो कोई अनुभव नहीं होता जिससे हम कुछ न सीखें। हम जो भी करें, या जो भी हमारे साथ हो या हमारे साथ किया जाए, उससे हम कुछ न कुछ तो सीखते ही हैं। यह हो सकता है कि जो कुछ हम सीखें वह हमें अधिक जानकार या अज्ञानी बना दे, अधिक समझदार या अधिक नासमझ बना दे, ज़्यादा सशक्त या कमज़ोर बना दे, मगर हम कुछ न कुछ सीखते ज़रूर हैं। क्या सीखा, यह उस अनुभव तथा उससे भी ज़्यादा इस बात पर निर्भर होता है कि उस अनुभव के बारे में हम कैसा महसूस करते हैं। इस किताब का एक प्रमुख बिन्दु यह है कि ऐसे अनुभवों से सीखने की सम्भावना बहुत कम होती है जो हमें हमारे शेष जीवन की महत्वपूर्ण व दिलचस्प चीज़ों से गहरे में जुड़े हुए न लगे। जिज्ञासा कभी निटल्ली नहीं होती; यह वास्तविक सरोकारों और वास्तविक ज़रूरतों में से पैदा होती है। इससे भी ज़रूरी बात यह है कि हम जबरन अनुभवों से या ऐसी चीज़ों से कुछ अच्छा नहीं सीख सकते जिन्हें किसी दूसरे ने प्रलोभन देकर, धमकाकर, दादागिरी करके, लल्लो-चप्पो करके या छलपूर्वक हमसे करवाया हो। ऐसे अनुभवों से अक्सर हम गुस्सा, आक्रोश, और उससे भी ज़्यादा खुद के प्रति नफरत सीखते हैं, यह सोचकर कि हमने अपने आपको दूसरे के द्वारा धकियाए जाने और इस्तेमाल किए जाने की इजाज़त दी, कि हम चतुर या सशक्त बनकर प्रतिरोध और इन्कार न कर सके। कुछ लोग दलील देंगे कि अधिकांश लोग रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कई सारे नीरस, बारम्बार दोहराए जाने वाले निरर्थक काम करते हैं, जैसे भीड़-भाड़ में घण्टों कार चलाना, टेलीविज़न देखना आदि, जिनसे वे कुछ नहीं सीखते। किन्तु सच्चाई यह है कि वे कुछ न कुछ सीखते ज़रूर हैं। मूर्खतापूर्ण काम करने वाले लोग उस काम से और उस काम को करने की अपनी मजबूरी से नफरत करना सीखते हैं और धीरे-धीरे उन सारे लोगों से नफरत करना सीखते हैं जिन्हें

यह काम नहीं करना पड़ता। भीड़-भाड़ में कार चलाने वाले लोग अन्य कार चालकों, पैदल लोगों को एक बाधा, एक उत्पात, और यहाँ तक कि शत्रु के रूप में देखना सीखते हैं जो उन्हें अपनी मंज़िल तक नहीं पहुँचने दे रहे हैं। इसी प्रकार से टेलीविज़न देखने वाले बार-बार यह सीखते हैं कि पर्दे पर दिखने वाले “वास्तविक” या काल्पनिक लोग हर मायने में उनसे बेहतर हैं – अधिक युवा, अधिक खूबसूरत, अधिक चतुर, अधिक शक्तिशाली, अधिक तेज़, अधिक बहादुर, अधिक सम्पन्न, अधिक प्रसन्न और सम्मानित। अन्ततः जब कल्पनालोक से यथार्थ में लौटने, थके-थके उठकर टीवी बन्द करने का वक्त आता है तो उनके दिमाग में यही विचार होता है, “काश, मैं उनके जैसा होता।”

कोई अनुभव हमें किस तरह बदलेगा, यानी हम उससे क्या सीखेंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उस अनुभव की गुणवत्ता क्या है, उससे हमें कितना सन्तोष, आनन्द और रोमांच मिला या नहीं मिला। इसीलिए, जैसा कि मैंने बच्चे असफल कैसे होते हैं में लिखा था, यदि कोई बच्चा ऐसी स्थिति में है जो उसे अपमानजनक, डरावनी और कष्टदायक लगती है तो वह उस चीज़ को नहीं सीख सकता और नहीं सीखेगा जो शिक्षक उसे सिखाने की कोशिश कर रहा है, और यदि सीख गया तो एकाध दिन में भूल जाएगा। इसीलिए जिम हर्नडन की गूंगी कक्षा (देखें हाउ टु सर्वाइव इन योर नेटिव लैण्ड) के बच्चे कक्षा में वे चीज़ें भी नहीं सीख पाते थे जो वे स्कूल से बाहर इतनी अच्छी तरह से कर लेते थे। इसीलिए लोग तभी सीख सकते हैं जब वे दृढ़ता, आत्मविश्वास और आतुरता से आगे बढ़ें।

करना ही सीखना है

“सीखना” शब्द में एक और आम गलतफहमी यह छिपी है कि सीखना और करना दो अलग-अलग क्रियाएँ हैं। जैसे मुझे चेलो बजाते बहुत साल नहीं हुए हैं। मुझे यह वाद्य बहुत अच्छा लगता है, मैं इसे घण्टों बजाता रहता हूँ, कड़ी मेहनत करता हूँ, और मुझे उम्मीद है कि एक दिन इसे अच्छे से बजा सकूँगा। ज़्यादातर लोग कहेंगे कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे “चेलो बजाना सीखना” कहते हैं। हमारी भाषा में इसके लिए कोई और लफ़्ज़ ही नहीं हैं। किन्तु ये शब्द हमारे दिमाग में इस विचित्र विचार को जन्म देते हैं कि निम्नलिखित दो प्रक्रियाएँ सर्वथा अलग-अलग हैं: (1) चेलो को बजाना सीखना; और (2) चेलो को बजाना। इसका आशय यह है कि पहले

मैं प्रथम प्रक्रिया करूँगा और उसे पूरा कर लूँगा; फिर मैं प्रथम प्रक्रिया को रोककर दूसरी प्रक्रिया शुरू करूँगा। दूसरे शब्दों में, मैं “बजाना सीख जाने तक” “बजाना सीखता रहूँगा”। इसके बाद मैं “बजाना” शुरू कर दूँगा।

ज़ाहिर है कि यह बकवास है। ये दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ नहीं, एक ही प्रक्रिया है। हम किसी चीज़ को करके ही उसे करना सीखते हैं। और कोई तरीका ही नहीं है। जब हम पहली बार कोई काम करेंगे तो शायद अच्छी तरह नहीं करेंगे। मगर यदि हम इसे करते रहें, हमारे सामने अनुकरण हेतु अच्छे मॉडल हों, और जब हमें *ज़रूरत महसूस हो* तब मददगार सलाह मिल जाए, और हर बार हम उस काम को भरसक अच्छे से अच्छा करें, तो हम इसे बेहतर करने लगेंगे। समय के साथ हम इसे बहुत अच्छे से करने लगेंगे। यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। बढ़िया से बढ़िया संगीतज्ञों, नर्तकों, एथलीटों, शल्य चिकित्सकों, विमान चालकों वगैरह सबको लगातार अपनी कला या हुनर की रियाज़ करते रहना पड़ता है। संगीतज्ञ को रोज़ाना सुर साधने पड़ते हैं, नर्तक को अभ्यास करना पड़ता है। मैं एक शल्य चिकित्सक को जानता हूँ जो कोई काम न होने पर बगैर देखे एक हाथ से सर्जिकल गाँठ बाँधते रहते हैं ताकि अभ्यास बना रहे। इस मायने में लोग उन चीज़ों को “सीखना” बन्द नहीं करते जिन्हें वे करना जानते हैं, चाहे वे उन्हें कितनी ही अच्छी तरह कर लेते हों। उन्हें हर रोज़ इसे अच्छे से अच्छा करना “सीखना” पड़ता है, अन्यथा वे इसे थोड़ी कम अच्छी तरह कर पाएँगे। कूसेविट्स्की के नेतृत्व में बॉस्टन सिम्फनी के मुख्य बाँसुरी वादक कहा करते थे: “यदि मैं एक दिन रियाज़ चूक जाऊँ तो खुद इस अन्तर को सुन सकता हूँ; यदि दो दिन की रियाज़ चूक जाऊँ तो कण्डक्टर को अन्तर सुनाई पड़ता है; यदि तीन दिन तक रियाज़ चूक जाऊँ तो श्रोता भी इस अन्तर को सुन लेते हैं।”

शिशु “तैयारी” नहीं कर रहा है

शिक्षाविद् हर समय “हुनर” की बातें करते हैं: पढ़ने का हुनर, लिखने का हुनर, सम्प्रेषण का हुनर, यहाँ तक कि सुनने का हुनर। शब्दों के स्तर पर तो यह कहना शायद सही हो सकता है कि किसी मुश्किल काम को अच्छी तरह करते समय व्यक्ति कई सारे हुनरों का इस्तेमाल करता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कोई मुश्किल काम सिखाने का सर्वोत्तम

तरीका यह होगा कि उस काम को अधिक से अधिक अलग-अलग हुनरों में बाँट दिया जाए और फिर एक-एक करके ये हुनर सिखाए जाएँ। जैसा कि बरसों पहले व्हाइटहेड ने कहा था, हम किसी काम में शामिल हुनर को उस काम से अलग नहीं कर सकते। कोई बच्चा पहले वाणी के हुनर सीखकर, फिर उनका उपयोग करके बोलना नहीं सीखता; कोई बच्चा चलना सीखने से पहले चलने के हुनर नहीं सीखता। वह तो बोलकर बोलना और चलकर चलना सीखता है। जब वह पहले-पहले लड़खड़ाते कदम उठाता है, तो यह *अभ्यास* नहीं होता। वह तैयारी नहीं कर रहा है। वह चलना सीख नहीं रहा है कि बाद में चलकर कहीं जाएगा। वह तो चल रहा है क्योंकि वह चलना चाहता है, *इसी वक्त*। उसने इसके बारे में सोच लिया है, अपने दिमाग में पूरा खाका जमा लिया है, उसने प्रतीति कर ली है कि उसे पता है कि इसे कैसे किया जाता है, और वह इसे कर सकता है। और अब वह यही करने जा रहा है।

हम हुनर और कार्य को अलग-अलग नहीं कर सकते, और जब हम ऐसी कोशिश करते हैं तो अनर्थ करते हैं। बोलना कोई हुनर या हुनर-समूह नहीं, बल्कि एक कार्य है। इस कार्य के पीछे एक मकसद है। हम चाहे दो वर्ष के हों या बाईस के, हम बोलते हैं क्योंकि हम कुछ कहना चाहते हैं, और किसी से कहना चाहते हैं, और क्योंकि हमें लगता है या हम उम्मीद करते हैं कि हमारे शब्दों का कुछ असर होगा। बोलना शुरू कर रहे बच्चे द्वारा पैदा की गई आवाज़ों को हम शब्द के रूप में नहीं सुन पाते और शायद वह शब्दों को समझता भी नहीं है। मगर वह अपने पैसे अवलोकन से यह सीख चुका है कि बड़े लोग मुँह से जो आवाज़ें निकालते हैं उनका असर उनकी शेष क्रियाओं पर होता है। *उनकी आवाज़ों से चीज़ें घटित होती हैं।* उसे शायद ठीक-ठीक पता नहीं कि क्या घटित होता है और कैसे। मगर वह बड़े लोगों के बोलते समूह का सदस्य होना चाहता है, *अपनी* आवाज़ से क्रियाएँ करवाना चाहता है।

इसी प्रकार से, चलना भी एक हुनर नहीं काम है, जिसका एक उद्देश्य है। बच्चा उसी तरह चलना चाहता है जैसे वह बड़े लोगों को चलते देखता है और उन्हीं की तरह तेज़-तेज़ तथा कुशलता से चलना चाहता है। पढ़ना भी कोई हुनर नहीं, काम है। बच्चा अपने चारों ओर लिखित शब्द देखता है; वह देखता है कि बड़े लोग इन शब्दों को देखते हैं, उनका उपयोग करते हैं और उनसे अर्थ हासिल करते हैं। ये शब्द काम करवाने की सामर्थ्य

रखते हैं। एक दिन (यदि हम उसे मौका दें तो) वह फैसला करता है कि वह जानना चाहता है कि ये शब्द क्या करते हैं, इनका अर्थ क्या है, और कि वह पता कर सकता है और करके रहेगा। इस फैसले के साथ उसी क्षण वह पढ़ना शुरू कर देता है। ज़ाहिर है शुरुआत में वह अच्छी तरह नहीं पढ़ पाता। हो सकता है कि वह एक लफ़्ज़ भी न पढ़ पाए। मगर यदि उसे छूट मिले (जो बहुत कम बच्चों को मिलती है) कि वह यही करना जारी रख सके, कि वह अपने तरीके से और अपने कारणों से लिखित शब्दों का अर्थ खोज सके, और इसमें उसे उसके द्वारा चाही गई मदद मिले; यदि यह काम जो उसने खुद के लिए निर्धारित किया उससे छीनकर उसकी जगह उसे किसी अन्य द्वारा ईजाद किए गए और उनके हुक्म से किए जाने वाले तमाम विखण्डित व अर्थहीन काम न दे दिए जाएँ; यदि वह (अधिकांश अन्य बच्चों की तरह) वयस्कों की इस बात से आश्वस्त न हो जाए कि वह इस काम को नहीं कर सकता, लिखित शब्दों से अर्थ का अन्दाज़ नहीं लगा सकता, और उसके लिए ज़रूरी है कि वह किसी शिक्षक से “पढ़ना” प्राप्त करे जैसे कोई मरीज़ डॉक्टर से इंजेक्शन प्राप्त करता है; यदि वह खुशकिस्मत हुआ और इन सारी बुरी बातों से बच निकला तो वह जल्दी ही, शायद कुछेक महीनों में ही अच्छी तरह पढ़ने लगेगा।

हाल में मैंने शिक्षा की अलग-अलग विचारधाराओं में पढ़ने व पढ़ने सम्बन्धी शिक्षण पर शोध करने वालों को एक पत्र लिखा था। मैंने उनसे यह पूछा था कि क्या वे ऐसे किसी शोध के बारे में जानते हैं जो यह जानने के लिए हुआ हो कि कितने बच्चों ने स्वयं पढ़ना सीखा और कैसे। मात्र एक व्यक्ति ने जवाब देकर बताया कि उसने ऐसे किसी शोध के बारे में कभी नहीं सुना। इसके बाद मैंने सैकड़ों शिक्षाविदों से यह बात पूछी है और किसी ने भी ऐसे शोध के बारे में नहीं सुना था। पहली नज़र में तो यह बात अजीब सी लगती है कि पढ़ने के विशेषज्ञों ने यह सवाल पूछा ही नहीं है, जबकि मेरे विचार में तो यह सवाल सबसे पहले पूछा जाना चाहिए। किन्तु देखा जाए तो यह बात इतनी अजीब नहीं है; इस सवाल का जवाब खतरनाक हो सकता है। इससे शायद एक बार फिर उजागर हो कि त्वरित, कार्यक्षम, दूरगामी, उपयोगी और स्थायी सीखना ऐसी चीज़ें करके होता है जो खुद हमने तय की हों और ऐसी चीज़ें करते वक्त हमें मदद की दरकार बिल्कुल नहीं या बहुत ही कम होती है।

ज्ञान क्रिया है

इसके आगे, यह भी समझ लेना बेहतर होगा कि जिन चीज़ों को हम गलती से “ज्ञान का भण्डार”, “सीखने के क्षेत्र”, “अकादमिक विषय” या “स्कूली विषय” के रूप में देखते हैं वे संज्ञाएँ नहीं बल्कि क्रियाएँ हैं। ये ऐसी चीज़ें नहीं हैं जो कहीं स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में हैं बल्कि ये वे चीज़ें हैं जिन्हें लोग करते हैं। कोई नहीं कह सकता कि “देखो यह जीव विज्ञान है, यह गणित है, या यह दर्शन शास्त्र है।” कोई भी भौतिक शास्त्र की ओर इशारा नहीं कर सकता; या हमें रसायन शास्त्र दिखा नहीं सकता। यथार्थ में इतिहास को भूगोल से, या भौतिकी को रसायन से, या दर्शन शास्त्र को भाषा विज्ञान से अलग करने वाली कोई लकीर नहीं है। ये तो यथार्थ और मानव अनुभवों की सम्पूर्णता के अलग-अलग हिस्सों को देखने व उनके बारे में अलग-अलग किस्म के सवाल पूछने के तरीके भर हैं। इतिहास अतीत के कुछ पक्षों के बारे में सवाल पूछने का काम है। इसी प्रकार से भूविज्ञान और पुराजीव विज्ञान हैं, मगर वहाँ सवाल अलग हैं। भौतिकी और रसायन अपने आसपास की निर्जीव दुनिया के बारे में सवाल पूछने के अलग-अलग ढंग हैं। किन्तु ये सब स्वाभाविक रूप से सामूहिक कार्य हैं। इन्हें हम अन्य लोगों के साथ मिलकर करते हैं और कई लोग इन्हें बरसों से करते आए हैं। अर्थात् इन सारे इन्सानी क्रियाकलापों का एक इतिहास है। गणित या भौतिकी या दर्शन शास्त्र का कम से कम कुछ हिस्सा तो इस बात से सम्बन्धित होता ही है कि अन्य गणितज्ञों, भौतिक शास्त्रियों, दर्शन शास्त्रियों ने क्या-क्या किया है। किन्तु इन चीज़ों का हमारा “ज्ञान” इस बात का रिकॉर्ड है कि इन लोगों ने क्या किया; कि उन्होंने क्या सवाल पूछे, जवाब पाने के लिए वे किस तरह आगे बढ़े, उन्हें क्या जवाब मिले और इन जवाबों से उन्होंने क्या निष्कर्ष निकाले। इन क्षेत्रों में हम जो भी करते हैं, वह हमसे पहले अन्य लोगों द्वारा किए गए काम से जुड़ जाता है, उसका हिस्सा बन जाता है। जैसा कि इवान इलिच कहते हैं, “इस दुनिया में कोई ज्ञान नहीं है, दुनिया तो जैसी है वैसी है।” ज्ञान ज़िन्दा लोगों के दिमागों में एक प्रक्रिया है। हम कौन हैं और कहाँ हैं और हमारे आसपास क्या चल रहा है, इसे जानने की कोशिश में हम जो कुछ करते हैं वही ज्ञान है।

करने वाले बनाम पढ़ाने वाले स्कूल

जिन स्थानों को हम 'स्कूल' कहते हैं उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो करने के स्थान होते हैं – टाइपिंग स्कूल, ड्राइविंग स्कूल, स्की स्कूल, खाना बनाना सीखने के स्कूल, नृत्य शाला, कराटे स्कूल वगैरह। करनेवालों के लिए कई संसाधनों, जैसे पुस्तकालय, संग्रहालय या थिएटर को स्कूल कहा ही नहीं जाता। अध्यापकों की बजाय करने वालों के लिए संसाधनों का एक अच्छा उदाहरण बर्लिट्ज़ भाषा स्कूल हैं। ये स्कूल कानून बनाकर हमें मजबूर नहीं करते कि हमें एक और भाषा सीखनी ही पड़ेगी। वे यह भी नहीं कहते कि एक और भाषा सीख लेने पर हमें बढ़िया नौकरी मिल जाएगी या हम सफल व सम्पन्न हो जाएँगे, और न ही यह कहते हैं कि न सीखने पर हम असफल और गरीब हो जाएँगे। वे इस तरह का कोई वायदा नहीं करते या धमकी नहीं देते। वे सिर्फ इतना ही कहते हैं कि यदि हम एक और भाषा बोल सकें तो हम जीवन का ज़्यादा लुत्फ उठा सकेंगे।

कैम्ब्रिज में हार्वर्ड स्वचैयर सबवे स्टेशन में एकेडेमिया नामक एक भाषा स्कूल का पोस्टर लगा है। इसमें आपस में बतियाते हुए एक आदमी और एक औरत का चित्र है। पोस्टर का शीर्षक है : “जो भी कहें, फ्रेंच में ज़्यादा मधुर लगता है।” इसके बाद यह संवाद है: औरत: “Cheri, veux-tu sortir les poubelles?” आदमी: “Oui, mon amour.” इसका तर्जुमा इस प्रकार होगा : औरत: “प्रिय, कचरा फेंकना न भूलना।” आदमी: “ओ हाँ, ज़रूर।”

करने वालों के लिए सारे स्कूल इतनी हल्की-फुल्की अपील नहीं करते। मसलन, एक सबवे में एक तकनीकी स्कूल का इशतहार इन शब्दों से शुरू होता है: “वह शिक्षा क्या जिससे आपको मुनाफा न हो।” हो सकता है कि भाषा स्कूल ऐसे लोगों को आमंत्रित करते हैं जो विदेश यात्राएँ करने की सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए उन्हें ऐसे लम्बे-चौड़े वायदे नहीं करने पड़ते। वे

तो इतना भी नहीं कहते कि एक और भाषा बोलने के लिए हमें उनके स्कूल में या किसी भी स्कूल में जाना ज़रूरी है। वे तो इतना ही कहते हैं कि शायद हम अपने ही कारणों से एक और भाषा बोलना चाहेंगे। उनके पास ऐसे संसाधन हैं जिनसे हमें मदद मिल सकती है, जैसे उस भाषा को बोलने वाले लोग, कैसेट, रिकॉर्ड, अन्य सीखने वाले। हम चाहें तो इनका इस्तेमाल कर सकते हैं (आम तौर पर कुछ शुल्क देकर)।

बर्लिट्ज़ व अन्य स्कूल कोई प्रवेश परीक्षा करके यह नहीं जाँचते कि क्या हम प्रवेश योग्य हैं, क्या हम “बर्लिट्ज़ का माद्दा” रखते हैं या “बर्लिट्ज़ अनुभव पर खरे उतरते हैं”। न ही वे यह कहते हैं कि उनके स्कूल सर्वोत्तम हैं क्योंकि उनमें दाखिला पाना सबसे मुश्किल है। स्कूल में प्रवेश के बाद हम अपनी मनचाही भाषा का ही अध्ययन करते हैं। हमें मजबूर नहीं किया जाता कि फ्रेंच के साथ जर्मन भी पढ़नी होगी। हम तभी तक वहाँ रुकते हैं जब तक हमारा जी चाहे। जब हमें लगता है कि बहुत हो गया तो हम छोड़कर निकल जाते हैं। अन्त में वे यह जाँचने के लिए कोई परीक्षा नहीं लेते कि हमने कितना सीखा और न कोई डिप्लोमा या नौकरी पाने के लिए कोई प्रमाण पत्र देते हैं। वे अन्य लोगों को दिखाने के लिए हमारा या हमारे काम का कोई रिकॉर्ड नहीं रखते। वे हमारे ऊपर कोई लेबल चस्पाँ नहीं करते कि हम अच्छे छात्र थे या बुरे, न ही वे हमारे बारे में कोई सार्वजनिक निर्णय देते हैं।

इसके विपरीत स्कूल कही जाने वाली ज़्यादातर जगहें पढ़ाने वाले स्कूल हैं। इनमें वे सारे प्राथमिक, माध्यमिक व अन्य स्कूल शामिल हैं जिनमें लोगों को कानूनन जाना पड़ता है। इनमें लगभग सारे जूनियर कॉलेज, विश्वविद्यालय तथा ग्रेजुएट व व्यावसायिक स्कूल भी शामिल हैं जो प्रमाण-पत्र देते हैं। अधिकांश लोगों को समाज में जीने व काम करने के लिए इन प्रमाण-पत्रों की ज़रूरत होती है और इन्हें प्राप्त करने का कोई और तरीका नहीं है।

करने वालों के स्कूल, जो लोगों को अपने तरीके से दुनिया की खोजबीन करने में मदद देते हैं, उन्हें आगे में “छोटा ‘एस’ स्कूल” यानी s-schools कहेंगे। दूसरी ओर अध्यापन स्कूल हैं जो छात्रों को जेल या बेकारी या गरीबी का डर दिखाकर बाँधे रखते हैं। इन्हें अब मैं “बड़ा ‘एस’ स्कूल” यानी S-schools कहेंगे। इन S-schools को बेहतर बनाने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं किया जा सकता और ये निश्चित तौर पर बदतर होते जाएँगे।

चूहे रहें, ना रहें

s-schools और S-schools के बीच जो अन्तर है उसका शिक्षण विधि, शिक्षा के दर्शनों, पढ़ाने के तरीकों, पाठ्यक्रम, सामग्री वगैरह से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो सही है कि किसी कक्षा में स्वतंत्रता, हलचल, सक्रियता, आज्ञादी, सहयोग, बातचीत, विविधता, ऊर्जा, रोमांच और आनन्द जितने अधिक होंगे और ईर्ष्याजनक तुलनाएँ, परीक्षाएँ, ग्रेडिंग, सहेजना और क्रम में जमाना, अपमान, दबाव, धमकियाँ, दण्ड और डर जितने कम होंगे, उतनी वह कक्षा बच्चों के लिए – और शिक्षकों के लिए भी – बेहतर होगी। किन्तु कोई स्कूल कितना अच्छा है या वहाँ चूहे (या अन्य जीव-जन्तु) हैं या नहीं, इससे यह तय नहीं होगा कि वह s-school है या S-school।

मैं ए.एस. नील का प्रशंसक हूँ और मुझे उनसे स्नेह है। मैं उनके द्वारा स्थापित समरहिल स्कूल का समर्थक हूँ, मगर वह है तो S-school ही। इसका कारण यह है कि जो बच्चे वहाँ थे, उनके सामने दो ही विकल्प थे – या तो वे समरहिल जाएँ या किसी अन्य S-school में (जो यकीनन बदतर होगा)। उनके सामने यह विकल्प नहीं था कि वे किसी भी स्कूल में न जाएँ। जब 1965 में मैं पहली बार समरहिल आया था तब एक दिन लम्बी बातचीत के अन्त में नील ने अपने पाइप के कश खींचते हुए कहा था, “पता है, बच्चे जो चाहें कर पाएँ, तो वह उनके लिए स्वर्ग होता है।” यह सच है, और नील के साहस व विवेक की बदौलत वहाँ बच्चे अपना मनचाहा कहीं अधिक, किसी भी अन्य जगह से अधिक, कर पाते थे। किन्तु उस समय लन्दन में कई ऐसी चीज़ें थीं जिनमें बच्चों की रुचि थी, और लन्दन वहाँ से मात्र डेढ़ घण्टे के फासले पर था। फिर भी वे लन्दन नहीं जा सकते थे। न ही वे – नील के कारण नहीं, कानून के कारण – अकेले या अपने मनपसन्द दोस्तों के साथ काम कर सकते थे या घूम-फिर सकते थे या रह सकते थे। और न ही वे इन्सान के रूप में सक्रिय होकर ज़िम्मेदारी से जी सकते थे। समाज उन्हें मात्र इतनी ही छूट देता था कि वे इस स्कूल में जाएँ या किसी अन्य स्कूल में जाएँ। कोई भी स्कूल जो ज़ोर-ज़बर्दस्ती की व्यवस्था का हिस्सा हो, S-school ही है।

जिम हर्नडन की कक्षा (देखें *हाऊ टु सर्वाइव इन योर नेटिव लैण्ड*) में बच्चों को “वे सारी रचनात्मक चीज़ें” करने में मज़ा क्यों आता था? क्योंकि वे नियमित चीज़ों से बेहतर होती थीं। जब उन्होंने अपने एक साथी के साथ मिलकर एक विशेष क्रिएटिव आर्ट्स (रचनात्मक कला) की

कक्षा शुरू की और बच्चों से कहा कि वे जो चाहें कर सकते हैं, तो उम्मीद तो यह थी कि बच्चे पूरे समय रचनात्मक चीज़ों में भिड़े रहेंगे। किन्तु उन्होंने पाया कि बच्चों की इसमें कोई रुचि नहीं थी। पहले वे इसे घटिया विकल्पों में से बेहतर मानकर करते थे। यदि कानून छूट दे दे कि बच्चे अकेले या दोस्तों के साथ काम कर सकते हैं, घूम-फिर सकते हैं या जी सकते हैं, तो क्या समरहिल या वैसे ही किसी स्कूल के बच्चे वहाँ टिकेंगे? लगभग निश्चित है कि नहीं टिकेंगे। जब कानून बच्चों को इस तरह की छूट देगा, तभी समरहिल s-school बन जाएगा। उससे पहले नहीं।

यदि सरकार अपराधियों को अपनी पसन्द का कारागार चुनने की छूट दे दे तो धीरे-धीरे कारागारों में थोड़ा सुधार ज़रूर आ सकता है। मगर वे रहेंगे तो कारागार ही।

नियम हों, न हों

इसके विपरीत कई s-schools निहायत तंग व कठोर ढाँचों में बंधे होते हैं। किसी भी नृत्य शाला या युद्ध कला के स्कूल में छात्रों को अत्यन्त कठोर व गहन अनुशासन में रखा जाता है। जब तक वे कक्षा में हैं, उन्हें कोई छूट नहीं होती। शिक्षक उन्हें बताएगा कि ऐसे चलो। हाथ चलेंगे, पैर चलेंगे, सब एक साथ चलेंगे। मैं जब कहूँ चलो, तो चलना। मैं कहूँ रुको, तो रुकना। स्की स्कूल में शिक्षक कहता है, अब हम दायाँ मोड़ करेंगे, सब मेरे पीछे आओ। नहीं, तुम्हारा कन्धा टेढ़ा है, तुम्हारा घुटना यहाँ है, उसे वहाँ होना चाहिए, फिर से कोशिश करो। 25 वर्ष से ज़्यादा उम्र का मेरा एक दोस्त पहली बार जिम्नास्टिक सीख रहा है। किसी के कहने पर नहीं। और यदि वह जिम्नास्टिक सीख लेगा तो उसे कोई नौकरी या वेतन वृद्धि भी नहीं मिलने वाली। उसका मन है, इसलिए कर रहा है। मगर अनुशासन एकदम कठोर और सटीक है।

एक अन्य उदाहरण भाषा का है। हालाँकि यह उतना शारीरिक मामला नहीं है, मगर भाषा के मामले में भी व्यक्ति को शायद माँसपेशियों का सबसे मुश्किल तालमेल सीखना होता है। कुएरनावाका, मेक्सिको में सी.आई.डी.ओ.सी. नामक एक संस्था है जो अन्य गतिविधियों के अलावा स्पेनिश भाषा का एक स्कूल भी चलाती है। इवान इलिच तथा कई और लोग यहाँ सेमिनार के लिए आते हैं। यह स्कूल बहुत सघन, औपचारिक और सुगठित है और छात्रों से उसकी बहुत सारी अपेक्षाएँ होती हैं। छात्रों

को अमरीकी विदेश सेवा के लिए तैयार की गई एक वृहत् पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल करना पड़ता है। रोज़ाना वे शब्दों और वाक्यों की लम्बी फेहरिस्त याद करते हैं। इसके बाद कक्षा में, जिसमें प्रायः दो छात्र होते हैं, वे एक स्पेनिश भाषी के साथ घण्टों बातचीत करते हैं। इस बातचीत में उन्हें सीखे गए शब्दों और वाक्यों का उपयोग करना पड़ता है और उनका शिक्षक हर गलती को सुधरवाता है। छात्रों के लिए प्रत्येक कक्षा में उपस्थित रहना अनिवार्य है। यदि कोई छात्र एकाध कक्षा चूक जाए तो उसे निदेशक को मनाना पड़ता है कि उसे स्कूल से न निकालें।

S-schools और s-schools के बीच मेरे द्वारा किए गए भेद को जानने वाले कुछ अमरीकी युवा जब सी.आई.डी.ओ.सी. में आते हैं तो वे यह समझ नहीं पाते कि मैं इस स्कूल को s-school क्यों कहता हूँ। कारण सीधे-सादे हैं। यह भाषा स्कूल किसी से नहीं कहता कि उन्हें स्पेनिश सीखनी चाहिए, और न ही वह स्पेनिश सीखने पर इनाम और न सीखने पर दण्ड देता है। वह ऐसे इनाम या डर दिखाने वाले किसी ढाँचे का अंग नहीं है। वह स्कूल यह भी नहीं कहता कि स्पेनिश सिर्फ स्कूल में या सिर्फ उसी स्कूल में सीखी जा सकती है या अन्य स्थानों की अपेक्षा उस स्कूल में बेहतर सीखी जा सकती है। स्पेनिश सीखने या स्पेनिश सीखने में लोगों की मदद करने के सैकड़ों तरीके हैं। आप कूएरनावाका (या किसी अन्य शहर) की सड़कों पर घूमते हुए लोगों से बातें करके स्पेनिश सीख सकते हैं। स्पेनिश (या कोई भी अन्य भाषा) बोलने वाले इसी तरह सीखे हैं। मगर इसमें वक्त लगता है तथा कुछ दिक्कतें होती हैं। वैसे भी शर्मिले लोगों के लिए यह तरीका कठिन है। स्कूल कहता है कि यदि आप उस तरीके से सीखना चाहते हैं तो बढ़िया, कोई बात नहीं। हम तो सिर्फ यह कह रहे हैं कि यदि आप यहाँ आते हैं और हमारे बताए अनुसार करते हैं तो तीन माह बाद आप धाराप्रवाह और सही स्पेनिश बोलने लगेंगे। ऐसा कई बार हुआ है, इसलिए हम आपको एक इकरारनामे की पेशकश करने का हौसला रखते हैं। यदि आप यह इकरारनामा स्वीकार करते हैं तो हम आपके लिए कुछ करने का, कुछ संसाधन उपलब्ध कराने का वायदा करते हैं। अपने तर्क आप भी कुछ करने का वचन देंगे – जैसे कक्षा में नियमित हाज़िरी और प्रत्येक कक्षा में बताई गई तैयारी करना। यह पूरी तरह छात्र पर है कि वह यह सौदा मंज़ूर करे या न करे। किन्तु यदि वह इसे मंज़ूर करता है तो स्कूल उससे इसके पालन की उम्मीद करेगा। कुल मिलाकर कहा यह जा रहा है कि जब तक आप अपना वचन नहीं निभाते, तब तक स्कूल भी

अपना वचन नहीं निभा सकता और निभाने की कोशिश भी नहीं करेगा। ठीक भी है।

t-teachers और T-teachers

जिस तरह से “स्कूल” नामक स्थान करने वाले और शिक्षा देने वाले दोनों तरह के हैं, उसी प्रकार से “शिक्षण” नामक काम करने वाले “शिक्षक” नामक लोग भी दोनों तरफ हैं। करने वाले पाले में वे लोग हैं जो करने वालों को वह करने में मदद दे रहे हैं जो उन्होंने अपनी मर्ज़ी से तय किया है कि वे करना चाहते हैं। शिक्षा के पाले में वे लोग हैं जो दूसरे लोगों को वह सिखाने का प्रयास कर रहे हैं जो किसी और ने तय किया है कि उन्हें सीखना चाहिए। मैं इनमें से पहली क्रिया को “t-teaching” और दूसरी को “T-teaching” कहता हूँ। एक समय था जब ये दोनों मुझे एक समान लगती थीं। इनके बीच जो अन्तर था उससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। मेरे मन में शिक्षक से आशय मात्र ऐसे व्यक्ति से था जो किसी छात्र को कुछ सिखाने की कोशिश कर रहा है। यदि छात्र उत्सुक हुआ तो शिक्षक का काम उतना ही आसान हो जाएगा। आम तौर पर छात्र उदासीन, अनिच्छुक या प्रतिरोधी होता था। मगर दोनों ही स्थितियों में काम तो एक-सा लगता था। अब ये दोनों काम इतने अलग-अलग लगते हैं कि इनका नाम एक नहीं हो सकता। लोग जो करना चाहें, उसमें उनकी मदद करने के काम के लिए एक अलग शब्द होना चाहिए। मगर “शिक्षण” और “शिक्षक” पुराने, सम्मानजनक शब्द हैं, और मैं इन्हें उन लोगों के लिए ज़ाया नहीं करूँगा जो जबरन पढ़ाने वाले स्कूलों में काम करते हैं।

s-schools और S-schools की ही तरह t-teacher और T-teacher के बीच अन्तर स्पष्ट करना आसान नहीं है। कुछ लोगों को लगता है कि t-teacher से मेरा आशय एक भले व सहानुभूतिपूर्ण शिक्षक से है जो बच्चों को आज्ञादी और ढेर सारे विकल्प प्रदान करता हो। किन्तु किसी S-school में पढ़ाने वाला शिक्षक T-teacher ही होगा। हाँ, पाठ्यक्रम से बाहर की कोई पूर्णतः स्वैच्छिक गतिविधि, जिसमें कोई ग्रेड या अंक नहीं दिए जाएँगे, करवाते हुए बात अलग हो सकती है। अर्थात् स्कूल की नाटक मण्डली का नेता, या किसी खेलकूद दल (ऐसा खेल जिसे स्कूली खेल न माना जाता हो) का नेता, या किसी प्रकार की कला या दस्तकारी की गतिविधि या हॉबी या चर्चा समूह का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति शायद t-teacher की

तरह कार्य कर रहा हो। मगर किसी S-school की सबसे खुशनुमा या रोचक कक्षाएँ भी विवशता और दबाव, घूस और धमकी की ही व्यवस्था का अंग हैं और इस तरह की कक्षाओं का नेतृत्व कर रहा व्यक्ति T-teacher ही है, जैसे कि मैं उन 14-15 वर्षों की अवधि में था जब मैं S-schools में पढ़ाता था।

S-schools और s-schools की ही तरह T-teachers और t-teachers के बीच के अन्तर का भी दर्शन, शिक्षण विधियों, व्यक्तित्व आदि से कुछ लेना-देना नहीं है। न ही इस बात से कोई फर्क पड़ता है कि शिक्षक सहज है या कठोर, दयालु है या निर्मम, दिलचस्प है या नीरस, दोस्ताना है या सर्द। इसका सम्बन्ध इस बात से है कि छात्र किस हद तक *तय कर सकते हैं* कि उसके साथ समय बिताएँ या नहीं, जो वह कर रहा है वह करें या नहीं, उसकी मदद लें या नहीं, उसकी बातें सुनें या नहीं, और उसके विचारों को स्वीकार करें या अस्वीकार कर दें। मैं मेज़ वाली कक्षा की अपेक्षा बगैर मेज़ वाली कक्षा ज़्यादा पसन्द करता हूँ। उसी प्रकार से मुझे वे शिक्षक ज़्यादा पसन्द हैं जो दयालु हों, दिलचस्प हों, संवेदनशील हों, चतुर हों, सहानुभूतिपूर्ण हों, और अपने बच्चों से स्नेह करते हों। मगर इन सबके बावजूद भी एक शिक्षक T-teacher हो सकता है, और इन सबके बगैर भी वह t-teacher हो सकता है। यदि वह t-teacher हुआ तो उसके पास बहुत सारे छात्र नहीं होंगे। किन्तु यदि जो समझ और हुनर वह साझा करने का वायदा करता है वे मुश्किल से मिलते हैं, या वह इन्हें साझा करने में निहायत दक्ष है, तो शायद कुछ लोग उसके पास अपनी मर्ज़ी से आएँगे।

सत्ता बनाम सच्चाई

T-teachers और t-teachers के बीच यह अन्तर कई वजह से महत्व रखता है। एक वजह वह है जिसे जॉर्ज डेनिसन ने अपनी पुस्तक *दी लाइक्स ऑफ चिल्ड्रन* में “वास्तविक आदान-प्रदान” कहा है। उन्होंने सही कहा था कि यदि स्कूल बच्चों के लिए यदा-कदा ही मददगार होता है और लगभग हमेशा अत्यन्त हानिकारक होता है तो इसका कारण यह है कि बच्चों का शिक्षकों के साथ वास्तविक आदान-प्रदान होता ही नहीं है। शिक्षक वहाँ स्वयं व्यक्ति नहीं होते, अपितु किसी भूमिका को निभाते पात्र होते हैं। वे उसकी बात नहीं करते जो उनका यथार्थ है, जो वे जानते हैं, जिसमें उनकी रुचि है, जिससे उनको प्रेम है, बल्कि उसकी बात करते हैं जो पाठ्यक्रम,

शिक्षक निर्देशिका, पाठ योजना बताते हैं कि उन्हें कहना चाहिए। “.....के बारे में चर्चा शुरू कीजिए”। वे बच्चों की क्रियाओं और ज़रूरतों पर स्वाभाविक रूप से और ईमानदारी से प्रतिक्रिया नहीं देते, बल्कि वह प्रतिक्रिया देते हैं जो नियम के अनुसार उनसे अपेक्षित होती है। वे सदा स्वयं से पूछते हैं: “यदि मैं ऐसा करूँ या ऐसा कहूँ या छात्रों को ऐसा करने या कहने दूँ तो क्या मैं मुश्किल में फँस जाऊँगा?” और इसके उत्तर के अनुसार आगे बढ़ते हैं। ऐसा नहीं है कि उनके डर बेबुनियाद हैं या ये खतरे काल्पनिक हैं। कदापि नहीं। अखबारों में अक्सर ऐसे शिक्षकों के बारे में खबरें छपती रहती हैं जिनको ऐसी बात कहने के लिए दण्डित किया गया जो समुदाय को पसन्द नहीं थी। सच छिपाने के लिए किसी को दण्डित नहीं किया जाता, मगर सच बताने के लिए कई दण्डित होते हैं।

मैंने एक वर्ष पहली कक्षा के बच्चों के साथ काम करते बिताया था। मेरी उनसे अच्छी जान-पहचान हो गई थी। एक दिन दो छः वर्षीय लड़कियाँ मेरे पास आईं और उन्होंने बहुत लुका-छिपाकर मुझे एक चित्र दिखाया जो शायद उनमें से एक ने या दोनों ने मिलकर बनाया था। यह एक मल त्याग करते व्यक्ति का चित्र था जिसमें मल पीछे की ओर बन्दूक की गोलियों की तरह फिंक रहा था। तकनीकी रूप से देखें तो यह काफी अनगढ़ चित्र था। इस चित्र को दिखाए जाने पर मेरी प्रतिक्रिया 10 फीसदी तो कौतुक की थी और 90 फीसदी चिन्ता की। मैंने कल्पना की कि नाराज़ शिक्षक, पालक और शायद निर्णायक भी कहेंगे, “मतलब तुमने अपनी कक्षा में बच्चों को ऐसे चित्र बनाने की इजाज़त दी? तुमने ज़रूर ऐसा कुछ किया होगा जिससे उनको लगा कि ऐसा घृणास्पद चित्र बनाने और तुम्हें दिखाने में कोई बुराई नहीं है? और तुमने अब क्या कार्यवाही की है कि वे आइन्दा ऐसा चित्र न बनाएँ?” वगैरह।

मुझे याद नहीं कि मैंने उन बच्चों को ठीक-ठीक क्या कहा था, मगर मैंने चौंकने या गुस्सा होने का दिखावा नहीं किया था। मैंने शायद कहा था कि बेहतर होगा कि वे उस चित्र को छिपा दें या फाड़ डालें क्योंकि यदि बहुत लोग इसे देखेंगे तो वे मुश्किल में फँस जाएँगी। शायद मैंने यह भी संकेत किया हो कि मैं भी मुश्किल में फँस जाऊँगा। जो मैंने नहीं किया – काश किया होता – वह यह है कि मैंने उस चित्र पर अपनी कौतुक और आश्चर्य की गैर-शिक्षकनुमा, मानवीय प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। या शायद मुझे बच्चियों से पूछना चाहिए था कि उन्होंने मुझे वह चित्र क्यों दिखाया। शायद वे मुझसे एक ऐसे रहस्य के बारे में बात करना चाहती थीं जो अन्य वयस्कों

ने उनसे छिपाया था। या हो सकता है कि वे बस यही देखना चाहती थीं कि मेरी प्रतिक्रिया क्या होती है। शायद उन्होंने अनुमान लगाया हो कि यह चित्र देखकर मैं भौंचक्का रह जाऊँगा, जो हुआ भी। बहरहाल, मैं सोचता हूँ कि किसी अन्य स्कूल में या स्कूल से बाहर मैंने बच्चों से इस चित्र के बारे में और मल त्याग के बारे में या उनके मनचाहे किसी भी विषय पर बात की होती। ऐसी बातचीत से बच्चों ने बहुत कुछ सीखा होता। वे हमसे दुनिया के बारे में सीखना चाहते हैं। अधिकांश समय वे यही सीखते हैं कि हम वयस्क लोग दिखावा करते हैं, बातें छिपाते हैं, और झूठ बोलते हैं।

जब तक एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता है तब तक वास्तविक आदान-प्रदान, सच्चाई, ईमानदारी *हो ही नहीं* सकती। मुझे एक पुराने दोस्त से बातचीत याद आ रही है। उस समय वह हार्वर्ड में सीनियर था। उसे कॉलेज के दिनों में बहुत मज़ा आया था और उसका प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा था। एक दिन मैंने उससे पूछा कि क्या वह और उसके सहपाठी अपने प्रोफेसर से अक्सर असहमत होते थे। हँसकर उसने कहा, “वे सब कहते हैं कि वे चाहते हैं कि तुम असहमति जताओ।” मगर फिर उसने बताया कि उसने और उसके सहपाठियों ने सीख लिया था कि जिसे कोर्स में A चाहिए या जिसके लिए वह ज़रूरी है (जो सबके लिए थी), उसकी भलाई इसी में है कि वह प्रोफेसर से कभी बहस न करे। टेस्ट में, परीक्षाओं में, यहाँ तक कि चर्चाओं में भी A पाने का तरीका यह था कि प्रोफेसर के मतों के नज़दीक रहो, बस भाषा में इतना हेरफेर कर दो कि प्रोफेसर को यह न लगे कि उसके शब्दों की बौछार उसी पर की जा रही है।

बरसों बाद मैंने टॉरोंटो में शिक्षकों के एक समूह से कहा कि जब तक एक व्यक्ति का दूसरे पर अधिकार है तब तक उनके बीच किसी बहुत ईमानदार संवाद की गुंजाइश नहीं है। बैठक के बाद एक युवा शिक्षिका मेरे पास आई, वे काफी नाराज़ और तैश में थीं। उन्हें मेरे द्वारा किया गया करने व शिक्षा, S-schools और s-schools तथा T-teacher और t-teachers के बीच अन्तर बिल्कुल नहीं जँचा। उनका कहना था कि इससे क्या फर्क पड़ता है कि वे अपने छात्रों को ग्रेड और दण्ड दे सकती हैं; इसके बावजूद भी वे आपस में ईमानदार संवाद कर सकते हैं और छात्र उन्हें अपने विचार बताने में बिल्कुल नहीं डरते। उन्हें इस बात पर भी आपत्ति थी कि मैं उनकी कक्षा को भयजनक और गैर-ईमानदार बता रहा हूँ। मैंने भी अपनी बात रखी। वे टस से मस नहीं हुईं, बल्कि उन्होंने और नाराज़ होकर कहा

कि मैं जो बातें कह रहा हूँ वे हानिकारक और असत्य हैं। लगभग दस मिनट बाद मैंने उनसे पूछा, “क्या आपके स्कूल या स्कूल तंत्र में ऐसे लोग हैं जिनका आपके ऊपर अधिकार है, जिन्हें आपको बर्खास्त करने का अधिकार, वेतन वृद्धि, पदोन्नति वगैरह देने या रोकने का अधिकार है?” उन्होंने बताया कि ऐसे लोग हैं। मैंने पूछा, “क्या आप उनमें से किसी से उस तरह बात करेंगी जैसे मेरे साथ पिछले दस मिनट से कर रही हैं?” इस पर गौर करते हुए उनके चेहरे के भाव बदल गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने धीमे से कहा, “नहीं, नहीं करूँगी।” मैंने कहा, “न मैं करूँगा। मुद्दा यही है।” जी हाँ, मुद्दा यही है।

करने वालों के लिए संसाधन

करने वालों के लिए कौन-से संसाधन फिलहाल हमारे पास हैं, मगर और ज़्यादा चाहिए? या आज नहीं हैं मगर ज़रूरी हैं? ऐसे संसाधन जिनका उपयोग हर उम्र के लोग अधिक सक्रिय, विविधतापूर्ण और दिलचस्प जीवन जीने के लिए कर सकें। वे जगहें जहाँ युवा लोग जा सकें यदि उन्हें स्कूल में थोड़ा कम समय बिताना पड़े। ऐसी जगहें जहाँ वयस्क लोग फुरसत के वे क्षण बिता सकें जब उन्हें मालूम न हो कि क्या करें।

यह फेहरिस्त काफी लम्बी है और पाठक आसानी से इसमें और चीज़ें जोड़ सकते हैं। जिन कुछ मौजूदा संसाधनों का ज़िक्र मैं करूँगा वे ऐसे संसाधनों के उदाहरण हैं जिन्हें अन्य समुदायों के लोग भी बहुत कम पैसा लगाकर आसानी से अपना सकते हैं। इनमें एक है बीकन हिल फ्री स्कूल। यह बॉस्टन में मेरे मोहल्ले में ही है। यह s-school का एक उम्दा उदाहरण है। 1974 के ग्रीष्मकालीन सूची-पत्र से कुछ उद्धरणों से अन्दाज़ लग जाएगा कि यह कैसे चलता है:

इस सत्र से हम अपने पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, और अब तक हमने हर उम्र के हज़ारों लोगों के लिए 300 से ज़्यादा कोर्स निशुल्क चलाए हैं। यह स्कूल फल-फूल रहा है क्योंकि शिक्षक अपनी सेवाएँ व समय मुफ्त प्रदान करने को तैयार हैं, और हमारे पड़ोस व बस्ती की संस्थाएँ शाम के समय अपनी फालतू पड़ी जगह का उपयोग हमें करने देती हैं। छपाई, डाक वगैरह में जो थोड़ा खर्च लगता है उसकी पूर्ति सहृदय मित्रों से प्राप्त सहायता तथा कभी-कभार होने वाले लाभ से हो जाती है। इस स्कूल में पात्रता की कोई शर्त, परीक्षाएँ, ग्रेड, अंक या उपाधियाँ नहीं हैं। हमारा सूची-पत्र हर तीन माह में होने वाली आम सभा में तैयार किया जाता है। इसमें हर व्यक्ति को कोर्स की पेशकश करने तथा पेश किए गए कोर्स को लेने की छूट होती है। जो भी थोड़ा-बहुत प्रशासन है, वह कुछ लोगों द्वारा किया जाता है।

स्कूल की शुरुआत जैक पॉवर्स ने कई अन्य लोगों की मदद व प्रेरणा से की थी। स्कूल का मकसद समुदाय की सामग्री व मानव संसाधनों का उपयोग करते हुए हर उम्र के लोगों को साथ लाना है। हम उन सब के शुक्रगुज़ार हैं जिन्होंने इसे मुमकिन बनाया।

स्कूल में प्रति वर्ष चार सत्र होते हैं। प्रत्येक सत्र की शुरुआत एक आम सभा से होती है। अधिकांश आम सभाएँ चार्ल्स स्ट्रीट मीटिंग हाउस में हुई हैं। लोग इन बैठकों में या तो किसी कोर्स को चलाने की पेशकश लेकर आते हैं या यह जानने के लिए आते हैं कि क्या-क्या पेशकश हो रही है। बैठक के समन्वयक जैक पॉवर्स पहले स्कूल के बारे में थोड़ा बताते हैं, क्योंकि सभी उपस्थित लोगों को पता नहीं होता कि क्या-कुछ चल रहा है। इसके बाद जो लोग कोर्स चलाने की पेशकश करना चाहते हैं वे सबको अपने कोर्स के बारे में बताते हैं। कोर्स की पेशकश कोई भी कर सकता है और किसी भी विषय के कोर्स की पेशकश कर सकता है। किसी भी शिक्षक को अपनी दक्षता का प्रदर्शन नहीं करना पड़ता। इतना ही पर्याप्त है कि वह छात्रों को आकर्षित करके बाँधे रख सके। यदि कोई शिक्षक कोर्स पेश करे और लोग न आएँ या कभी-कभार ही आएँ, तो समझदार को इशारा काफी है। यदि लोगों ने कोर्स पसन्द किया तो शिक्षक शायद उसे फिर से चलाने की पेशकश करेगा। 1974 के ग्रीष्मकालीन सूची-पत्र में जो 37 कोर्स प्रस्तुत किए गए थे, उनमें से 17 को जारी रखा गया था। सूची-पत्र के निम्नलिखित उद्धरण से ज़ाहिर है कि स्कूल के पास अपनी इमारत नहीं है:

हमारे मेज़बान: बीकन हिल फ्रेंड्स हाउस,
6 चेस्टनट स्ट्रीट, बीकन हिल।
बॉस्टन सेन्टर फॉर दी आर्ट्स,
551 ट्रेमॉन्ट स्ट्रीट, साउथ एण्ड।
चार्ल्स स्ट्रीट मीटिंग हाउस,
70 चार्ल्स स्ट्रीट, बीकन हिल।
हिल हाउस इन्कॉर्पोरेटेड,
74 जॉय स्ट्रीट, बीकन हिल।
हिपोक्रेट्स हेल्थ इंस्टीट्यूट,
25 एक्सीटर स्ट्रीट, ब्लैक बे।

होल्ट एसोसिएट्स इन्कॉर्पोरेटेड,
308 बॉयल्स्टन स्ट्रीट, बॉस्टन।

किंग चैपल पैरिश हाउस,
64 बीकन स्ट्रीट, बॉस्टन।

सेंट जॉन दि एवेंजेलिस्ट चर्च,
33 बोडोइन स्ट्रीट, बॉस्टन।

स्टोन सूप गैलरी,
313 कैम्ब्रिज स्ट्रीट, वेस्ट एण्ड।

और शिक्षकों व मित्रों ने भी अपने-अपने घर
के उपयोग की अनुमति दी है।

ज़रूरी टीप: पहली बार किसी भी कक्षा में जाने से पहले अनुदेशक से सम्पर्क ज़रूर कर लें। सूची के शुरू में दी गई तारीखें कोर्स शुरू होने की तारीखें हैं। *निरन्तर* का अर्थ है कि कोर्स पिछले वर्ष से चल रहा है। फिर भी पहली बार किसी *निरन्तर* कोर्स में प्रवेश करने से पहले अनुदेशकों से ज़रूर मिल लें। TBA का मतलब है कि कोर्स के दिन, समय वगैरह अनुदेशक और दिलचस्पी रखने वाले छात्रों द्वारा तय किए जाएंगे। *अनुदेशक से मिलें!* अपरिहार्य परिवर्तन तो होते ही रहते हैं!

फ्री स्कूल, जहाँ तक सम्भव हो, अपने शिक्षकों के लिए कक्षा लगाने का स्थान समुदाय में ही खोजने का प्रयास करता है। यदि स्कूल जगह न ढूँढ पाए तो अनुदेशक और छात्र मिलकर जगह खोजते हैं। दरअसल, सूची-पत्र एकमात्र प्रशासनिक साधन है जिसके ज़रिए छात्रों को बताया जाता है कि कक्षा कब व कहाँ लगेगी। अनुदेशक एक पता और/या फोन नम्बर देते हैं जहाँ छात्र उनसे सम्पर्क कर सकते हैं। इसके बाद यह उन्हीं पर है कि कब और कहाँ मिलें। कोर्स सम्बन्धी निम्नांकित इन्दराज़ों से पता चलता है कि अनुदेशक अपने छात्रों को किस तरह की जानकारी उपलब्ध कराते हैं:

सायकिल मरम्मत

मंगलवार, शाम 6-7.30, हिल
हाउस

निरन्तर। अपनी सायकिल का रख-रखाव कैसे करें, यानी पंचर सुधारना, गेयर ठीक करना वगैरह। जॉर्ज बेरी के लिए xxxxxxxx पर सन्देश छोड़ें। सत्र खेलकूद कक्ष, पहली मंज़िल पर होगा। छोटी-मोटी मरम्मत के लिए अपनी सायकिल लेकर आएँ।

सृजनात्मक लेखन

गुरुवार, शाम 7-9, हिल
हाउस, पहली मंज़िल,
सीनियर लॉउन्ज

निरन्तर। नए लोगों का स्वागत है। एक रचनात्मक माध्यम के रूप में लेखन। सम्प्रोषण व सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं पर विशेष ज़ोर। इसमें गल्प भी शामिल है। फोटोग्राफी और खोजी पत्रकारिता एक मुख्य बिन्दु है। अनुदेशक, फ्रैंक एन्थनी, xxxxxx, दिन।

आधुनिक कविता मंच

सोमवार, 8-9 शाम
TBA

निरन्तर। नए लोगों का स्वागत है। पाउंड, व्हिटमैन, डबल्यू.सी. विलियम्स और चार्ल्स ओल्सन से उभरती परम्परा से शुरू करके समकालीन कविता में अमरीकी मुहावरे की खोजबीन। प्रयास होगा कि बीकन हिल इलाके में कहीं बाहर मिलें। अगुआ, जानकारी: जो और रोज़ डन्न, xxxxxxxx।

बुनियादी इलेक्ट्रॉनिक्स

सोमवार, शाम 5.30,
हिल हाउस

निरन्तर। नए लोगों का स्वागत है। कोर्स ऐसे लोगों के लिए है जिन्हें इलेक्ट्रॉनिक्स का बहुत कम अनुभव है या बिल्कुल अनुभव नहीं है, किन्तु जो किट बनाने, मरम्मत करने और बुनियादी सिद्धान्त समझने में रुचि रखते हैं। कुछ प्रयोग भी होंगे। कक्षा नेतृत्व, पीटर ग्रिफिन, xxxxxxxx।

1974 के ग्रीष्मकालीन सत्र में पेश किए गए सारे कोर्स की सूची निम्नानुसार है: दृश्य चित्रण; सायकिल मरम्मत; रचनात्मक लेखन; आधुनिक कविता मंच; बुनियादी इलेक्ट्रॉनिक्स; अपनी यौनिकता की खोजबीन; पुर्तगाली भाषा; मानव संवाद की क्रिया; स्पेनिश; हठ योग; संवेदनशीलता प्रशिक्षण; बोलचाल की रूसी भाषा II; रचनात्मक आन्दोलन; बीथोवन; पाश्चात्य दर्शन; वेलफेयर एडवोकेसी प्रशिक्षण; क्या आप आत्महत्या करने की सोच रहे हैं?; विचारों को सहेजना; योग; जीवित भोजन; घर के अन्दर बागवानी; जैविक पोषण; व्याख्यान; इक्कीसवीं सदी में जीना; ज़ोन चिकित्सा; कुंडलिनी योग; पद्य पठन; रैप-इन (rap-in); कविता कार्यशाला; टिडली-विंक्स (tiddly-winks); एफ. स्कॉट फिट्ज़गेराल्ड के उपन्यास; सामान्य गणितमय उपयोग; जीव विज्ञान से सम्बन्धित भौतिकी; औद्योगिक डिज़ाइन; बेहतर पढ़ें; नौकरी, काम और पहचान; संगीत; ईरान; लोग,

कला और ज़मीन; एक्स्प्रेसर और स्वीडिश मालिश; बढईगिरी; व्यक्तिवाद और पालकत्व; पर्यावरण: हमारी धरती पर परस्पर सम्बन्ध; रीसायविलिंग और पदार्थों का संघटन; ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत; बेले आइल साल्ट मार्श का अध्ययन।

पिछले वर्षों में लोगों ने भाषा, गणित जैसे S-schoolनुमा कोर्सों की बजाय हस्तकला या नृत्य/गति/योग और सम्पर्क/चर्चा/संवेदनशीलता जैसे कोर्सों की पेशकश ज़्यादा की है। मगर कुल मिलाकर यह काफी विविध व रोचक मिश्रण रहा है। ये कोर्स लगभग उन विषयों पर हैं जिनमें इस इलाके के लोगों की रुचि है। देश के या शायद शहर के ही किसी अन्य इलाके में लोगों की रुचियाँ अलग होंगी और शायद वहाँ बिल्कुल अलग किस्म के कोर्स पेश होंगे।

स्कूल अपने छात्रों का कोई रिकॉर्ड नहीं रखता, इसलिए वह अनुमान ही लगा सकता है। और उसका अनुमान है कि गत चार वर्षों में लगभग दो हज़ार लोग इन कोर्सों में शामिल हुए हैं। हर सत्र में करीब 3-4 सौ लोग होते हैं। शुरू-शुरू में ऐसा लगता था कि लगभग सारे छात्र और शिक्षक वे लोग हैं जो कॉलेज या शायद ग्रेजुएट स्कूल भी गए होंगे और कमोबेश अकादमिक या कलात्मक काम कर रहे हैं। मगर समय बीतने के साथ स्कूल लोकप्रिय हुआ है और कुछ ऐसे लोगों ने भी कोर्स चलाने या उनमें शामिल होने की पेशकश की है जिनकी ज़्यादा स्कूलिंग नहीं हुई है और जिनका “स्कूल” जैसी जगह से साधारणतः कोई लेना-देना नहीं होता।

कई लिहाज़ से फ्री स्कूल पारम्परिक प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों जैसा है। (ऐसा एक केन्द्र बॉस्टन में और एक कैम्ब्रिज में है।) या फिर यह कुछ हद तक उन मुक्त विश्वविद्यालयों जैसा है जो पिछले दस वर्षों में कई कॉलेज परिसरों पर विद्यार्थियों ने आयोजित किए हैं। अलबत्ता कुछ अहम अन्तर भी हैं। इनमें से एक अन्तर ऐसा है जिसकी बदौलत बीकन हिल फ्री स्कूल एक ऐसा मॉडल है जिसका अनुकरण अन्य लोग आसानी से कर सकते हैं। जैसा कि जेन लिक्टमैन ने *नेशनल डायरेक्टरी ऑफ फ्री युनिवर्सिटीज़* में लिखा था, “बीकन हिल फ्री स्कूल में प्रशासनिक ढाँचा न्यूनतम और विविधता सर्वाधिक है... अपनी पूरी सरलता के साथ यह सुन्दर ढंग से चलता है।”

यह चलता है, और इसलिए चलता है कि यह इतना सरल है। इसके पास अपनी कोई इमारत नहीं है, लिहाज़ा इसे उसका किराया चुकाने, या

रख-रखाव करने की या इसे गँवा देने की चिन्ता नहीं है। चूँकि यह कोई पैसा नहीं लेता, इसलिए इसे अपने छात्रों को किसी बात का वचन नहीं देना पड़ता, और इसी वजह से इसे अपनी साख या शिक्षकों की दक्षता की चिन्ता भी नहीं करनी पड़ती। जब छात्रों से पैसा लिया नहीं जाता और शिक्षकों को भुगतान नहीं होता, तो लम्बा-चौड़ा हिसाब-किताब नहीं रखना पड़ता, वगैरह। इसका बजट लगभग शून्य है। एकमात्र खर्च त्रैमासिक सूची-पत्र का है जो काफी सस्ते में तैयार होकर छप जाता है। सूची-पत्र बस्ती में दिखाया व बाँटा जाता है, मगर यदि कोई इसे मँगाना चाहे तो अपना पता लिखा, टिकट लगा लिफाफा भेजकर मँगा सकता है। कुल मिलाकर स्कूल का सालाना खर्च शायद 100 डॉलर से भी कम होता है। किसी भी समय पर करीब 200 लोग इसका उपयोग करते हैं। तो हम कह सकते हैं कि प्रतिवर्ष प्रतिछात्र खर्च *पचास सेंट से भी कम है!* इसकी तुलना ज़रा हमारे सार्वजनिक S-schools के सालाना प्रति छात्र खर्च (600 डॉलर से अधिक, बॉस्टन में 1700 डॉलर) से कीजिए। हाँ, यह मानना होगा कि छात्र बीकन हिल फ्री स्कूल का इस्तेमाल प्रति सप्ताह 1-2 घण्टे के लिए ही करते हैं, जबकि किसी अन्य स्कूल में वे 30-35 घण्टे व्यतीत करते हैं। वैसे यदि प्रति घण्टे के आधार पर हिसाब लगाएँ तो S-schools का खर्च 20 डॉलर प्रतिछात्र से कम होना चाहिए। निश्चित तौर पर गरीब समुदायों और गरीब देशों को मानव विकास और सीखने के इस संसाधन (बीकन हिल फ्री स्कूल) का अध्ययन व अनुकरण करना चाहिए।

बीकन हिल फ्री स्कूल और अधिकांश कैम्पस स्थित मुक्त विश्वविद्यालयों के बीच एक और अहम अन्तर यह है कि यह किसी राजनैतिक विचारधारा के इर्द-गिर्द निर्मित नहीं है। इस वजह से समुदाय में इसका आधार ज़्यादा व्यापक है, और इसने ऐसे शिक्षकों व छात्रों को शामिल किया है जो किसी भी कैम्पस स्थित मुक्त विश्वविद्यालय का सूची-पत्र देखकर या तो डर जाएँगे या गुस्सा हो जाएँगे। यानी उनमें भिँची हुई मुट्ठियों, दाढ़ीवाले छापामारों और माओ के चित्रों के साथ-साथ “क्रान्ति”, “शोषितों”, “पूँजीवाद” पर लेखन होता है। इसके अलावा ये कैम्पस s-schools बहुत दुर्बल भी होते हैं। जिन छात्रों को इनकी चिन्ता है और जो इनमें अपना समय लगाते हैं, वे अन्ततः स्नातक होकर चले जाते हैं और प्रायः अपने बाद इस काम को चलाने के लिए किसी को खोज भी नहीं पाते। और सुविधाओं के लिए वे विश्वविद्यालयों पर निर्भर होते हैं। यदि वे बहुत रेडिकल या लोकप्रिय होने लगे तो इन सुविधाओं में कटौती हो सकती है।

यह गौरतलब है कि छोटा होने के बावजूद बीकन हिल फ्री स्कूल को अपने कोर्स चलाने के लिए जगह मिलने में कठिनाई होने लगी है। इस इलाके के अधिकांश लोग, कम से कम वे जो स्कूल का उपयोग करते हैं, छोटे-छोटे घरों में रहते हैं, इतने छोटे कि उनमें वैसी गतिविधियाँ या कक्षाएँ नहीं हो सकतीं जैसी वे करवाना चाहते हैं। इस इलाके की संस्थाएँ, खासकर चर्च, जगह को लेकर काफी उदार रहे हैं, मगर उनके पास भी ज़्यादा जगह नहीं है और थोड़ी जगह तो उन्हें अपने कार्यक्रमों के लिए भी चाहिए। मिलने की जगह की इस किल्लत के कारण कुछ किस्म की गतिविधियाँ असम्भव या मुश्किल हो गई हैं। जैसे बस्ती का गायक वृन्द या संगीत मण्डली। यदि और ज़्यादा लोग शिक्षक या छात्रों के रूप में स्कूल में शामिल होना चाहें तो भी उनके लिए जगह ढूँढना मुश्किल होगा। वहीं दूसरी ओर, पहाड़ी पर चन्द ब्लॉक ऊपर एक पब्लिक S-school भवन है जिसमें कमरे ही कमरे हैं जो इस तरह के काम के लिए आदर्श हैं। किन्तु अन्य पब्लिक S-school भवनों की ही तरह यहाँ भी स्कूल की अवधि के बाद ताले डल जाते हैं। हमें कोई तरीका निकालना होगा, जैसे कि कुछ समुदायों ने निकाला है, कि ये सुसज्जित इमारतें सब लोगों के लिए उपलब्ध रहें।

करने वालों के लिए एक और महत्वपूर्ण संसाधन इलिनॉय प्रान्त में शिकागो के उत्तर में बसे उपनगर इवेंस्टन का दी लर्निंग एक्सचेंज है। यह एक ऐसा मॉडल है जिसका 40 से ज़्यादा समुदाय अनुकरण कर चुके हैं। एक्सचेंज की शुरुआत डेनिस डेट्ज़ेल और रॉबर्ट लुइस ने मई 1971 में की थी। उस समय वे नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय में स्नातक छात्र थे। एक्सचेंज का विचार मेक्सिको स्थित सी.आई.डी.ओ.सी. में डेट्ज़ल और इवान इलिच की बातचीत में से उभरा था। यह इवान इलिच की पुस्तक *डीस्कूलिंग सोसायटी* में प्रस्तुत प्रस्ताव के बहुत नज़दीक है। संस्थापक समूह का मानना था, जैसा कि उन्होंने 1974 के अपने सूची-पत्र में लिखा है,

कि वृहत् शिकागो में बहुत सारे लोग थे जिनके पास साझा करने को हुनर, प्रतिभा और ज्ञान था। दस्तकार, पेशेवर लोग, मज़दूर, गृहिणियाँ, सेवा-निवृत्त लोग, छात्र – समाज का लगभग हर सदस्य दूसरों को कुछ न कुछ सिखा सकता था। हमें यह भी विश्वास था कि कई जगहें “कक्षा” का काम दे सकती थीं – लोगों के घर, दफ्तर, सामुदायिक केन्द्र, चर्च, और बगीचे। यहाँ तक कि कोई टेलीफोन भी मिलने की

एक जगह की तरह काम कर सकता है – लोग किसी विषय से सम्बन्धित सवालों का जवाब दे सकते हैं या चर्चा कर सकते हैं...। इस ज़रूरत की पूर्ति के लिए हमने एक ऐसी सेवा तैयार करने का प्रयास शुरू किया जो उपयोग करने में सरल हो और शिकागो महानगर में हर उस व्यक्ति को उपलब्ध हो जो सिखाना, सीखना या अपनी रुचियों को साझा करना चाहता है। इस संगठन में प्रवेश के लिए कोई शर्त नहीं होगी और उपाधियाँ व प्रमाण-पत्र न तो प्रदान किए जाएँगे और न उन लोगों से माँगे जाएँगे जो इस सेवा के माध्यम से सिखाना चाहते हैं।

एक्सचेंज कुछ इस तरह काम करता है। (1) कोई व्यक्ति यदि कुछ सीखना चाहे या कुछ पता करना चाहता हो, (2) यदि उसके पास कुछ ज्ञान या हुनर हो जो वह दूसरों को सिखाना चाहता हो, या (3) वह ऐसे लोगों से मिलना चाहता हो जो किसी खास रुचि के हों, तो वह फोन कर सकता है या लिख सकता है। उसका नाम, पता, फोन नम्बर, रुचि का क्षेत्र और वह क्या करना चाहता है (सीखना, सिखाना, रुचि साझा करना) एक कार्ड पर लिखकर एक फाइल में रख दिए जाते हैं। या यदि एक्सचेंज इसी गति से बढ़ता रहा तो जल्दी ही यह सारी जानकारी कम्प्यूटर में रखी जाएगी।¹ इसके साथ ही उसकी रुचि का क्षेत्र एक्सचेंज की रुचियों की सूची में जोड़ दिया जाता है। यदि एक्सचेंज की सूची में ऐसे अन्य लोगों के नाम हैं जो फोनकर्ता की रुचि की चीज़ सिखाना, सीखना या साझा करना चाहते हैं तो उनके नाम उसे दे दिए जाते हैं। अब यह उस पर है कि इनसे सम्पर्क करे और तय करे कि यदि वे साथ आना चाहते हैं तो कैसे, कब, कहाँ और किन आधारों पर। यदि एक्सचेंज के पास उस व्यक्ति की रुचि को सिखाने वगैरह वाले लोगों के कोई नाम नहीं हैं तो उसका नाम फाइल में रख लिया जाता है। आगे चलकर यदि कोई ऐसा व्यक्ति सम्पर्क करे जो उसके अनुरूप हो तो एक्सचेंज उसे बता देगा। जैसा कि एक्सचेंज का सूची-पत्र कहता है: “लर्निंग एक्सचेंज एक ऐसा तरीका है कि आप जो चाहें, जब

1. हाल ही में न्यू यॉर्क टाइम्स की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि आयोवा की टेलीफोन कम्पनी डेस मॉइन्स ने इलाके में कोई भी विदेशी भाषा बोलने, पढ़ने और लिखने वालों की एक सूची बना डाली है, और माँगने पर यह सूची किसी को भी उपलब्ध कराई जाएगी। भविष्य में शायद यह या कोई दूसरी टेलीफोन कम्पनी अन्य हुनरों व ज्ञान को भी ऐसी सूचियों में शामिल करने लगेगी।

चाहें, जब तक चाहें और जिन लोगों के साथ चाहें कर सकें।” या हो सकता है कि आप कम से कम उनसे मिलते रहना पसन्द करें।

एक्सचेंज एक उधार के कमरे में, उधार के फोन, एक फाइल में चन्द 3x5 के कार्डों और नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय से मिले 25 डॉलरों के साथ शुरू हुआ था। छः महीने तथा 27 डॉलर पश्चात यहाँ 290 विषयों की एक सूची बन चुकी थी। 1973 के अन्त तक एक्सचेंज के पास अपना ऑफिस था, चार कर्मचारी थे, और दो हज़ार विषयों में रुचि रखने वाले पन्द्रह हज़ार लोग थे। इन विषयों की सूची एक्सचेंज के 1974 के सूची-पत्र में दी गई है। यह सूची-पत्र काफी रोचक है और इससे हमें मानव अनुभव तथा रुचियों की असाधारण विविधता का अच्छा अन्दाज़ मिलता है। गौरतलब है कि अपनी इमारतों, विभागों, वेतनशुदा और अहर्ताप्राप्त स्टाफ से लैस कोई रूढ़िगत S-school मानव ज्ञान के इस भण्डार के एक छोटे से हिस्से से भी नहीं निपट पाएगा और न इस मानवीय कौतूहल के एक अंश को सन्तुष्ट कर पाएगा। नीचे समूह "A" के अन्तर्गत शामिल प्रथम बीस विषयों की सूची दी गई है:

ए.सी.टी. टेस्ट (अमरीकी कॉलेजों में दाखिले का टेस्ट)
गर्भपात – पक्ष और विपक्ष
अमूर्तिकरण
एकॉर्डियन बजाना
अकॉउंटिंग (हिसाब-किताब)
एक्रोबैटिक्स
अभिनय
एक्यूंपकचर
अल्फ्रेड एड्लर
एड्लेरियन व्याख्यान माला, वक्ता
एड्लेरियन जीवन शैली और टीका
सन्तान गोद लेना, अकेले पालक
प्रौढ़ शिक्षा
रवैयों की छानबीन
विज्ञापन
विज्ञापन एजेंसी का प्रबन्धन
एरिएलिस्ट
अफ्रीका
अफ्रीकी संस्कृति
अफ्रीकी संस्कृति और कला

माइक लावेल्ले नाम के एक स्टील मज़दूर शिकागो ट्रिब्यून के लिए एक नियमित स्तम्भ लिखते हैं (देखें स्टड्स टर्कल की पुस्तक *वर्किंग*)। उनके 28 नवम्बर 1972 के स्तम्भ के कुछ अंशों से पता चलता है कि एक्सचेंज वास्तव में कैसे काम करता है:

एक रिटायर्ड बुजुर्ग वेल्डर किशोरों के एक दल को वेल्लिंग सिखा रहा है। अपनी उम्र और ज्ञान के इस नए उपयोग से वह जोशीला युवा बन गया है और वे किशोर अपनी नई माँसपेशियों को खोजकर तथा अपने हाथों के इस जादू को देखकर थोड़े बड़े और जानकार हो गए हैं।

एक मेक्सिकन बस्ती में रहने वाला एक अधेड़ कम्प्यूटर प्रोग्रामर एक मेक्सिकन-अमरीकी हाई स्कूल ड्रॉप-आउट से स्पेनिश सीख रहा है और बदले में उसे कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग सिखा रहा है।

एक 14-वर्षीय लड़की को वायलिन बजाने में बहुत मज़ा आता है। वह एक 23-वर्षीय कॉलेज प्रोफेसर और एक 33-वर्षीय गृहिणी को वायलिन बजाना सिखा रही है और उसके प्रिय तारों की ध्वनियाँ तिगुनी हो गई हैं।

सिखाना? सीखना? अवश्य, किन्तु इवेंस्टन के दी लर्निंग एक्सचेंज में इससे कहीं ज़्यादा कुछ होता है। कविता सीखना चाहते हैं या पसन्द करते हैं? किसी कवि से मिलिए। लेखन? किसी लेखक से मिलिए। सुतारी? किसी सुतार से मिलिए। बिजली? किसी इलेक्ट्रीशियन से मिलिए। यही है दी लर्निंग एक्सचेंज।

एक्सचेंज का कामकाजी सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है: आप जो नहीं जानते वह सीख सकते हैं, और जो जानते हैं वह सिखा सकते हैं। यह सीखना-सिखाना योजनाबद्ध संस्थाओं में शिक्षण और उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली उपाधियों के बगैर भी हो सकता है। यह तो पूरी तरह आप पर, आपके जीवन और आपके अनुभव पर है; सार यह है कि यह आपका संग्रहीत ज्ञान है। आप चाहे अपने दिमाग से काम करें या हाथों से, आप एक जीता-जागता विश्वविद्यालय हैं।

दी लर्निंग एक्सचेंज में अहंकार के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ एक पी.एच.डी. का उतना ही महत्व है जितना वेल्डर की टॉर्च का या सुतार की आरी का, गृहिणी की पतीली का या एसेम्बली लाइन मज़दूर के हाथों का। आप पुरुष, स्त्री, काले, गोरे, बूढ़े, युवा, कॉलेज के छात्र, खबती कुछ भी हों – दी लर्निंग एक्सचेंज आप ही हैं।

एक्सचेंज की 1973 की प्रगति रिपोर्ट से हमें पता चलता है कि और क्या-क्या हुआ था। जैसे:

एक चीनी महिला दी लर्निंग एक्सचेंज के ज़रिए अपनी अँग्रेज़ी सुधार रही है और बिज़नेस इकॉनॉमिक्स सीख रही है। वह तीन लोगों को चीनी भाषा सिखा भी रही है।

कम बजट वाला एक कैथोलिक व्याकरण स्कूल अपने पाठ्यक्रम में फोटोग्राफी शामिल करना चाहता था। दी लर्निंग एक्सचेंज ने उनके लिए एक छात्र फोटोग्राफर तलाश कर दिया। उसने आगे चलकर वहाँ फोटोग्राफी का एक चार सप्ताह का कोर्स पढ़ाया।

एक नर्सिंग होम की एक 78-वर्षीय महिला ने एक कॉलेज छात्र को जर्मन पढ़ाई और वह कई ऐसे लोगों से मिली जो उसके समान जर्मन क्लासिकों में रुचि रखते थे। उसने शोध प्रबन्ध की प्रूफ-रीडिंग के लिए भी अपना नाम दिया है, मगर अभी तक इस काम के लिए किसी ने उससे सम्पर्क नहीं किया है।

दर्शन शास्त्र में पीएच.डी. एक बीमा जाँचकर्ता ने दी लर्निंग एक्सचेंज के ज़रिए दर्शन शास्त्र में अपनी रुचि बनाए रखी और अपने घर पर नैतिकता व मूल्य पर एक कोर्स भी पढ़ाया।

एक दृष्टिहीन महिला को सैद्धान्तिक संगीत में कॉलेज उपाधि प्राप्त करने में सुविधा हुई क्योंकि दी लर्निंग एक्सचेंज के ज़रिए उसे ट्यूटर मिल गया। उसने एक ऐसे बूढ़े व्यक्ति को ब्रेल भी सिखाई जिसकी आँखें जवाब देने लगी थीं।

अपटाउन एरिया के एक 25-वर्षीय सामुदायिक कार्यकर्ता ने देखा कि उसके इलाके के बेरोज़गार युवाओं की ऑटो मेकेनिक्स में बहुत रुचि है। दी लर्निंग एक्सचेंज ने उसे एक सहयोगी मेकेनिक ढूँढने में मदद दी ताकि वह ऑटो मेकेनिक कार्यशाला स्थापित कर सके। एक्सचेंज ने कई छात्रों को भी उस कार्यशाला में भेजा। इसके अलावा एक्सचेंज ने उन्हें एक कृत्रिम रूप से गर्म गैरेज खोजने में मदद दी और फिलहाल उन्हें इस काम में मदद दे रहा है कि वे कुछ अतिरिक्त औज़ार खरीदने के लिए थोड़ा अनुदान प्राप्त कर सकें।

एक कॉलेज छात्रा को उसकी मनोविज्ञान की कक्षा में कुछ सिद्धान्त समझने में दिक्कत आ रही थी। दी लर्निंग एक्सचेंज से उसे एक ऐसे व्यक्ति का फोन नम्बर और पता मिल गया जिसने कहा था कि वह

मनोविज्ञान से भलीभाँति परिचित है। उस व्यक्ति से फोन पर आधे घण्टे की बातचीत से उसे अपना कोर्स पार करने में बहुत मदद मिली।

मेरे पास डी काल्ब, इलिनॉय के दी लर्निंग एक्सचेंज का 1974 का सूची-पत्र है। मुझे पता नहीं कि यह कब शुरू हुआ था। शायद इवेंस्टन के एकाध साल बाद। इसके सूची-पत्र में 450 विषयों का उल्लेख है। विषयों की विविधता लगभग इवेंस्टन के एक्सचेंज जैसी ही है। अकेले “संगीत” के अन्तर्गत 43 वाद्य यंत्रों और गतिविधियों के नाम हैं। हमारे समाज में मानव संसाधनों और सम्भावनाओं का कैसा ज़बरदस्त खज़ाना है और इसे कितना कम उपयोग और सन्तुष्ट किया जाता है!

इन सारे लर्निंग एक्सचेंजों की एक समस्या है। सफलता इनकी हत्या कर सकती है। जब ये छोटे होते हैं, तब उधार का दफ्तर और फोन और स्वैच्छिक मदद हासिल कर सकते हैं और लगभग बगैर पैसे के चल सकते हैं। मगर जब ये बड़े होते हैं और अधिक लोगों तक पहुँचते हैं तो इन्हें अपनी जगह की ज़रूरत पड़ने लगती है, कुछ पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं की ज़रूरत पड़ने लगती है, प्रति व्यक्ति मदद की लागत कम होने की बजाय बढ़ने लगती है, और इन्हें ज़्यादा पैसे की ज़रूरत होने लगती है। इवेंस्टन एक्सचेंज का मत है, और मुझे भी लगता है, कि यदि सम्भव हो तो ऐसी सेवाओं की लागत उन लोगों को वहन करनी चाहिए जो इनका उपयोग करते हैं। इससे एक्सचेंज अधिक पुख्ता हो जाएगा; राजनीतिज्ञ या संस्था सम्बन्धी अधिकारी बजट में कटौती करके इसे बन्द नहीं कर सकेंगे। इसके अलावा यह ज़्यादा ज़िम्मेदार भी हो जाएगा। इसके मद्देनज़र अब इवेंस्टन का एक्सचेंज पहली बार सम्पर्क करने वालों को अपने काम का एक पन्ने का विवरण और एक सदस्यता फॉर्म भेजता है। एक वर्ष की सदस्यता 15 डॉलर, दो वर्ष की सदस्यता 25 डॉलर और तीन वर्ष की सदस्यता 30 डॉलर में दी जाती है। सदस्यों को एक कार्ड के अलावा नई पेशकश व प्रगति के सम्बन्ध में एक तिमाही पत्रिका, सालाना सूची-पत्र की एक प्रति, और त्वरित सेवा के लिए “सिर्फ सदस्यों के लिए” एक फोन नम्बर मिलता है। इसके अलावा बुज़ुर्गों और कम आमदनी वाले लोगों के लिए पाँच डॉलर की एक सीमित आमदनी सेवा है जिसमें उपरोक्त सारे लाभ मिलते हैं। सदस्यता फॉर्म में कहा गया है कि एक्सचेंज की सूचियों और प्रेषण सेवाओं का उपयोग करने के लिए सदस्य बनना कतई ज़रूरी

नहीं है। ये पंक्तियाँ लिखते हुए एक्सचेंज से मुझे पता चला है कि उसका आधा खर्च सदस्यता से निकल रहा है। यह राशि बढ़ती है, स्थिर रहती है या घटती है, यह तो समय ही बताएगा। किन्तु इस तरह की प्रक्रिया से इन एक्सचेंजों को उन जगहों पर आत्मनिर्भर बनाना बहुत कठिन होगा जहाँ उनकी सबसे अधिक ज़रूरत है, यानी गरीबों के बीच जिनको S-schools और जानकारी के अन्य महँगे स्रोत उपलब्ध नहीं है। ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि इन एक्सचेंजों को या इनका उपयोग करने वालों को उस 90 अरब डॉलर प्रतिवर्ष से ज़्यादा रकम का एक अंश मिले जो S-schools खर्च करते हैं और प्रायः खराब ढंग से करते हैं।

करने वालों के लिए और संसाधन

पुस्तकालय – करने वालों के लिए संसाधन केन्द्र

करने वालों के लिए संसाधनों का एक सुन्दर मॉडल सार्वजनिक पुस्तकालय हैं। S-schools के विपरीत पुस्तकालय यह नहीं कहता कि उसका उपयोग करना ही होगा, या यदि हम उसका उपयोग नहीं करेंगे तो हमारे साथ कुछ बुरा होगा, या करेंगे तो कुछ बढ़िया होगा। वह तो बस मौजूद है; हम चाहें तो उसका उपयोग करें और जब, जैसे चाहें करें। यदि हम उसका उपयोग करना चाहें तो पुस्तकालय दरवाज़े पर जाँच नहीं करेगा कि हम पर्याप्त होशियार हैं या नहीं, न ही वह यह दावा करेगा कि वह अन्य पुस्तकालयों से बेहतर है क्योंकि उसमें सबसे होशियार लोगों को ही प्रवेश मिलता है। पुस्तकालय यह भी नहीं बताता कि एक बार अन्दर घुसने के बाद हम वहाँ क्या करें। वह न हमारी परीक्षा लेता है और न ही कोई ग्रेड या श्रेणियाँ देता है या हमारे बारे में फाइल रखता है।

फिलहाल पुस्तकालय जिन चीज़ों को करने में हमारी मदद कर सकते हैं वे बहुत सीमित हैं। कुछ हद तक तो इसका कारण यह है कि पुस्तकालयों के पास पर्याप्त धन नहीं है – हालाँकि वे समुदाय के सारे लोगों की सेवा करते हैं। पुस्तकालयों को मिलने वाला धन S-schools को मिलने वाले धन से बहुत कम होता है, जबकि ये स्कूल बहुत ही थोड़े लोगों की सेवा करते हैं। इसके अलावा, अभी हाल तक अधिकांश पुस्तकालयाध्यक्ष अपने काम को अत्यन्त पारम्परिक व सीमित नज़रिए से देखते थे। इसके अनुसार पुस्तकालय किताबें और अन्य लिखित रिकॉर्डों का भण्डारण करने की जगह थे। वे S-schools के उपांग थे, एक ऐसी जगह जहाँ लोग, ज़्यादातर T-teachers और छात्र, किताबें देख सकते थे। अधिकांश लोग पढ़ने समेत उन सारी चीज़ों को नापसन्द करना सीख जाते हैं जो उनसे

S-schools में करवाई गई थीं। इसलिए स्कूल छोड़ने के बाद वे उन चीज़ों को कदापि नहीं करते और इसीलिए पुस्तकालय का उपयोग भी नहीं करते। मगर स्थिति बदलने लगी है। आज पुस्तकालय पहले से ज़्यादा कुछ कर रहे हैं और कुछ पुस्तकालयाध्यक्ष कहने लगे हैं कि ऐसी कई और चीज़ें हैं जो वे कर सकते हैं और उन्हें करनी चाहिए।

ऐसे ही एक पुस्तकालयाध्यक्ष हैं मरे एल. बॉब जो न्यू यॉर्क के जेम्सटाउन में चौटौकुआ-काटारौगस लायब्रेरी सिस्टम के निदेशक हैं। हाल ही में उन्होंने मुझे अपना एक लेख भेजा जिसका शीर्षक है 'न्यू डायरेक्शन्स फॉर पब्लिक लायब्रेरीज़'। इसमें उन्होंने अन्य चीज़ों के साथ-साथ यह प्रस्ताव दिया है कि प्रत्येक प्रान्त, प्रत्येक काउंटी, और शहरी रिहायशी संस्था में और इंडियन रिज़र्वेशन में, और प्रत्येक प्रवासी शिविर में, एक पुस्तकालय होना चाहिए। पुस्तकालयों को हर किस्म की दृश्य-श्रव्य सामग्री का संग्रह, भण्डारण, सूचीकरण और उपलब्ध कराने का काम करना चाहिए। इनमें टेप, रिकॉर्ड, फिल्मों, स्लाइड फिल्मों, फिल्म लूप, वीडियो टेप वगैरह शामिल होंगी। पुस्तकालयों को उन जगहों पर अपनी शाखाएँ स्थापित करनी चाहिए जहाँ लोग काम करते हैं – जैसा कि स्कैण्डिनेविया के कुछ भागों में किया भी जा रहा है। "पुस्तकालयों में निशुल्क या बहुत कम शुल्क पर छोटी-छोटी प्रिंटिंग प्रेसों, फोटो खींचने के लिए कैमरे, रिकॉर्डिंग के लिए टेप रिकॉर्डर, यानी हर किस्म के प्रतिलिपि बनाने के साधन हों और प्रतिलिपि बनाने की अनुमति हो, तो वे विचारों के आदान-प्रदान में मदद दे सकते हैं।" वे आगे कहते हैं:

मैं उस तरह के प्रतिलिपिकरण की, प्रकाशित सामग्री के प्रतिलिपिकरण की बात नहीं कर रहा हूँ जिससे कॉपीराइट का उल्लंघन होता हो। मैं तो "गूंगे गालिबों" की रचनाओं के प्रतिलिपिकरण की बात कर रहा हूँ; मैं कह रहा हूँ कि हर तरह के व्यक्तियों और संस्थाओं को प्रिंटिंग प्रेसों उपलब्ध कराई जाएँ। यदि मात्र निकट पड़ोसी ही उस बात को सुन, पढ़ या देख सकें तो बोलने की स्वतंत्रता का कोई खास अर्थ नहीं निकलता। प्रचार माध्यमों पर एकाधिकार के युग में मत प्रसारण के साधनों का विकेन्द्रीकरण एक प्रमुख ज़रूरत है।

मैं इससे पूरी तरह सहमत हूँ। हम यह सोचते हैं या हमें यह सोचना सिखाया गया है कि प्रेस की आज़ादी का मतलब यह है कि अखबारों या रेडियो व टीवी स्टेशनों के करोड़पति मालिक जो चाहे छापते या कहते रहें। वैसे तो निक्सन के मामले ने दिखा दिया है कि इस अधिकार की भी रक्षा की

जानी चाहिए। किन्तु प्रारम्भ में प्रेस की आज़ादी का यह अर्थ नहीं था। इसका अर्थ था *प्रेस चलाने* की आज़ादी, यानी अपने विचारों को छापने व फैलाने की आज़ादी।

मरे बॉब आगे कहते हैं:

जिस तरह से संघीय सरकार सार्वजनिक पुस्तकालयों की सहायता में कमी कर रही है, उसी पैमाने पर वह कला संस्थानों को सहायता प्रदान कर रही है। अर्थात् पुस्तकालयों को कला संस्थान बन जाने दो...।

ग्रामीण क्षेत्रों और तकरीबन 30,000 की आबादी से छोटे कस्बों (जिनको कॉलेज की मौजूदगी का गौरव हासिल नहीं है) या नए उपनगरों में कई सांस्कृतिक संस्थाओं को समर्थन देने का कोई ज़रिया नहीं है...। लिहाज़ा, वहाँ एक सांस्कृतिक स्थल का होना भी सार्थक होगा। पुस्तकालयों को पारम्परिक रूप से टैक्स में से सहयोग मिलता रहा है और तार्किक रूप से देखा जाए तो वे ही इस अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्य के लिए दी जाने वाली अतिरिक्त सार्वजनिक राशि को पाने के हकदार हैं। ...ज़ाहिर है कि यदि पुस्तकालय में एक कला वीथिका और ऑडिटोरियम की भी व्यवस्था करना है तो वहाँ सिर्फ पुस्तकालय कर्मचारियों से काम नहीं चलेगा, बल्कि वहाँ नाट्य-गान परिचालकों की भी ज़रूरत होगी।

और अन्त में वे काफी सूझबूझ से भरा प्रस्ताव देते हैं कि पुस्तकालय हर किस्म की चीज़ों को सीखने के आदान-प्रदान का केन्द्र होना चाहिए, जिसके बारे में मैं पहले ही लिख चुका हूँ।

हम मरे बॉब की इस सूची को और आगे बढ़ा सकते हैं कि एक पुस्तकालय क्या-क्या रख सकता है, क्या-क्या उपलब्ध करा सकता है, और कौन-कौन सी चीज़ें कर सकता है या करने में लोगों को मदद दे सकता है। अपनी पुस्तक *फ्रीडम एण्ड बियाँण्ड* में मैंने सुझाया था कि पुस्तकालयों को सिर्फ किताबें और कुछ दृश्य-श्रव्य सामग्री ही नहीं, बल्कि वाद्य यंत्र, व्यक्तियों व समूहों को संगीत का अभ्यास कराने के लिए कमरे, तथा विभिन्न कलाओं व दस्तकारी के लिए ज़रूरी औज़ार भी उपलब्ध कराने चाहिए। यदि इन कामों को करने के लिए सुविधाजनक व सस्ती जगह उपलब्ध हो तो कई लोग इन्हें करेंगे। अधिकांश लोग जहाँ रहते हैं वहाँ इतनी जगह ही नहीं होती कि वे वाद्य यंत्रों का अभ्यास कर सकें या चित्रकारी कर सकें या लकड़ी और धातु की चीज़ें बना सकें या

सिरेमिक्स का काम कर सकें। ज़रूरी उपकरण खरीदने के लिए पैसे की बात तो बाद में आती है। हो सकता है कि बड़े शहरों में ऐसी जगहें होती हैं जहाँ, आम तौर पर कुछ शुल्क देकर, ये चीज़ों की जा सकती हैं। किन्तु ये जगहें अधिकांश लोगों की बस्तियों से बहुत दूर होती हैं और इतनी महँगी होती हैं कि लोग इनका उपयोग नहीं कर सकते। छोटे कस्बों या उपनगरों में तो ऐसे कोई संसाधन होते ही नहीं। तब यह कोई अचरज की बात नहीं है कि कई लोग बैठे-बैठे टीवी देखकर मन बहलाते हैं। उनके पास और कुछ करने को ही नहीं है।

पुस्तकालय खिलौने, खेल, साधारण विज्ञान उपकरण, रसायन व इलेक्ट्रॉनिक किट, खेलकूद का सामान, स्केट, रैकेट वगैरह भी दे सकते हैं। मध्यम वर्ग और सम्पन्न वर्ग के बच्चे अपने खिलौनों और खेलों से बहुत कुछ सीखते हैं। गरीब बच्चों के पास ये चीज़ें बहुत कम होती हैं या बिल्कुल ही नहीं होतीं। अधिकांश सम्पन्न बच्चों के पास ज़रूरत से ज़्यादा खिलौने होते हैं। उनकी अलमारियाँ इन चीज़ों से भरी होती हैं और वे इनका उपयोग शायद ही कभी करते हैं। क्यों न इन चीज़ों को पुस्तकालयों में इकट्ठा कर लिया जाए और पुस्तकालय द्वारा स्वयं खरीदी गई चीज़ों के साथ-साथ ये भी उपलब्ध कराई जाएँ? हमारे आधुनिक समाज में कितनी सारी चीज़ों की बर्बादी होती है। क्यों न पुस्तकालयों को ऐसी जगह बनाया जाए जहाँ ये चीज़ें इकट्ठा की जा सकें और इनका उपयोग किया जा सके? और क्यों न पुस्तकालयों में न सिर्फ कला व दस्तकारी के बल्कि ऐसे औज़ार व अन्य चीज़ें भी रखी जाएँ जिनका उपयोग लोग अपने घर, कार, फर्नीचर या घरेलू उपकरणों की मरम्मत करने में या उन्हें बनाने में करते हैं? यह काम कौन करेगा? हमारे पास ऐसे लाखों लोग हैं (जिनमें से कई शिक्षक हैं) जो काम की तलाश में हैं, और अन्य कामों के विपरीत यह ऐसा काम है जिसमें ऊर्जा या कच्चा माल नहीं लगेगा, जो प्रदूषण नहीं फैलाएगा, और महत्वपूर्ण होगा। इस काम के लिए जगह कहाँ मिलेगी? जगह तो पहले से ही उपलब्ध है – उन सारे S-schools की इमारतों में जिन्हें इतना पैसा लगाकर बनाया गया है। पाँच लाख आबादी वाले एक शहर में 500 छात्रों के एक S-school में मैंने कला व दस्तकारी के इतने औज़ार देखे जितने उस पूरे शहर की वयस्क आबादी को मयस्सर नहीं थे। एक छोटे शहर में एक शिक्षा महाविद्यालय से सम्बद्ध प्रायोगिक कॉलेज भी लगभग इतना ही सुसज्जित था। क्यों ये सारी चीज़ें स्कूल और स्कूल से बाहर के उन सारे बूढ़ों-बच्चों को उपलब्ध नहीं कराई जा सकतीं जो

इनका उपयोग करना चाहें? एक कस्बे में रहने वाला मेरा एक दोस्त बताता है कि उसके कस्बे के स्कूल बहुत घटिया हैं, और उसके व उसकी जान-पहचान के अन्य बच्चों को उनसे नफरत है और वे वहाँ से छुट्टी पाना चाहते हैं। किन्तु, उसका सवाल है, ऐसी और कौन-सी जगह है जहाँ इन बच्चों को 50,000 डॉलर की कार्यशाला या वाद्य यंत्र या एथलेटिक सुविधाएँ मिलेंगी? आज की स्थिति में तो कहीं नहीं। मगर यह क्यों ज़रूरी है कि स्कूल की कार्यशाला का उपयोग करने के लिए बच्चे पूरे समय के लिए वहाँ दाखिला लें? ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि वे मात्र उस समय स्कूल जाएँ जब वे कार्यशाला का इस्तेमाल करना चाहें? और वयस्कों को भी इसके उपयोग की अनुमति क्यों न हो? टैक्स के ज़रिए सारी जनता ने इनके लिए पैसा दिया है और सारे लोगों को इनके उपयोग की इजाज़त होनी चाहिए।

पुस्तकालयों के लिए एक और प्रोजेक्ट है जो उनकी पारम्परिक भूमिका के करीब है। फ्रीडम एण्ड बियाँण्ड में मैंने एक पठन कार्यक्रम का सुझाव दिया है। बगैर किसी खर्च के या बहुत ही कम खर्च से यह कार्यक्रम बच्चों की, खासकर गरीब बच्चों की, मदद कर सकता है कि वे पढ़ने में आज से बेहतर हो पाएँगे। वैसे मैं एक बात यहाँ साफ कर दूँ कि बेहतर पढ़कर अधिकांश गरीब बच्चे सम्पन्न नहीं हो जाएँगे। गरीबी की समस्या का सम्बन्ध पढ़ने से नहीं है और बेहतर पढ़ लेने से यह समस्या हल नहीं होगी। और यह दिखावा करना एक बेरहम झूठ है कि बेहतर पढ़ने से यह समस्या हल हो सकती है या होने वाली है। किन्तु यदि पढ़ने से सफलता या धन न भी मिलने वाला हो, तो भी समझ और आनन्द के लिए पढ़ा जा सकता है।

मेरा सुझाव था कि कुछ “वाचन गाइड” हों। ये स्वयंसेवक होंगे। कॉलेज या हाई स्कूल के छात्र या उससे भी छोटे बच्चे, बशर्ते कि उन्हें पढ़ना आता हो, वाचन गाइड हो सकते हैं। वैसे तो गृहिणियाँ, बुजुर्ग और सेवानिवृत्त लोग, पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्किंग स्थल के चौकीदार या अन्य कोई भी ऐसा व्यक्ति वाचन गाइड हो सकता है जिसका सम्पर्क बच्चों या ऐसे लोगों से होता हो जो पढ़ नहीं पाते। ये गाइड पहचान के लिए कोई चिन्ह, कोई बाजूबन्द, या टोपी या बिल्ला वगैरह लगाएँगे ताकि मदद चाहने वाले उन्हें आसानी से पहचान सकें। समझ यह होगी कि जब किसी गाइड ने पहचान चिन्ह लगाया हुआ है तब कोई भी व्यक्ति चाहे तो उससे दो किस्म के सवाल पूछ सकेगा। वह उसे कोई लिखित शब्द दिखाकर पूछ सकता है

कि “यह क्या लिखा है?” गाइड इसका जवाब देगा। या वह गाइड से यह पूछ सकता है कि “अमुक-अमुक शब्द कैसे लिखते हैं?” गाइड उसे यह शब्द लिखकर दिखाएगा। गाइड को बस इतना ही करना है।

इस कार्यक्रम को शुरू करने या चलाने के लिए लगभग कोई खर्च नहीं होगा। गाइड का परीक्षण कैसे होगा? कोई ज़रूरत नहीं। यह कतई ज़रूरी नहीं है कि गाइड को सारे शब्द पढ़ना या लिखना आता हो। वैसे भी उससे जो शब्द पूछे जाएँगे वे ज़्यादातर आसान ही होंगे। और यदि किसी ने कोई ऐसा शब्द पूछ ही लिया जो उसे नहीं मालूम है तो वह कह सकता है, “मुझे नहीं मालूम है, आप किसी दूसरे गाइड से पूछ लीजिए।” कोई स्कूल, कोई चर्च, पालकों का कोई समूह या छात्र इस कार्यक्रम को शुरू कर सकते हैं। जहाँ तक मुझे पता है किसी ने भी इस कार्यक्रम को नहीं अपनाया है। शायद समय के साथ जब स्कूलों के वाचन कार्यक्रम महँगे होते जाएँगे और बुरी तरह नाकाम होंगे, तब कोई इस कार्यक्रम को उठाएगा। जब ऐसा होगा तो इस तरह के कार्यक्रम के लिए एक अड्डा ज़रूरी होगा, जहाँ लोग इसके बारे में जान सकें, पता कर सकें कि इसमें कैसे शरीक हों, ज़रूरी बिल्ले या अन्य पहचान चिन्ह प्राप्त कर सकें, शायद कार्यक्रम के कामकाज की चर्चा कर सकें, और इसमें सुधार करने तथा इसे अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के बारे में विचार कर सकें। कोई पुस्तकालय या किसी पुस्तकालय की कोई शाखा इसके लिए मुनासिब जगह होगी।

मरे बॉब ने कहा था, और यकीनी तौर पर पुस्तकालय से जुड़े अन्य कई लोग कहते हैं, कि उप-पुस्तकालय ज़्यादा होने चाहिए। यह एक अच्छा विचार है, मगर यदि हम कम आमदनी वाले व गरीब लोगों के नज़दीक कुछ पठन सामग्री रखना चाहते हैं तो ज़रूरत उप-पुस्तकालयों से कहीं ज़्यादा की है। आज जिस तरह के उप-पुस्तकालय हम देखते हैं वे इतने महँगे हैं कि उन्हें पूरे शहर में उपलब्ध कराना मुश्किल है। हमें दरअसल ज़रूरत मिनी पुस्तकालयों की है जहाँ अखबारों, पत्रिकाओं और पेपरबैक किताबों का भण्डार हो, मगर महँगी सन्दर्भ सामग्री या विस्तृत फाइलें वगैरह न हों, जो औपचारिक पुस्तकालयों में अमूमन पाई जाती हैं। ये मिनी पुस्तकालय काफी कम जगह में बन सकते हैं, जैसे किसी स्टोर का अगला भाग या किसी चर्च का तहखाना। यह भी हो सकता है कि हम इन्हें किसी पुराने ट्रक या बस के पिछले भाग में जमा दें और एक नियमित कार्यक्रम के मुताबिक पूरी बस्ती में जगह-जगह ले जाएँ। लोगों को पता

रहेगा कि सप्ताह या महीने के किस दिन मिनी पुस्तकालय ऐन उनके मोहल्ले में होगा। यहाँ उनके लिए और उनके बच्चों के लिए इसका इस्तेमाल करना आसान होगा।

कुछ समय से ऐसे सचल पुस्तकालय (जिन्हें बुकमोबाइल कहते हैं) अस्तित्व में रहे हैं। मगर इनमें इतना तामझाम होता है और ये इतने महँगे होते हैं कि कोई भी पुस्तकालय तंत्र इन्हें पूरे शहर में नहीं फैला सकता। मुझे पता चला कि कुछ सचल पुस्तकालयों की लागत 15,000 डॉलर से भी ज़्यादा है। इस काम को काफी कम लागत में किया जा सकता है। मैं एक अत्यन्त कल्पनाशील व जुगाडु महिला डार्लिन इर्था को जानता हूँ जो एक ऐसे देहाती इलाके में रहती थीं जहाँ पुस्तकालय बहुत कम थे, और अधिकांश लोगों को पढ़ने के लिए सामग्री नहीं मिलती थी। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने तय किया कि इस बारे में कुछ करना चाहिए। उन्हें किसी ने एक पुरानी स्कूल बस दे दी (खरीदने पर यह करीब 800 डॉलर की पड़ती)। करीब 500 डॉलर और खर्च करके उन्होंने इसमें ज़रूरी मरम्मत करवा ली। फिर लगभग 100 डॉलर का सामान लेकर उन्होंने खुद और दोस्तों की मदद से सीटें निकालकर बस में ऐसी फिटिंग कर ली कि वह एक पुस्तकालय और पैपरबैक किताबों की दुकान बन गई। उन्होंने इस बस को नाम दिया “किताबी कीड़ा” और दोनों तरफ एक विशाल हरे कीड़े का चित्र बना दिया। इन कीड़ों की आँखें बस की हेडलाइट थीं। जब तक वे इस इलाके में रहीं, नियमित रूप से इस बस को इलाके के कई गाँवों में ले जाती रहीं।

एक बार हम इस विचार से निजात पा लें कि हर चीज़ नई, चमचमाती और खास उसी काम के लिए बनी होनी चाहिए, तो हम इस तरह के काम काफी कम खर्च में बड़े पैमाने पर गाँव और शहर दोनों जगह कर सकते हैं। पुराने ट्रक और बसें खूब मिल जाएँगी जिन्हें नया रूप दिया जा सकता है। जब मैं यह लिख रहा हूँ तभी बॉस्टन के डाकघर ने अपने पुराने ट्रक नीलाम करने का ऐलान किया है। इनमें से कई मिनी पुस्तकालयों के लिए बढ़िया होंगे। कई लोग यह काम कर सकते हैं और करना चाहेंगे। एक बार फिर कह दूँ कि ऐसे कार्यक्रमों से गरीब लोग सम्पन्न नहीं हो जाएँगे और न ही उन्हें नौकरियाँ मिल जाएँगी। किन्तु हो सकता है कि उनका जीवन थोड़ा दिलचस्प बन जाए; शायद उन्हें अन्य सामूहिक कार्यों के विचार मिल जाएँ जिनसे उनके समुदाय व बस्तियाँ बेहतर बन सकें।

मेरे बाँब ने जिन विचारों पर लिखा है उनमें से “पॉपुलर प्रेस” का विचार शायद सबसे रोमांचक है। मैं कुछ समय से इसके बारे में सोचता रहा हूँ और छोटे रूप में इसे करता भी रहा हूँ। पिछले कई वर्षों से मेरे दफ्तर में हम काफी सारे लेखों को थोड़े छोटे आकार में फिर से छापकर लोगों को मुफ्त या लागत मूल्य पर भेजते रहे हैं। ये लेख शिक्षा और लोगों की रुचि के अन्य विषयों से सम्बन्धित होते हैं। एक लेख की तो हमने 50,000 प्रतियाँ भेजी हैं। इस काम में हम व्यावसायिक मुद्रकों का उपयोग करते हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ तकनॉलॉजी ने एक ऐसी मशीन बनाई है जिसका उपयोग साधारण लोग अपने काम के लिए कर सकते हैं। हमारी गली के नुककड़ पर एक व्यावसायिक प्रतिलिपि व मुद्रण केन्द्र है। ऐसे केन्द्र शहर में जगह-जगह पर हैं। अन्य चीज़ों के अलावा यहाँ एक कॉपी मशीन है जो एक ही बार में किसी पाठ्य वस्तु की नकल भी करती है और उसे आकार में (15, 23 या 35 फीसदी) छोटा भी कर देती है। इसने प्रकाशन को लोगों की पहुँच में ला दिया है। ज़रा इन आँकड़ों पर गौर कीजिए। 8.5x11 इंच के एक पन्ने पर करीब 1000 शब्द टाइप किए जा सकते हैं। इस मशीन की मदद से हम इसका साइज़ इतना कम कर सकते हैं कि इससे दुगने शब्द समा जाएँ। एक पन्ने की ऐसी 10 प्रतियाँ निकालने पर एक प्रति का खर्च 7.4 सेंट आता है। 100 प्रतियाँ निकालने पर एक प्रति का खर्च 2.64 सेंट और 1000 प्रतियाँ निकालने पर 1.6 सेंट आता है। पन्ने के दोनों तरफ मिलकर करीब चार हज़ार शब्द आ जाते हैं। यह किसी भी पत्रिका के सामान्य आलेख के बराबर है। इसकी एक प्रति की लागत चार से 15 सेंट के बीच होती है। वास्तविक लागत इस बात पर निर्भर करती है कि हम कितनी प्रतियाँ बनवाते हैं। यदि कागज़ के दोनों तरफ छापें तो बीस कागज़ों पर करीब अस्सी हज़ार शब्द आ जाएँगे जो कि किसी भी सामान्य आकार की किताब के बराबर है। इसकी लागत होगी 80 सेंट से 3 डॉलर के बीच। आज सबसे सस्ती पेपरबैक किताब भी 80 सेंट से ज़्यादा में पड़ती है। कुछ तो इससे भी महँगी होती हैं। मतलब यह है कि जो लोग कुछ कहना चाहते हैं, वे व्यावसायिक मुद्रकों के ज़रिए भी पेपरबैक की कीमत पर या उससे भी कम में अपनी किताब छाप सकते हैं। हो सकता है कि यह उतनी सुन्दर न दिखे। और उन्हें इसे पाठकों के हाथ में पहुँचाने का कोई तरीका निकालना होगा। यह एक ऐसी समस्या है जिसे सुलझाने के कई तरीके हो सकते हैं।

इस तरह की कुछ सुविधा पुस्तकालयों में लोगों को निशुल्क इस्तेमाल के

लिए उपलब्ध कराई जा सकती है। वहाँ इलेक्ट्रिक टाइपराइटर या कम्पोज़िंग मशीन भी रखी जा सकती है जिस पर लोग अपनी मूल प्रति तैयार कर सकें। व्यावसायिक प्रकाशक तो बड़े बाज़ार पर ध्यान देंगे, जैसा कि वे आज भी करते हैं। हो सकता है कि यदि कोई लेखक अपनी एकाध रचना या किताब प्रकाशित करने के बाद यह दिखा सके कि इसे कई पाठक खरीद चुके हैं तो कोई व्यावसायिक प्रकाशक उसे प्रकाशित करने के लिए राज़ी हो जाए।

इस तरह की मुफ्त प्रेस गरीब और कम आमदनी वाले तबकों के लिए बहुत उपयोगी हो सकती है। ये समुदाय विशाल मुद्रित माध्यम से कमोबेश बाहर ही हैं, और ये इतने बड़े व सम्पन्न भी नहीं हैं कि स्वयं अपनी व्यावसायिक प्रेस चला सकें। लिहाज़ा उनके पास कोई आवाज़ नहीं है जिससे वे एक-दूसरे से या बाहरी दुनिया से बात कर सकें। इसके चलते वे अलग-थलग, विखण्डित और राजनैतिक रूप से कमज़ोर हो जाते हैं और बने रहते हैं। यदि वे अपने साझा सरोकारों के बारे में एक-दूसरे से बात कर सकें और बाहर के लोगों को इनसे परिचित करा सकें तो शायद उनमें कहीं ज़्यादा भावनात्मक एकता होगी, और वे राजनैतिक व आर्थिक दृष्टि से कहीं ज़्यादा कारगर होंगे। इसके अलावा इन समुदायों के लोग कई बार यह शिकायत करते हैं, और सही ही करते हैं, कि स्कूल में उनके बच्चों को ऐसे पाठ पढ़ना पड़ते हैं जिनमें मध्यम वर्गीय, एंग्लो सैक्सन, उपनगरीय जीवन और संस्कृति की बातें होती हैं जिससे उनके बच्चे बिल्कुल नावाक़िफ़ होते हैं। यदि इस तरह की मुफ्त प्रेस उपलब्ध हो तो ये लोग अपने बच्चों के साथ इन स्कूलों के लिए ऐसे कई पाठ लिख सकते हैं जो उनके बच्चों को रोचक, सार्थक और उपयोगी लगेंगे। या शायद वे स्कूल से बाहर इस्तेमाल के लिए ऐसी किताबें बना सकते हैं। हो सकता है कि शुरू-शुरू में ये पाठ बहुत अच्छे नहीं होंगे। यदि ऐसा हुआ तो लोग इनका उपयोग करना बन्द कर देंगे और इनके लेखकों को बता देंगे कि इनमें क्या गड़बड़ थी और इन्हें ज़्यादा उपयोगी बनाने के लिए क्या परिवर्तन करने होंगे। एक बार यह विचार लोगों की पकड़ में आ जाए कि कोई भी व्यक्ति अन्य लोगों के पढ़ने के लिए अपने विचार लिख सकता है, तो इससे आधुनिक समाज में भारी बदलाव आ सकते हैं। इस तरह की लोक-प्रेस पढ़ने-लिखने में लोगों की रुचि बढ़ाने में जितना योगदान देगी उतना स्कूलों के तमाम कोर्स मिलकर भी नहीं दे सकते।

अन्य संसाधन

कई व्यावसायिक प्रकाशन – कुछ कम, कुछ ज़्यादा सीमा तक – करने वालों के लिए संसाधन हैं। अखबारों का वर्गीकृत विज्ञापन वाला खण्ड इसका एक उदाहरण है। *पॉपुलर साइंस*, *पॉपुलर मेकेनिक्स* जैसी पत्रिकाएँ बरसों से “खुद करो” स्तम्भ प्रकाशित कर रही हैं, जिसमें कार की मरम्मत करना, या खिलौने या फर्नीचर या नाव बनाना, या मकान को नए सिरे से बनाना जैसी चीज़ें होती हैं। पाक शास्त्र की किताबें भी करने वालों के लिए संसाधन हैं या हो सकती हैं। तमाम कम्पनियाँ चीज़ें बनाने या सुधारने की कुंजियाँ छापती हैं। रोडेल प्रेस ने अपनी पत्रिका *ऑर्गेनिक गार्डनिंग* और कई किताबों के माध्यम से लोगों को अपने बगीचों में ज़्यादा व बेहतर चीज़ें उगाने में मदद दी है। हम ऐसे अनगिनत उदाहरण जोड़ सकते हैं।

पिछले दसके साल पत्रिकाओं के लिए काफी मुश्किल रहे हैं। कई बड़ी व मशहूर पत्रिकाओं – *कोलिअर्स*, *लाइफ*, *लुक* वगैरह – का बिस्तर गोल हो गया है। कई अन्य पत्रिकाएँ अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं। अलबत्ता, इसी दौर में कुछ असाधारण सफलताएँ भी रही हैं। इनमें से दो का ज़िक्र मैं यहाँ करना चाहता हूँ क्योंकि ये करने वालों के लिए संसाधन के रूप में ही सोची गई थीं और आज भी हैं। पहली तो यकीनन *होल अर्थ कैटलॉग* है जो आज अंग्रेज़ी-भाषी दुनिया के एक बड़े हिस्से में जानी-मानी पत्रिका होगी। *मदर अर्थ न्यूज़* अपेक्षाकृत नई व छोटी पत्रिका है, मगर तेज़ी से बढ़ रही है। दोनों ही विविध लोगों के एक बड़े समूह द्वारा एक बड़े समूह के लिए लिखी जाती हैं। इनमें अधिकांश लोग चालीस से कम उम्र के हैं, जो एक ऐसी सभ्यता में जो उन्हें (और मुझे भी) बिखरती हुई व स्वयं को नष्ट करती नज़र आती है जीने व काम करने के नए तरीके खोजना, उन्हें दोष रहित बनाना और शायद फैलाना चाहते हैं। इन पत्रिकाओं की सबसे नई व बुनियादी बात यह थी कि इन्होंने लेखकों व विशेषज्ञों और पाठकों के बीच के कृत्रिम अवरोध को मिटा दिया। इन पत्रिकाओं में पाठक ही लेखक थे। यहाँ कोई छोटा अन्दरूनी समूह नहीं था जो किसी बड़े बाहरी समूह से कुछ कहता हो। यहाँ तो लोग आपस में विचारों, जानकारी और, जैसा कि *होल अर्थ कैटलॉग* कहता है, “साधनों तक पहुँच” का आदान-प्रदान कर रहे थे, जो शायद उन्हें अपने लिए मनचाहा जीवन और काम बनाने में मददगार होंगे। परम्परागत पत्रिकाएँ काफी समय से लोगों की राय व राजनीति को बदलने का प्रयास

करती आ रही थीं। ये दो उन पहली-पहली पत्रिकाओं में से थीं जो लोगों को अपना जीवन बदलने में मदद देने से सरोकार रखती थीं। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ये पत्रिकाएँ लोगों को यह नहीं बताती थीं कि वे क्या करें, बल्कि उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में लाने में मदद करती थीं। इलिच जिसे नेटवर्क कहते हैं, ये उसकी अच्छी मिसाल थीं और हैं। ये एक तरह का लर्निंग एक्सचेंज हैं, मुद्रित रूप में। ये कुछ और मायनों में भी लकीर से हटकर हैं। इनमें हर पृष्ठ पर ढेरों शब्द व जानकारी ठसाठस भरी होती है और ये बहुत ही सस्ती साज-सज्जा व प्रारूप का उपयोग करती हैं। *होल अर्थ कैटलॉग* की साज-सज्जा तो लकीर से बहुत हटकर होती है। इसके अलावा ये विज्ञापनदाताओं के भरोसे नहीं, अपने पाठकों के भरोसे चलती हैं। *मदर अर्थ न्यूज़* में बहुत थोड़े से विज्ञापन होते हैं जबकि *होल अर्थ कैटलॉग* में बिल्कुल नहीं।

होल अर्थ कैटलॉग के मॉडल के आधार पर कई शहरों के लोगों ने ऐसी निर्देशिकाएँ प्रकाशित की हैं जिनमें उन लोगों को अपनी ज़रूरत के साधन व संसाधन मिल सकते हैं जिनके पास ज़्यादा पैसा नहीं है और जिनका जीवन व काम अपारम्परिक ढंग का है। बॉस्टन में ऐसी अधिकांश जानकारी दो अखबारों, *फ़ीनिक्स* और *रीयल पेपर*, में मिल सकती है। ये दोनों थोड़े रेडिकल हैं, थोड़ा कीचड़ उछालने वाले हैं, मगर दोनों ही युवा लोगों से मुखालिब हैं। वैसे थोड़ा ज़्यादा स्थापित व रूढ़िगत अखबार *बॉस्टन ग्लोब* भी इस तरह की कुछ जानकारी देता है। *होल अर्थ कैटलॉग* के अन्य वंशज यहाँ-वहाँ व्यावसायिक प्रेस में देखे जा सकते हैं। महिला आन्दोलन की पत्रिका *एमएस (MS)* वैसे तो अपने प्रारूप या ज़मीन पर लौटने की इच्छा के मामले में कदापि *होल अर्थ कैटलॉग* या *मदर अर्थ न्यूज़* जैसी नहीं है। किन्तु एक मायने में यह उनके जैसी है: यह उन महिलाओं के लिए एक संसाधन और जानकारी का एक्सचेंज है जो पुरुषों द्वारा नियंत्रित इस समाज में जीवन के पुराने तौर-तरीकों से मुक्त होने की और कानूनी, सामाजिक व निजी बराबरी हासिल करने की कोशिश कर रही हैं।

मदर अर्थ न्यूज़ के ताज़ा अंक (क्रमांक 36) में इंस्टीट्यूट फॉर लोकल सेल्फ रिलायंस के बारे में बताया गया है। यह बगैर मुनाफे का एक संगठन है जिसे टैक्स में कुछ रियायत मिलती है। इसका मकसद ऐसी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व पर्यावरण की दृष्टि से उपयुक्त शहरी बस्तियाँ गठित करना है जो उन्हीं में रहने वाले व्यक्तियों व परिवारों के अधीन काम करें।

अब तक इंस्टीट्यूट का काम शहर की अन्दरूनी बस्तियों में खाद्य उत्पादन, प्रोसेसिंग व वितरण और कचरे की रीसायक्लिंग के नए-नए तरीके विकसित करना तथा सौर ऊर्जा का उपयोग करना रहा है। फिलहाल ऐसा काफी काम वॉशिंगटन डी.सी. के एडम्स-मॉर्गन इलाके में चल रहा है।

भारत में किसी बड़े सरकारी संस्थान या विश्वविद्यालय की मदद के बगैर जानकारी के आदान-प्रदान का एक नेटवर्क चल रहा है। इसमें साधारण, गरीब और यहाँ तक कि अनपढ़ किसान या ग्रामीण लोग खाद्य उत्पादन, आवास निर्माण, पानी प्राप्त करने के बेहतर तरीकों के बारे में विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं, और रोज़मर्रा की समस्याओं को हल करने की बातें कर सकते हैं। चूँकि इस नेटवर्क में अधिकांश लोग पढ़ नहीं सकते, इसलिए वे एक-दूसरे को जो भी जानकारी भेजते हैं वह शब्दों के अलावा साधारण रेखाचित्रों के माध्यम से भी समझाई जाती है।

अमरीका और शायद कई अन्य देशों में लोग, व्यापारिक व नगदी अर्थ व्यवस्था के बाहर, अपने हुनरों का आदान-प्रदान करने और अपनी ज़रूरतों की पूर्ति करने के तरीके खोज रहे हैं। कई शहरों में भोजन-खरीद सहकारी समितियाँ हैं। इनके सदस्य अपने भोजन पर 20-30 फीसदी की बचत कर लेते हैं। ऐसे सहकारी गैरेज भी हैं जहाँ लोग अपनी कार खुद सुधार सकते हैं। इसके लिए वे गैरेज के औज़ारों का इस्तेमाल तो करते ही हैं, ज़रूरत पड़ने पर उन्हें सलाह भी मिल जाती है। महिला आन्दोलन ने कई सारे स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किए हैं। यहाँ महिलाएँ अपनी उन स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी ज़रूरतों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकती हैं, साझा कर सकती हैं जिनकी पूर्ति पुरुष वर्चस्व से ग्रस्त चिकित्सा व्यवसाय नहीं करता या ठीक से नहीं करता। कैम्ब्रिज, मैसाच्युसेट्स में फ्रेमवर्कस् नामक एक दुकान है। यहाँ लोग अपने फोटो व चित्रों का फ्रेम खुद बना सकते हैं। इसके लिए वे दुकान के औज़ारों का उपयोग कर सकते हैं और पेशेवर मदद भी ले सकते हैं।

अमीर-गरीब सारे आधुनिक देशों में आवास सबसे बड़ी अपूरित मानवीय ज़रूरत है। लिहाज़ा, शेल्टर इंस्टीट्यूट (72 Front St, Bath, Maine 04530) मुझे करने वालों के लिए सबसे रोमांचक संसाधनों में से एक लगता है। यहाँ जाकर लोग सिद्धान्त रूप में और *व्यावहारिक तौर पर* पता लगा सकते हैं कि खुद अपना घर या खलिहान या गैरेज कैसे बनाएँ।

इंस्टीट्यूट का अपना एक पुस्तकालय है, और एक किताब की दुकान है जहाँ मकान बनाने के हर पहलू पर किताबें हैं। इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि यह इंस्टीट्यूट भावी मकान निर्माताओं के लिए दो कोर्स चलाता है। एक तीन सप्ताह तक चलने वाला 45 घण्टे का बुनियादी कोर्स है, और एक छोटी अवधि की डिज़ाइन कार्यशाला है। इसके साथ किसी बनते हुए मकान पर व्यावहारिक अनुभव का मौका भी मिलता है। उनके बुलेटिन में इन दोनों का विवरण इस प्रकार दिया गया है:

बुनियादी कोर्स: 45 घण्टे। कोई पूर्व ज्ञान अपेक्षित नहीं। प्रत्येक व्यक्ति पर ध्यान दे पाने की दृष्टि से दाखिले सीमित। इस कोर्स में भवन सामग्री सम्बन्धी यांत्रिकी और भौतिकी, मिट्टी की जलवायु, और सौर प्रभाव के बारे में बताया जाता है, ताकि छात्र ऐसा मौलिक डिज़ाइन बना सके जो उसकी ज़रूरतों को पूरा करे और उससे प्राकृतिक परिवेश का पूरा लाभ लिया जा सके। दूरगामी सफलता के लिए दूरगामी परिप्रेक्ष्य: यदि भूजल स्तर घट रहा है तो क्या फ्लश टॉयलेट ठीक होगा? क्या आपकी आमदनी तेल की बढ़ती कीमतों के अनुपात में बढ़ती रहेगी, या क्या दूरगामी सुरक्षा की दृष्टि से एक सौर-लकड़ी ऊष्मा पर आधारित डिज़ाइन बेहतर होगा? फ्रेमिंग, वायरिंग और नलसाज़ी के सारे सामान्य तौर-तरीकों का अध्ययन किया जाता है, और विकल्पों की भी बात होती है ताकि छात्र मानक, सीमित व महँगे व्यापारिक तौर-तरीकों से मुक्त हो सके। कोइस पर सावधानी से विचार किया जाता है। सारा गणित चरणबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, जैसे बोझ सह पाने की क्षमता की उचित गणना हेतु रेशों के प्रतिबल के आधार पर झुकाव आघूर्ण का आकलन। कोर्स का ढाँचा निर्माण के क्रम में है, यानी जगह का चुनाव, पानी और अन्य ज़रूरी चीज़ों का बन्दोबस्त, सड़क निर्माण, डिज़ाइन का मनोविज्ञान, मैदान को लीच करने के लिए विभिन्न भवन तंत्र और वैकल्पिक कचरा निपटान व्यवस्थाएँ। 200 डॉलर, 300 डॉलर प्रति युगल।

डिज़ाइन कार्यशाला: आम तौर पर बुनियादी कोर्स के बाद करते हैं, मगर यह कोई ज़रूरी नहीं है। इसका मकसद छात्र को उसके आवास-डिज़ाइन के विकास में मदद व मार्गदर्शन देना है। एक बार फीस देकर असीमित समय तक सप्ताह में एक बार डिज़ाइन सत्र में भाग ले सकते हैं। सत्र का प्रारूप निम्नानुसार होगा: 1) छात्र द्वारा डिज़ाइन का प्रस्तुतीकरण और उस पर समूह में चर्चा; 2) विशिष्ट

समस्याओं को उभारना ताकि समूह उन पर सुझाव दे सके; 3) कुछ सामान्य रुचि के विषयों की प्रस्तुति, जैसे सौना कैसे बनाएँ या पोर्टबल सुअरशाला कैसे बनाएँ। सत्रों के अन्त में छात्र अपने मकान का ब्लू प्रिंट बना लेंगे और एक छोटा मॉडल बनाकर लागत का अनुमान तैयार कर लेंगे। इंस्टीट्यूट स्टाफ के अलावा मेहमान वास्तुशास्त्री, सामग्री विशेषज्ञ, बैंक कर्मचारी और अन्य पेशेवर भी कोर्स में भाग लेंगे। साप्ताहिक, कोई समय सीमा नहीं, 100 डॉलर प्रति मकान।

इन कोर्सों में बैठने के बाद बहुत से लोगों ने, जिन्हें इससे पूर्व निर्माण का कोई अनुभव नहीं था, अपने लिए मज़बूत, आरामदेह और साल भर काम आने वाले मकान (क्योंकि मेन में कड़ी सर्दी पड़ती है) बना लिए हैं। इन मकानों की कीमत व्यापारिक तौर पर बनाए गए मकानों की कीमत का एक-तिहाई या उससे भी कम थी। ऐसे साधनों की मदद से कई लोग, जो व्यापारिक तौर पर उत्पादित मकान का खर्च वहन नहीं कर सकते, स्वयं अपना मकान बना सकेंगे या पुराने मकान में सुधार कर सकेंगे।¹ और यह सिर्फ गाँवों और उपनगरों की बात नहीं है। समय के साथ ऐसे साधनों की मदद से हमारे प्रमुख शहरों में रहने वाले लोग भी स्वयं के लिए ठीक-ठाक घर बना सकेंगे, जो हमारा समाज, उद्योग और सरकार उपलब्ध नहीं करा पाए हैं, और शायद कभी नहीं करा पाएँगे।

1. इस विषय पर जॉन टर्नर और रॉबर्ट फिक्टर की *फ्रीडम टु बिल्ड* एक महत्वपूर्ण पुस्तक है।

खेलकूद के संसाधन

खेलकूद एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ हमें कुछ संसाधनों की ज़रूरत है। हम इन्सान सक्रिय, चपल और खेलकूद-प्रिय जीव हैं। खेलों और खेलकूद में हम अपने कुछ चरम क्षणों का, रोमांच, जीवन्तता और उल्लास से भरे कुछ पलों या कुछ घण्टों का अनुभव करते हैं। गैर-पेशेवर और अनौपचारिक खेल ज़्यादा होंगे तो कई लोगों को खुशनुमा जीवन जीने में मदद मिलेगी।

इस बारे में तो काफी कुछ कहा गया है कि दौड़ने से हम चुस्त-दुरुस्त रहते हैं। मगर यह आनन्द और सुकून भी देता है, और चिन्तन-मनन करने में भी मददगार हो सकता है। यदि जगह मिले तो कई सारे और लोग भी दौड़ सकते हैं, दौड़ने का लुत्फ उठा सकते हैं। कई शहरी बगीचों में चलने व दौड़ने के लिए रास्ते होते हैं। बॉस्टन में चार्ल्स नदी के किनारे आप करीब तीन मील दौड़ सकते हैं। कुछ लोग पास के स्कूल के ट्रैक पर दौड़ सकते हैं। किन्तु अधिकांश लोगों के दौड़ने के लिए अच्छी जगह नहीं है। यदि वे शहर में दौड़ने की कोशिश करें तो उन्हें ट्रैफिक और बत्तियों के कारण बार-बार रुकना पड़ेगा। कुछ इलाकों में उन्हें अपनी सुरक्षा की चिन्ता सताएगी। उपनगरों में, जहाँ फुटपाथ बहुत कम हैं, वहाँ लोगों को लगातार कुत्तों और कारों का ध्यान रखना पड़ेगा। अधिकांश जगहों पर उन्हें लगेगा कि लोग उन्हें सनकी समझ रहे हैं। यह विचार किसी को भी रोकने के लिए काफी है। हमें अन्दर और बाहर खुले में, दोनों जगह दौड़ने के लिए अधिक ट्रैक और रास्ते चाहिए।

सायकिल चलाना एक और अच्छी कसरत है, तथा शहर में जगह-जगह जाने का अच्छा साधन भी है। कई बरसों तक बॉस्टन में सायकिल चलाने वालों और नियमित रूप से कार चलाने वालों के बीच रेस हुआ करती थी। सायकिल चालक और कार मालिक कारवाले के घर पर मिलते थे, और वहाँ से एक साथ शहर के लिए निकलते थे। फिर वे कार मालिक

के दफ्तर पर जाकर मिलते थे। लगभग हर बार सायकिल सवार ही जीतते थे। मगर इस देश में सायकिल की सवारी मुश्किल और खतरनाक है। कुछेक कार चालक ही सायकिलवालों का ख्याल रखकर उन्हें थोड़ी जगह दे देते हैं। किन्तु कई तो ऐसे सलूक करते हैं गोया सायकिलवालों को सड़क पर होने का कोई हक ही नहीं है, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो सायकिलवालों को जानबूझकर सड़क से बाहर धकेलने की कोशिश करते हैं। डेनमार्क में कई सड़कों के किनारे 3-6 फुट चौड़ी एक और सड़क होती है जो सायकिलों (कभी-कभी मोटर की मदद से चलने वाली सायकिलों) के लिए आरक्षित होती है। हमें और ज़्यादा सायकिल मार्गों की ज़रूरत है, और ऐसे कानूनों की ज़रूरत है जो कम से कम कुछ सड़कों पर और दिन के कुछ घण्टों के लिए सायकिल को वरीयता दें।

बर्फ पर और रोलर पर स्केटिंग भी बहुत अच्छा व्यायाम है। और फिगर स्केटिंग तो बहुत ही सुन्दर व ज़ोरदार खेल है। इसके लिए हमें कई सारे इनडोर और आउटडोर रिंग चाहिए। इनमें से कुछ कृत्रिम हो सकते हैं, और कुछ ऐसी कुदरती सपाट जगहें हो सकती हैं जहाँ जाड़ों में पानी भर दिया जाए, बस। बॉस्टन के सार्वजनिक बाग में स्वान पॉण्ड जाड़ों में बहुत जल्दी जम जाता है, और कई लोग वहाँ स्केटिंग करते हैं। किन्तु यह शहर बर्फ को अच्छी हालत में रखने के लिए कुछ नहीं करता, और नतीजा यह होता है कि थोड़े से हिमपात या बर्फ के थोड़ा पसीजने के बाद लोग इस पर स्केटिंग नहीं कर सकते। बर्फ के रिंग की बजाय बाहर कांक्रीट के रोलर स्केटिंग रिंग बनाना ज़्यादा सस्ता पड़ेगा, और इसके रख-रखाव की भी बहुत ज़रूरत नहीं होगी।

तैरना और पानी में खेल-खिलवाड़ भी एक मज़ेदार और अच्छी कसरत होती है। खासकर बच्चों को इसमें बहुत मज़ा आता है। हमारे कई बड़े शहर नदियों, झीलों या समुद्रों के किनारे हैं, और यदि हमने इन्हें बुरी तरह प्रदूषित न किया होता या हम इन्हें फिर से साफ कर सकते, तो हम इनमें तैर सकते थे, जैसे शिकागोवासी अब मिशिगन झील में तैरते हैं। वैसे हमें बहुत सारे स्विमिंग पूल भी चाहिए। ज़्यादा पूल, कम स्कूल। यह ज़रूरी नहीं कि ये स्विमिंग पूल गहरे, बड़े और महँगे ही हों। मध्य बॉस्टन में मुझे सिर्फ दो पूल पता हैं जहाँ आम लोग जाड़ों में तैर सकते हैं। मगर मैंने देखा कि इंग्लैण्ड के कई छोटे शहरों में भी एक या अधिक सार्वजनिक पूल हैं जो अक्सर चौबीसों घण्टे खुले रहते हैं। आइसलैण्ड में रेकजाविक शहर की आबादी कुल एक लाख है और वहाँ कई सार्वजनिक पूल हैं।

बॉस्टन में गर्मियों का एक ज़बरदस्त संसाधन बॉस्टन कॉमन में फ्रॉग पॉण्ड है। यह एक बड़ा – शायद दो सौ फुट लम्बा – गुदों के आकार का जल विचरण तालाब है (इसमें मेंढक नहीं हैं)। यह अधिकतम तीन फुट गहरा है, और इसकी गहराई इतनी हौले-हौले बढ़ती है कि छोटे बच्चे भी इसमें निडर होकर खेल सकते हैं। उन्हें गहरे पानी में पहुँचने के लिए इतना चलना पड़ेगा कि वे अचानक गहरे पानी में लुढ़क नहीं सकते। पानी खुद ही उन्हें यह बता देता है कि वे कहाँ तक जा सकते हैं, इसलिए उन पर लगातार नज़र रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। एक सिरे पर एक बड़ा फव्वारा है जो हवा में पानी की गोलाकार फुहार फेंकता है। चारों तरफ बेंचें लगी हुई हैं। गर्मियों में किसी भी दिन वहाँ आपको दर्ज़नों बच्चे दिखेंगे। एक वर्ष से लेकर बारह वर्ष या उससे भी बड़े। खेलते, पानी छपछपाते, किलकारियाँ मारते, और गहरे पानी में तैरते। दूसरी ओर, उनकी माँएँ और रिश्तेदार किनारे पर गपशप करते, बुनाई करते या अखबार पढ़ते बैठे रहते हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं करनी होती कि तालाब में क्या चल रहा है। ऐसे और पूल बनाने में ज़्यादा खर्च नहीं होगा। फव्वारे को चलाने वाली मोटर और पम्प ही एकमात्र उपकरण है इसमें। रख-रखाव का खर्च भी बहुत कम है। ऐसे तो कई पूल हो सकते हैं।

बगैर पूल के फव्वारे भी लोगों के इकट्ठा होने, गपशप करने और खेलने के लिए बढ़िया स्थान हो सकते हैं। ऑरेगॉन के पोर्टलैण्ड शहर में एक नया फव्वारा सामाजिक केन्द्र बन गया है। इसने शहर के हृदय में जान डाल दी है। कई युवा लोग फव्वारे पर अपने दोस्तों से मिलने जाते हैं, उसमें खेलने जाते हैं, जबकि कई लोग फव्वारा देखने जाते हैं। हमारे बॉस्टन के फव्वारे, एक कोपले चौराहे पर और दूसरा सिटी हॉल के पास, इतने कल्पनाशील (और मँहंगे) नहीं हैं, फिर भी ये इन सार्वजनिक जगहों में जान डाल देते हैं जो वैसे काफी सड़ और भौण्डी हैं। आज दोपहर जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, क्रिश्चियन साइंस सेन्टर के छल्लाकार फव्वारे (जो इस सेन्टर की शायद सबसे अच्छी चीज़ है) के आसपास पानी के गोल, मोहक घेरे के अन्दर कुछ छोटे बच्चे दौड़ रहे हैं। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि साफ-सुथरे कपड़े पहने उनके माता-पिता वहाँ नहीं आएँगे। शायद अगले साल गर्मियों में ज़्यादा बच्चे वहाँ खेलेंगे।

बॉस्टन में एक सुन्दर नज़ारा चार्ल्स नदी में पाल नौकाएँ हैं। इनमें से कुछ नौकाएँ कॉलेज के नौका क्लब से हैं। मगर अधिकांश नौकाएँ कम्प्यूनिटी बोटिंग नामक एक कम लागत वाले बोटिंग क्लब की हैं। यहाँ और बॉस्टन

के अन्य हिस्सों के नौकायन कार्यक्रम का वर्णन *बॉस्टन ग्लोब* के 17 जुलाई अंक के 'कैलेंडर' स्तम्भ में दिया गया है। "कैलेंडर" स्तम्भ एक उम्दा संसाधन है। उस लेख के कुछ अंश:

इन गर्मियों में शहर के महानगर ज़िला आयोग या निजी गैर-मुनाफा नौका केन्द्रों पर 9000 बच्चे और वयस्क मुफ्त या लगभग मुफ्त में नौकायन कर रहे हैं या करना सीख रहे हैं। इनमें से सबसे बड़ा व पुराना केन्द्र कम्प्यूनिटी बोट हाउस है। ...यह निजी, गैर-मुनाफा क्लब सबके लिए खुला है। यहाँ 30 कर्मचारी हैं और 13-से-24-फुट की 82 नौकाएँ, पाँच पालदार नौकाएँ और चार मोटर लॉच हैं।

...मिस्टिक नदी पर या प्लेज़र खाड़ी में महानगर ज़िला आयोग के बोट हाउस में... मैसाच्यूसेट्स का कोई भी बाशिंदा मुफ्त में नौकायन कर सकता है। एक ही शर्त है कि उसे तैरना आता हो। यदि आपको नौकायन नहीं आता तो कोई बात नहीं, वहाँ मौजूद कोच आपको सिखाएगा – बिल्कुल मुफ्त। ...प्लेज़र खाड़ी में... कार्यक्रम के पहले दो सप्ताह में ही 900 बच्चों और वयस्कों ने नौकायन के लिए नाम लिखाया। यदि इसकी लोकप्रियता पिछले वर्ष जैसी ही रही, तो स्कूल शुरू होने के समय जब यह बन्द होगा, तब तक करीब 1400 लोग इसकी 44 नौकाओं का इस्तेमाल कर चुके होंगे।

महानगर ज़िला आयोग के मिस्टिक कार्यक्रम या सोमरविले के शोर ड्राइव में नौकायन करने के लिए आपकी उम्र कम से कम 10 वर्ष होनी चाहिए। पिछले वर्ष बोट हाउस का उपयोग करने वाले 1400 लोगों में से लगभग आधे लोग वयस्क थे...

बॉस्टन के बच्चे तो 1951 से ही जमैका पॉण्ड में मुफ्त नौकायन कर रहे हैं, और 1971 से वयस्कों को भी यह सुविधा मिल गई है। पिछले वर्ष करीब 600 बच्चों और 400 वयस्कों ने जमैका पॉण्ड में मुफ्त नौकायन किया।

हमें ऐसे संसाधन तथा जगहें और चाहिए। जैसे कि कुछ शहरी बगीचों की झीलों में या लन्दन के नज़दीक थेम्स नदी में है जहाँ लोग पतवार से चलने वाली मज़बूत नौकाएँ या धातु या फायबर ग्लास से बनी डोंगियाँ किराए पर ले सकते हैं। पानी के किनारे बसे हमारे कई शहरों में उन लोगों के लिए काफी अच्छी सुविधाएँ हैं जो नाव खरीदने की हैसियत रखते हैं। मगर अधिकांश अन्य लोगों के लिए पानी पर सैर करने का कोई तरीका नहीं है।

हमें खेल के मैदान भी और चाहिए। सॉकर बॉस्टन में बहुत लोकप्रिय खेल

हो चला है, किन्तु अभी कुछ समय पहले तक यहाँ पूरे आकार के दो-तीन सॉकर मैदान ही लोगों के लिए उपलब्ध थे। यह ज़रूरी नहीं है कि सारे मैदान पूरे आकार के हों या उन पर लाइनें खिंची हों या वे गोल बने हों। टच फुटबॉल या सॉफ्टबॉल के खिलाड़ियों की तरह सॉकर के खिलाड़ी भी आड़े-तिरछे मैदान में खेलने और कमीज़ वगैरह रखकर गोल आदि बनाने के आदी होते हैं। मगर उन्हें पर्याप्त जगह चाहिए।

लोग सॉकर का एक ऐसा रूप विकसित करने लगे हैं जिसे चारदीवारी के अन्दर खेला जा सकता है, और जल्दी ही शायद यह मूल खेल से भी अधिक लोकप्रिय हो जाएगा। चारदीवारी खेल में दीवार से टकराकर आई गेंद को उसी तरह खेला जा सकता है जैसे हॉकी में पक या रबड़ की चौड़ी गेंद को। इस प्रकार से गेंद लगातार खेल में बनी रहती है और खेल कहीं अधिक तेज़ हो जाता है। सॉकर के इस संस्करण हेतु मूल खेल से कम जगह लगती है और मेहनत ज़्यादा लगती है। इस तरह कम समय में ही काफी व्यायाम हो जाता है। एक रिपोर्ट के मुताबिक पेशेवर सॉकर खिलाड़ी भी इस चारदीवारी संस्करण को लगातार तीन मिनट से ज़्यादा नहीं खेल पाते, बीच में विश्राम ज़रूरी हो जाता है। ऐसे खेलों के लिए जगह आसानी से तैयार की जा सकती है। फर्श और दीवार को उतनी सतर्कता से नहीं बनाना होगा जैसे वे हैण्डबॉल या रैकेट बॉल के कोर्ट में बनाए जाते हैं। वैसे तो किसी चारदीवारी वाले अहाते या धिरी हुई जगह का इस्तेमाल इसके लिए किया जा सकता है।

जैसा कि हम जानते हैं, बास्केटबॉल अधिकांश शहरी लड़कों का प्रिय खेल बन गया है। उन्हें पूरे कोर्ट की ज़रूरत नहीं होती। एक खम्भा या दीवार मिल जाए और एक बैकबोर्ड तथा आसपास थोड़ी जगह हो, तो वे उसके अनुसार अपने खेल को ढाल लेते हैं – दो-दो खिलाड़ी, तीन-तीन खिलाड़ी एक तरफ, या कुछ भी। शहर की बस्तियों में ऐसी जो भी सुविधा होगी उसका उपयोग दिन भर होगा, और यदि रोशनी की व्यवस्था हुई तो रात में भी होगा। किन्तु ऐसी सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं। जो हैं वे ज़्यादातर स्कूलों के अहातों में हैं जहाँ तोड़-फोड़ के डर से स्कूल बन्द होने के साथ ही ताले ढाल दिए जाते हैं। थोड़े से धन और जगह के उपयोग से यदि ज़्यादा बैकबोर्ड उपलब्ध कराए जा सकें तो कई बच्चों को काफी व्यायाम और आनन्द मिल सकता है। इनमें से अधिकांश बच्चे शायद किसी और तरह से इसे हासिल नहीं कर सकते। अब टेनिस इतना लोकप्रिय हो गया है कि

हमें और अधिक सार्वजनिक आउटडोर कोर्टों की ज़रूरत है। साथ ही खेल सीखने के लिए बैकबोर्ड भी चाहिए। पैडल टेनिस के कोर्ट में जगह भी बहुत कम लगती है और इनका उपयोग किसी भी मौसम में किया जा सकता है। वॉलीबॉल भी किसी भी मौसम में खेल सकते हैं और इसके लिए जगह भी ज़्यादा नहीं लगती, हालाँकि ऊँचे खम्भों और एक बड़ी जाली की ज़रूरत होती है। न्यू यॉर्क के आसपास आउटडोर हैण्डबॉल कोर्ट (जिन्हें अब रैकेट बॉल के लिए इस्तेमाल किया जाता है) और रोलर स्केटिंग के लिए कांक्रीट के रिक का खूब उपयोग होता है।

इनडोर संसाधनों को देखें तो हम जिम्नास्टिक व टम्बलिंग के लिए और अधिक जगह तथा उपकरणों का इस्तेमाल कर सकते हैं। आज बहुत से लोग ये गतिविधियाँ करना चाहते हैं, मगर जगह नहीं मिलती। स्क्वैश रैकेट्स एक और खेल है जिसमें ज़्यादा जगह नहीं लगती और लोगों को आधे घण्टे से भी कम समय में भरपूर रोमांच और व्यायाम मिल जाता है। पहले स्क्वैश कोर्ट बनाना काफी महँगा काम था, मगर हाल ही में *स्पोट्स इलस्ट्रेटेड* में बताया गया है कि कुछ लोगों ने एक ऐसा कोर्ट डिज़ाइन किया है जो सस्ता तो है ही, इसे तह करके कहीं भी रखा जा सकता है। या चीनी लोगों की तरह हम ज़्यादा टेबल टेनिस खेलना शुरू कर सकते हैं। टेबल टेनिस को किसी भी उम्र या डील-डौल के लोग खेल सकते हैं, और अच्छी तरह खेलें तो इसमें भरपूर कसरत हो जाती है।

मैं भारोत्तोलन के लिए और सुविधाओं का भी हिमायती हूँ। नौसेना में जाने से पहले मैंने जब पहली बार इसे करना शुरू किया था, तब अधिकांश प्रशिक्षक कहा करते थे कि यह लोगों को “माँसपेशियों की चाह” में बाँध देगा। अब अधिकांश प्रशिक्षक और एथलीट इसका उपयोग शक्ति, लोच, चपलता, तालमेल बनाने के लिए तथा चुस्त-दुरुस्त रहने के लिए करते हैं। इस लिहाज़ से यह किसी भी अन्य खेल या कसरत के बराबर शारीरिक व मानसिक विश्राम प्रदान करता है। इसके लिए जगह बहुत कम लगती है और भारों में टूट-फूट नहीं होती। किन्तु बड़े शहरों में भी इसकी सुविधा नहीं मिलती।

और अन्ततः हमें ऐसी बहुत सारी इनडोर जगह चाहिए जहाँ लोग गतियों का अभ्यास कर सकें; योग, सैन्य कलाओं, और तमाम किस्म के नृत्यों का अभ्यास कर सकें। अधिकांश शहरों में संजीदा और सुस्थापित नृत्य दलों को भी काम करने के लिए जगह मिलना मुश्किल होता है। जब

ज़्यादा लोग यह सब करना चाहेंगे तो उन्हें इसके लिए ज़्यादा जगह दरकार होगी। कुछ लोग पूछेंगे कि इसकी लागत क्या होगी? मैंने जिन सुविधाओं के सुझाव दिए हैं वे दसियों हज़ार लोगों के सक्रिय मनोरंजन के लिए पर्याप्त होंगी। इनको सार्वजनिक धन से बनने वाले उन विशाल गुम्बदों और स्टेडियमों की अपेक्षा तो कहीं कम लागत पर निर्मित किया जा सकता है जहाँ लोग बैठे-बैठे चन्द्र एथलीटों का प्रदर्शन देखते हैं। करने वालों के समाज में ज़्यादातर लोग देखने की बजाय खेलेंगे।

इस तरह के जितने संसाधनों के बारे में मैंने सुना है, उनमें सबसे सुन्दर संसाधन का वर्णन इनेस एच. पीअर्स और लुसी एच. क्रोकर की पुस्तक *दी पेखम एक्सपेरिमेंट* में हुआ है। यह किताब फिलहाल उपलब्ध नहीं है और हमें कोशिश करनी चाहिए कि यह फिर से उपलब्ध हो जाए। यह एक स्वास्थ्य, खेलकूद व मनोरंजन सुविधा के बारे में है। यह सुविधा 1935 में लन्दन के पेखम ज़िले में परिवारों के एक क्लब के रूप में निर्मित की गई थी। यह 1939 तक चली। 1939 में युद्ध शुरू होने के कारण सारे परिवार और कर्मचारी इधर-उधर चले गए और इस सुविधा का कामकाज बन्द हो गया। समाज में बच्चों और वयस्कों की ज़रूरतों के बारे में मैं जिन विचारों तक पहुँचा हूँ, उनकी कार्यरूप में अभिव्यक्ति इस संस्था से बेहतर कोई नहीं करता। इस केन्द्र का, इसके पीछे के विचारों, इसके मकसदों, इसके कामकाज, यहाँ वयस्क और बच्चे जो कुछ करते थे और इन चीज़ों को करने से उनके विकास में कैसे मदद मिलती थी, आदि बातों का विवरण देने के लिए मैंने परिशिष्ट क में उक्त पुस्तक के विस्तृत अंश प्रस्तुत किए हैं। इन्हें अवश्य पढ़ें। ये इस किताब की बाकी चीज़ों के बराबर ही महत्वपूर्ण हैं।

करने वाले और उनके शिक्षक

कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के लिए न तो कार्य कर सकता है, न सीख सकता है। करने वाले को स्वयं ही काम करना होता है। काम, काम का चयन और मकसद उसका अपना होना चाहिए। फिर भी एक t-teacher कई तरह से मदद कर सकता है। नीचे इन तरीकों का एक अच्छा बयान है। यह एक युवा व्यक्ति द्वारा अपने दोस्त को लिखे पत्र से लिया गया है। वह कहता है:

जाड़ों में बैले भी सीखा, यह कई मायनों में बहुत अच्छा अनुभव रहा। पहला तो यह कि मैं बहुत तेज़ी से ताकतवर और, थोड़ी धीमी गति से, बहुत लचीला हो गया।

दूसरा यह कि जब मैंने स्वयं को ऐसी विचित्र चीज़ करते पाया जिसका औचित्य मैं किसी भी तरह से दूसरों के लिए और खुद अपने लिए सिद्ध नहीं कर सकता था, तो अन्ततः औचित्य खोजने का प्रयास छोड़कर सिर्फ उसे करने लगा।

तीसरा यह कि पहली बार मैं एक विशिष्ट स्कूल में गया था, अर्थात् एक औपचारिक विषय का अत्यन्त औपचारिक अध्ययन, एक ऐसा विषय जिसकी व्याख्या शब्दों में नहीं की जा सकती (या सिर्फ रहस्यवादी, अबूझ फ्रेंच शब्दों में की जा सकती है)।

उस्ताद द्वारा प्रदर्शन।

मैं लगभग वैसा ही करता हूँ। उस्ताद इसे बेहतर और बेहतर सहनीयता में ढालते हैं (जैसे-जैसे मैं सीखता जाता हूँ, वही अभ्यास पहले से ज़्यादा कठिन होता जाता है और मुझसे ज़्यादा एकाग्रता की माँग करता है)। अन्ततः “निर्देश” मेरे अपने तंत्रिका तंत्र से आने लगते हैं: मैं उपकरणों और उस विषय की अपेक्षाओं के बारे में सीखता हूँ।

जानकारी निहायत समृद्ध है: पेशियों की बाधाओं को तोड़ना; एकाग्रता का प्रशिक्षण; विभिन्न अंगों की एक साथ और अलग-अलग हरकत (यानी स्वयं को एक मशीन बना देना); चोटों और पूर्व की शारीरिक पीड़ाओं को दुरुस्त करना; सन्तुलन, गुरुत्व केन्द्र, हाव-भाव, जगह के हिसाब से उन्मुखीकरण; शरीर को उठाना, कूदना, गोल-गोल घूमना।

मैंने पहले कभी कोई चीज़ इस तरह नहीं सीखी थी। दरअसल, मुझे तो लगता है कि पिछले कई बरसों में मैंने यह पहली नई चीज़ सीखी है। संगीत के अलावा कोई और चीज़ मेरे अन्दर से इतनी दिलचस्पी/एकाग्रता/ऊर्जा नहीं उभारती। सीख रहा हूँ कि मैं कैसे सीखता हूँ।

यहाँ हम देखते हैं कि एक सच्चा t-teacher, उस्ताद, अपने छात्र के लिए क्या करता है। वह एक बड़े काम को टुकड़ों में बाँट देता है ताकि वह अपने छात्र से जो भी करने को कहे, छात्र प्रयास करके उसे कर सके और इसे करते हुए उसे अगला काम करने के लिए और अधिक शक्ति मिले। वह एक मॉडल प्रस्तुत करता है, दिखाता है कि क्या करना है। वह ऐसी कोई चीज़ बता सकता है जिससे छात्र को उस काम को समझने व करने में आसानी हो। वह फीडबैक देता है, छात्र को यह देखने व महसूस करने में मदद करता है कि वास्तव में उसने क्या किया। वह सुधार करवाता है और छात्र को यह बताता है कि उसने जो किया और जो करना चाहिए था उनके बीच क्या अन्तर है, और यह बताता है कि वह इस अन्तर को कम कैसे करे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसा करके वह छात्र को कुछ मानक, कुछ कसौटियाँ, बढ़ी हुई जागरूकता, और स्वयं उसके दिमाग/शरीर में एक आदर्श प्रदान करने की कोशिश करता है (या छात्र की मदद करता है कि वह स्वयं ऐसा आदर्श निर्मित कर सके)। समय के साथ यही आदर्श उसे निर्देश देगा, फीडबैक देगा और सुधार करवाएगा। इस तरह उस्ताद उसकी गतियों को पैना बनाने के साथ-साथ उसकी उन कसौटियों को भी पैना बना देता है जिनके आधार पर छात्र आगे चलकर अपनी गतियों का आकलन करेगा और उनमें सुधार करेगा। सच्चा उस्ताद छात्र को गुलाम या कठपुतली नहीं बनाना चाहता। वह तो उसे एक नया उस्ताद बनाना चाहता है। वह व्यवहार को बदलने वाला नहीं है। वह छात्र को कदम दर कदम एक ऐसे लक्ष्य की ओर नहीं ले जाना चाहता जिसे सिर्फ वह, यानी उस्ताद ही देख सके। उसका तो प्रयास होता है कि छात्र अपने व्यवहार पर अधिक से अधिक नियंत्रण हासिल करे, ताकि वह

स्वयं अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ सके – इस सन्दर्भ में लक्ष्य नृत्य है – “शरीर को उठाते हुए, कूदते हुए, गोल-गोल घूमते हुए।”

कुछ लोगों को शायद लगे कि इन शब्दों में और पढ़ना सिखाने वाले (व अन्य) T-teachers की आलोचना करते हुए जो कुछ मैंने कहा था उनके बीच विरोधाभास है। जब इस उस्ताद के लिए यह सही है कि वह नृत्य के काम को टुकड़ों में बाँटकर अभ्यासों व गतियों की सुनियंत्रित गुंथला में तब्दील कर दे, तो पढ़ना सिखाने वाला T-teacher ऐसा ही लगने वाला कुछ करके क्या गलत करता है? अब्बल तो पढ़ना नृत्य की तरह एक पेशीय क्रिया नहीं है, उसे पेशीय क्रिया के रूप में देखना एक गम्भीर भूल होगी। नृत्य उस्ताद के लिए ज़रूरी होता है कि छात्र की पेशियाँ खिंचें और मज़बूत हों ताकि वह अगली गति कर सके, और बगैर क्षति के कर सके। किन्तु कोई मुश्किल विचार आपको घायल तो नहीं कर सकता। नृत्य प्रशिक्षण में क्रमबद्धता का एक कारण है। हज़ारों नर्तकों के अनुभवों ने यह दिखाया है कि कोई छात्र कई गतियाँ अच्छी तरह से और सुरक्षित ढंग से तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उससे पहले वह कतिपय अन्य गतियाँ न कर चुका हो। यह बात पढ़ने पर लागू नहीं होती। कोई भी दो बच्चे एक ही तरीके से पढ़ना नहीं सीखते। इसी तरह स्वयं पढ़ना सीखने वाले कई बच्चों में से भी कोई भी दो बच्चे एक ही तरीके से नहीं सीखते। वे लिखित शब्दों के अर्थ अपने मनचाहे क्रम में सीख सकते हैं और कई मर्तबा वे “कठिन” शब्द पहले सीखते हैं। किन्तु बैले सीखने के अनगिनत तरीके नहीं हैं; स्कूल-स्कूल के बीच या शिक्षक-शिक्षक के बीच जो अन्तर होते हैं वे मामूली किस्म के ही होते हैं।

इसके अलावा नृत्य उस्ताद छात्र को जो कार्य देते हैं उनका कुछ अर्थ होता है। छात्र इन शुरुआती गतियों और उस सम्पूर्ण हुनर व कला, जो वह अपने उस्ताद से हासिल करना चाहता है, के बीच सम्बन्ध देख सकता है और उसे अपने शरीर में महसूस कर सकता है। दरअसल, सारे बड़े-बड़े नर्तक अपना दैनिक अभ्यास उन्हीं सरल गतियों से शुरू करते हैं जो छात्र सीखने की कोशिश कर रहा है। पढ़ना सिखाने के साथ ऐसा नहीं है। बच्चा जिस लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है – यानी लिखित पाठ को बूझना – और जो कार्य उसे दिया जाता है, उनके बीच कोई कड़ी नहीं देख पाता। शिक्षक के हुक्म सिर्फ उसे अपने काम और मकसद से दूर करते हैं। शिक्षक जो कुछ उसे करने को कहता है वह अक्सर बेटुका होता है। जो लोग अच्छे से पढ़ लेते हैं वे उस तरह से नहीं पढ़ते और न ही उन्होंने उस

तरह से पढ़ना सीखा था। पढ़ना सिखाने की विधियाँ अच्छा पढ़ने वालों के अनुभवों के आधार पर नहीं बल्कि सिद्धान्तों के आधार पर बनाई गई हैं – जैसे कि मेरे उस टेनिस प्रशिक्षक का सिद्धान्त था जिसने मुझे बरसों पहले बताया था कि हर गेंद को ऐसे खेलो जैसे वाल्ट्ज़ नृत्य कर रहे हो और ऐसा करते हुए वाल्ट्ज़ की धुन भी गुनगुनाओ।

प्रोफेसर डेविड हॉकिन्स ने अपने लेख “व्हाट इट मीन्स टु टीच” (टीचर्स कॉलेज रिकॉर्ड, सितम्बर 1973) में सिखाने को लेकर कुछ बहुत अच्छी बातें कही हैं। वे शायद t-teacher और T-teacher के बीच मेरे द्वारा किए गए भेद को न मानें। किन्तु जिन लोगों की बात वे करते हैं वे मुझे t-teachers जैसे नज़र आते हैं। जो वे कहते हैं उसके कुछ अंश ये हैं:

मैं शुरुआत यह कहकर करना चाहूँगा कि शिक्षक और सीखने वाले का सम्बन्ध कम से कम उतना प्राचीन है जितनी कि मानव जाति। और यद्यपि इसके संस्थागत ढाँचे की उत्पत्ति हाल में हुई है किन्तु यह उसी चीज़ का एक सजा-धजा व लच्छेदार संस्करण है जो हमारे बीच, खासकर बड़ों व बच्चों के बीच, सदा चलती रहती है। मैं इस सम्मानजनक सम्बन्ध की प्राचीनता को रेखांकित करना चाहता हूँ, सिर्फ इसलिए ताकि आपको सिर्फ इस स्वतः स्पष्ट बात की याद दिला सकूँ कि यह मानव इतिहास और संस्कृति की जंजीर में एक प्रमुख कड़ी है, और कि इसके बगैर हम तत्काल नष्ट हो जाएँगे। इसके अलावा आपको यह भी याद दिला दूँ कि इस पर किसी का कोई पेटेंट नहीं है।

...इसलिए इस सम्बन्ध का एक ठीक-ठाक सामान्य ब्यौरा यह होगा कि शिक्षक वह है जो एक विश्वास के समझौते [इन शब्दों पर ज़ोर मैंने दिया है – होल्ट] के ज़रिए अधिकार हासिल करता है। इस समझौते के तहत शिक्षक अपने छात्र की सामर्थ्य को बढ़ाने का प्रयास करता है और वचन देता है कि वह उसकी सामर्थ्य को सिर्फ तात्कालिक रूप से और उसे विस्तार देने के उद्देश्य से बाधित करेगा। शिक्षक छात्र को, किसी किस्म के सहायक उपकरण बतौर, स्वयं अपने को कर्ज़ रूप में देता है, जिसकी मदद से छात्र वह संक्रमण और सुदृढ़ीकरण करता है जो वह अन्यथा न कर पाता। और यदि यह उपकरण ऐसा हुआ जिसे आत्मसात करना है तो इस प्रक्रिया के दौरान छात्र न सिर्फ सीखता है बल्कि स्वयं अपना शिक्षक बन जाता है – इस तरह से वह कर्ज़ लौटा दिया जाता है...

“विश्वास का समझौता”। जी हाँ – मगर यदि छात्र यह तय करने को स्वतंत्र नहीं है कि वह क्या या कब या कैसे सीखना चाहता है या कितनी व किस किस्म की मदद से सीखना चाहता है तो विश्वास का समझौता कैसे हो सकता है? जब छात्र को अपने शिक्षक का चयन करने या बदलने की आज्ञादी नहीं है तो विश्वास का समझौता कैसे हो सकता है? जब शिक्षक को अपनी नौकरी बचाने के लिए मजबूरन ऐसी चीज़ें करनी पड़ें (जैसे मुझे करनी पड़ती थीं) जो वह जानता है कि छात्र को नुकसान पहुँचाएँगी, उसके हौसले और सीखने की क्षमता को नष्ट कर देंगी, तब विश्वास का समझौता कैसे हो सकता है? या जब शिक्षक का यह दायित्व हो कि यदि छात्र कोई चीज़ खराब ढंग से करे तो वह यह बात पूरी दुनिया को बताए और रिकॉर्ड में लिख दे जो ज़िन्दगी भर उस छात्र का पीछा करेगा?

t-teaching की बात पर लौटें। मुझे जिस व्यक्ति ने ड्राइविंग सिखाई वह एक बूढ़ा आदमी था, स्कूल कभी नहीं गया था, खुद अच्छा ड्राइवर नहीं था, और जहाँ तक मुझे पता है उसके पास कोई अन्य बड़ी प्रतिभा या हुनर भी नहीं था। मगर वह ड्राइविंग का बढ़िया शिक्षक था और उसने पूरे काम को निहायत सलीके से बनाया था। उसने देखा था कि कई ड्राइवर, खासकर नौसिखिए, बहुत घबरा जाते हैं क्योंकि वे इंजिन, गेयर, क्लच, सड़क की प्रकृति और कार की रफ्तार या त्वरण के बीच सम्बन्ध नहीं समझते। उसने तय किया कि सड़क पर जाने से पहले मुझे इन सम्बन्धों पर महारत हासिल कर लेनी चाहिए। यानी एक्शन में महारत। शायद वह इन चीज़ों को शब्दों में बता नहीं सकता था और बताता तो मैं समझता नहीं। उसने कार को एक अच्छी-खासी पहाड़ी पर अपेक्षाकृत वीरान सड़क पर ले जाकर साइड में खड़ी करके हैण्ड-ब्रेक लगाया और मुझसे ड्राइविंग सीट पर बैठने को कहा। अब उसने मुझसे गाड़ी को धीरे-धीरे, सहजता से, बगैर झटके दिए, बगैर पीछे फिसलाए चलाने को कहा। उसने एक-दो बार करके भी दिखाया। अब मेरी बारी थी। उस पहाड़ी पर कई घण्टे बिताने के बाद अन्ततः मैं हर बार गाड़ी को सहजता से चालू करने लगा। आज तक क्लच, गेयर और थ्रोटल से मुझे कभी कोई दिक्कत नहीं हुई। दरअसल, ड्राइविंग के दौरान मुझे सबसे ज़्यादा मज़ा गेयर का सही ढंग से इस्तेमाल करने में आता है।

यह काम एक और कारण से भी आदर्श था। स्वयं कार ही मुझे ज़रूरी फीडबैक दे देती थी और सुधार भी करवाती चलती थी। एकाध बार

प्रशिक्षक को कहना पड़ा था, “तुमने बहुत ज़्यादा (या बहुत कम) पेट्रोल खोल दिया।” या “तुमने क्लच बहुत तेज़ी से छोड़ दिया।” उसके बाद तो कार की हरकत से पता चल जाता था कि मैंने क्या गलती की थी और सुधार के लिए क्या करना होगा। मुझे अपनी क्रियाओं का सुधार करने के लिए कसौटियाँ मिल चुकी थीं। प्रशिक्षक को कुछ कहने की ज़रूरत नहीं थी और उसने मुझे बगैर दखल अपना काम करने को छोड़ दिया। फिर हाइवे पर अन्य कारों को आते देखकर जब मैं अन्य नौसिखियों की तरह पहियों को इधर-उधर करने लगा तो उसने भारी आवाज़ में कहा, “अपनी साइड पर चलते रहो, उन पर कोई ध्यान मत दो।” यह भी शिक्षक का एक महत्वपूर्ण काम है कि जब तक छात्र के नए-नए सीखे हुनर स्वचालित न हो जाएँ और वह उनकी चिन्ता करना या उनके बारे में सोचना न छोड़ दे, तब तक उसका हौसला बढ़ाना। कुल मिलाकर वह एक शानदार शिक्षक था।

फिर, एक बार मैं शिक्षक था। एक स्कूल सत्र के शुरू में मैं अपने एक छात्र सैम पिएल के साथ न्यू यॉर्क शहर से कॉलोरेडो रॉकी माउन्टेन स्कूल ड्राइव करके जा रहा था। ट्रिप के आखरी दिन उसने मुझे बताया कि उसे संगीत से प्रेम है और किसी भी और चीज़ से ज़्यादा वह संगीत बजाना चाहेगा। किन्तु वह बजा नहीं सकता क्योंकि वह सुर-बधिर है। मुझे अचानक याद आया कि संगीत निर्देशक आर्थर लैण्डर्स ने बरसों पहले कोरस रिहर्सल के दौरान बताया था कि सुर-बधिरता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। एकाध अपवाद को छोड़ दें तो तथाकथित सुर-बधिर लोग वे हैं जो कान और आवाज़ का तालमेल बनाना, यानी जो आवाज़ें वे सुनते हैं और जो आवाज़ें वे उत्पन्न करते हैं उनकी संगति बनाना, नहीं सीख पाए हैं। उसने यह भी बताया था कि इसे सीखना आसान है और थोड़ा धैर्य हो तो कोई भी इसे सीख सकता है। करना सिर्फ इतना होता है कि पियानो पर कोई सुर बजाएँ और “सुर-बधिर” व्यक्ति से उसके अनुसार आवाज़ निकालने को कहें। उसे अपना सुर थोड़ा ऊपर-नीचे करने को कहा जा सकता है जब तक कि ठीक सुर न मिल जाए। मैंने सैम से पूछा कि क्या वह इसे आजमाना चाहेगा। इसके लिए वह पियानो की बजाय मेरी आवाज़ का उपयोग कर सकता है। उसने कहा कि वह करना चाहेगा, और हम शुरू हो गए। मैं एक सुर गाता और उससे सुर मिलाने को कहता। फिर वह एक सुर गाता और मैं उससे सुर मिलाता। मैं फिर अपना सुर गाता और उससे थोड़ा ऊपर या नीचे करके सुर मिलाने को कहता। जब हमारे

सुर मिल जाते तो हम उस सुर को साथ-साथ गाते ताकि वह उसकी ध्वनि और एहसास का आदी हो जाए। फिर मैं कोई दूसरा सुर गाता और पूरा सिलसिला फिर शुरू हो जाता। थोड़ी देर बाद वह मेरे हर सुर से सुर मिलाने लगा। तब मैंने उससे स्केल का पहला अन्तराल (डो-रे) गाने को कहा। तीन घण्टे बाद जब हम स्कूल पहुँचे तब तक वह मेरे हर सुर से सुर मिलाने लगा था और उस सुर से शुरू करके डायटोनिक स्केल के पहले चार स्वर (डो-रे-मि-फा) गाने लगा था। उस वर्ष स्कूल में उसने लोक गीत गाए, अगले वर्ष कोरस में गाया और गिटार बजाना शुरू कर दिया, और उसके अगले वर्ष वह चेलो बजाने लगा। इसमें उसने ऐसी सम्भावनाएँ दर्शाईं कि उसके शिक्षक ने उससे कहा कि यदि वह चाहे तो एक पेशेवर संगीतकार बन सकता है।

इसमें शिक्षण के सारे तत्व हैं – छात्र की शक्ति से मेल खाता कार्य, फीडबैक और सुधार, मानकों और कसौटियों का अंगीकरण, और इस सबके साथ सहारे का प्रमुख तत्व। हमारी अच्छी दोस्ती मददगार रही; शायद किसी कम परिचित व्यक्ति के साथ वह इस प्रयोग को आजमाने को राज़ी न होता। कार ने भी बाहरी दुनिया से, शेष जीवन से अलग-थलग, एक आसरा दिया। कार पुरानी और शोर भरी थी; हम उसमें चार दिन रहे थे; वह हमारा घर बन गई थी। उसमें हम ऐसे काम कर सकते थे और ऐसे खतरे उठा सकते थे जो कहीं और करने या उठाने की हम सपने में भी नहीं सोचते।

फीडबैक की प्रकृति

इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर वगैरह के साथ काम करने वाले लोग “फीडबैक” से भलीभाँति परिचित हैं। इसका एक जाना-माना उदाहरण थर्मोस्टेट का है। मान लीजिए इसे हमने पैंसठ डिग्री फ़ैरनहाइट पर सेट कर दिया। यदि कमरा पैंसठ डिग्री से ठण्डा हो जाता है तो हीटर या भट्ठी को एक विद्युत संकेत जाता है, “चालू हो जाओ” या शायद “ज़्यादा गर्म हवा या पानी भेजो”। यदि कमरा पैंसठ डिग्री से ज़्यादा गर्म होता है तो विपरीत संकेत जाता है। किन्तु इसमें कहीं न कहीं एक थर्मामीटर लगा होना चाहिए; जब तक भट्ठी को यह पता न चले कि कमरा कितना गर्म है, तब तक वह यह नहीं “जान” सकती कि गर्म हवा कम भेजना है या ज़्यादा।

शारीरिक गतियाँ और हुनर सीखने के सन्दर्भ में हम इसी प्रकार के

फीडबैक का उपयोग करते हैं। नृत्य शिक्षक, जिम्नास्टिक का कोच, स्की प्रशिक्षक या कोई भी शिक्षक छात्र से कहता है, “यह गति करो, यह मुद्रा अख्तियार करो।” छात्र उस मॉडल को देखकर अपनी पेशियों को मनचाहा काम करने को कहता है। यदि छात्र बढ़िया एथलीट है तो उसकी पेशियाँ वही करती हैं जो वह चाहता है और उसकी गति या मुद्रा लगभग मॉडल के समान हो जाती है। किन्तु कई लोगों का ऐसा नियंत्रण नहीं होता और उनकी गति या मुद्रा ठीक वैसी नहीं हो पाती। यदि उन्हें पता हो कि उनकी गति या मुद्रा ठीक कैसी है, तो हो सकता है कि उन्हें यह भी पता हो (या शायद न हो) कि इसे कैसे दुरुस्त करना है। दूसरी ओर, यदि उन्हें लगता है कि वे वही कर रहे हैं जो प्रशिक्षक कह रहा है, जबकि वास्तव में वे कुछ और ही कर रहे हैं, तो कोई परिवर्तन या सुधार हो ही नहीं सकता। कोई चीज़ चाहिए जो उन्हें बता सके कि वे वास्तव में क्या कर रहे हैं।

नर्तकों के मामले में यह चीज़ एक आईना हो सकती है। अक्सर यह काफी नहीं होता। उस्ताद कहेगा, “नहीं, तुम ऐसा कर रहे हो,” और छात्र की नकल करके दिखाएगा। फिर बताएगा, “मैं ऐसा चाहता हूँ,” तथा एक और प्रदर्शन। शायद वह छात्र को छूकर या हिला-डुलाकर बताएगा कि उसे क्या करना है। स्की प्रशिक्षक के पास आईना नहीं होता (हालाँकि आजकल कई जगह पर वीडियो टेप का इस्तेमाल होता है), इसलिए उसे छात्र की नकल करनी ही होती है। जो लोग नौसिखियों को स्की या कोई अन्य खेल सिखाते हैं, वे पाते हैं कि कई लोगों का अपने शरीर, माँसपेशियों और भुजाओं से कोई सम्पर्क नहीं होता। जब उनसे कहा जाता है कि अपना घुटना मोड़ो या अमुक कन्धा आगे लाओ तो वे करने की कोशिश करते हैं, सोचते हैं कि वे वही कर रहे हैं, मगर अक्सर करते कुछ और ही हैं। शिक्षक को उन्हें करके बताना पड़ता है कि वे क्या कर रहे हैं और वह उनसे क्या करवाना चाहता है। अक्सर वे ज़रूरी सुधार नहीं कर पाते और शिक्षक को उनके घुटने या कन्धे को सही स्थिति में लाना पड़ता है। वे शिक्षक को देखते हैं, उसकी मुद्रा को देखते हैं, स्वयं अपनी माँसपेशियों को महसूस करते हैं, और सोचते हैं, “जब मुझे ऐसा महसूस होता है तो मैं ऐसा दिखता हूँ।” वे धीरे-धीरे अपने शरीर में एक बेहतर फीडबैक व्यवस्था विकसित कर रहे हैं।

खराब फीडबैक व्यवस्था का एक उदाहरण: बड़े जहाज़ों में रडर को एक स्टीयरिंग इंजिन से घुमाया जाता है। जो व्यक्ति रडर को नियंत्रित करता है वह उससे जुड़ी किसी चीज़ को नहीं पकड़े होता, जैसे कार का स्टीयरिंग

इंजिन अगले पहियों से जुड़ा होता है। वह स्टीयरिंग इंजिन को तीन में से कोई एक आदेश दे सकता है: “रडर को दाएँ घुमाओ”, “रडर को बाएँ घुमाओ”, या “रडर को मत घुमाओ”। लिहाज़ा उसके पास कोई तरीका होना चाहिए जिससे उसे पता चले कि रडर कितना दाएँ या बाएँ घूम चुका है। यदि यह तरीका काम नहीं कर रहा है और बताए कि रडर बाईं ओर है जबकि वास्तव में वह दाईं ओर है, तो वह जहाज़ को काबू में नहीं रख सकता।

उन लोगों की यही स्थिति होती है जो अनाड़ी हैं, एथलैटिक नहीं हैं, तालमेल रहित हैं। हो सकता है कि वे अपनी माँसपेशियों और भुजाओं को सही संकेत भेजें मगर उनकी भुजाएँ और माँसपेशियाँ उनके आदेश का पालन न करें और उसकी बजाय कुछ और ही करें। इससे भी बुरी बात तो यह होती है कि इन लोगों को यह मालूम नहीं होता कि उनकी भुजाएँ और माँसपेशियाँ क्या कर रही हैं। उन्हें लगता है कि वे उनके आदेश मान रही हैं, जबकि वे नहीं मान रही होतीं। जैसे कुछ गोल्फ खिलाड़ी कसम खाएँगे कि वे अपना सिर नहीं हिलाते जबकि उनका सिर किसी पेड़ की मानिन्द हिलता रहता है। प्रशिक्षक व अन्य लोग, जो लोगों को माँसपेशियों से सम्बन्धित हुनर सिखाने की कोशिश करते हैं, बरसों से अच्छे और बुरे तालमेल के तथ्य से वाकिफ हैं। उनका विचार यह होता है कि यह एक कुदरती नियामत है, जैसे भूरे बाल या नीली आँखें, और प्रशिक्षक इस मामले में कुछ नहीं कर सकता। ऐसा नहीं है। ऐसे तरीके उपलब्ध हैं जिनसे लोगों को उनके शरीर व भुजाओं के प्रति ज़्यादा जागरूक बनाया जा सकता है, एक बेहतर फीडबैक व्यवस्था विकसित की जा सकती है। नृत्य प्रशिक्षण यकीनन एक ऐसा तरीका है। मेरा अनुभव, बतौर एक करनेवाले और एक शिक्षक, यह है कि वज़नों के साथ अक्लमन्दी से अभ्यास एक अन्य ऐसा तरीका है। भारी वज़नों के प्रतिरोध के विरुद्ध माँसपेशियों के अलग-अलग समूहों का अभ्यास करते हुए हमें, एक मायने में, यह पता चलता है कि वे माँसपेशियाँ कहाँ हैं, वे क्या कर रही हैं, और वैसा करते हुए हमें कैसा महसूस होता है।

एक दोस्त ने मुझे बताया था कि एक महिला चिकित्सक उन लोगों में शरीर पर नियंत्रण व तालमेल को बेहतर बनाने के लिए सचमुच वज़नों के साथ अभ्यास का सहारा लेती है जिन्हें हम “स्पैस्टिक” कहते हैं। किसी वजह से ऐसे लोगों का अपनी माँसपेशियों के साथ संवाद तंत्र बहुत खराब होता है। यह तंत्र शोर भरा होता है; तमाम तरह के अनचाहे सन्देश इसमें

चलते रहते हैं जिनकी वजह से माँसपेशियाँ फड़कती रहती हैं, झटके देती रहती हैं। इस शोर में कई बार मनचाहे सन्देश गुम हो जाते हैं, गोया आप किसी घटिया टेलीफोन कनेक्शन पर बात करने की कोशिश कर रहे हैं। इस युवा महिला ने सोचा कि यदि कोई स्पैस्टिक किसी वज़न के प्रतिरोध के विरुद्ध कोई विशेष व्यायाम करने का प्रयास कर रहा है तो उस व्यायाम से सम्बन्धित माँसपेशियाँ नहीं फड़क सकतीं; उनका तनाव स्थिर रहेगा क्योंकि उन पर पड़ रहा वज़न उसे स्थिर रखेगा। इस तरह वह व्यक्ति माँसपेशियों के उस समूह के प्रति सचेत हो जाएगा, जैसा बेतरतीब शोर के बीच कोई स्थिर सुर सुनने में होता है। इस प्रकार से इस माँसपेशी समूह के साथ उसका संवाद बेहतर हो जाएगा। मुझे बताया गया कि यह तरीका उस चिकित्सक के मरीज़ों के लिए काफी मददगार रहा। मुझे पता नहीं कि इस तरीके का उपयोग आज भी होता है या नहीं।

शिक्षक के बगैर फीडबैक

जनवरी 1974 में *सपोर्ट्स इलस्ट्रेटेड* ने जापानी बेसबॉल खिलाड़ी और आगे चलकर फिगर स्केटर रहे सुशिकी के बारे में एक ज़बर्दस्त कहानी प्रकाशित की। कुछ अंश प्रस्तुत हैं:

एक दिन एक बेस रनर ने...सुशिकी का गेंद फेंकने वाला हाथ स्थायी रूप से चोटग्रस्त कर दिया...सुशिकी मायूस था... तभी उसका एक दोस्त उसे ओलम्पिक स्केटर डिक बटन की प्रदर्शनी में ले गया। ...सुशिकी जीवन में कभी स्केटों पर सवार नहीं हुआ था, स्केटिंग सीखने के लिए उसके पास पैसा नहीं था, और वैसे भी जापान में स्केटिंग रिक बहुत कम थे। किन्तु उसने बटन की फिल्में प्राप्त कर लीं और सिर्फ उन्हें देख-देखकर स्वयं ही स्केटिंग सीख लिया। 1958 में वह जापान का राष्ट्रीय स्केटिंग चैम्पियन था, और आज अपने 11वें वर्ष में वह आइस केपेड्स टीम का स्टार है।

मुश्किल चीज़ें सीखने और सिखाने के बारे में यह कहानी काफी कुछ बताती है। और सबसे बड़ी बात तो यह सामने आती है कि कैसे इन चीज़ों को सीखना सस्ता बनाया जा सकता है और ज़्यादा लोगों को उपलब्ध कराया जा सकता है।

यह ज़रूर है कि सुशिकी असाधारण रूप से सुप्रशिक्षित, अक्लमन्द और तालमेल से परिपूर्ण एथलीट रहा होगा, और यह लिखते समय भी होगा।

बेसबॉल और फिगर स्केटिंग के लिए एकदम अलग-अलग हुनर, गतियाँ और माँसपेशीय ज़रूरतें होती हैं। किसी नर्तक की तरह स्केटर को भी सर्वथा नई माँसपेशियाँ विकसित करनी पड़ती हैं, उन्हें नए ढंग से तानना और इस्तेमाल करना होता है। डिक बटन की फिल्मों देखकर नकल उतारना हर कोई नहीं कर सकता। सुशिकी को स्वयं अपना शिक्षक बनना पड़ा। उसे स्वयं के लिए क्रमबद्ध कार्य तय करने पड़े, उन कार्यों को करना पड़ा, और ज़रूरी सुधार भी स्वयं करने पड़े, जैसा कि ऊपर वर्णित बाले छात्र को करना पड़ा था। मगर मेरी जानकारी में सुशिकी एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का सबसे शानदार उदाहरण है। कोई छात्र, यानी करने वाला, किसी मुश्किल क्रिया को तभी सीख सकता है जब वह शिक्षक को अपने अन्दर बसा ले। उसे शिक्षक और छात्र दोनों एक ही समय पर होना पड़ेगा। उसे, बढ़ते क्रम में, स्वयं अपने कार्यों को क्रमबद्ध करना होगा, स्वयं अपना फीडबैक प्राप्त करना होगा, स्वयं अपने सुधार करने होंगे, और अपने मानक व मापदण्ड निर्धारित करने होंगे। जब वह बाहरी शिक्षक पर कम से कम निर्भर होगा और अपने अन्दर के शिक्षक का ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल करेगा, तभी वह अपनी मनचाही चीज़ को अच्छे से कर पाएगा। यदि संगीत के किसी छात्र को अपना सुर सही, गलत होने का पता तभी चले जब शिक्षक उसे बताए, तो वह दो सबकों के बीच कोई तरक्की नहीं कर पाएगा। दरअसल, वह एक सबक में जो थोड़ा-बहुत सीखेगा उसे भी अगले सबक तक भूल जाएगा। लिहाज़ा शिक्षक का प्रथम और प्रमुख काम यह है कि वह छात्र को अपने से स्वतंत्र बनाए और उसे स्वयं अपना शिक्षक बनना सिखाए। एक सच्चे शिक्षक को सदैव अपने काम से मुक्ति पाने का प्रयास करना चाहिए।

इस बात को बहुत कम लोग समझते हैं। अधिकतर लोग उलटा सोचते हैं। उन्हें लगता है कि किसी व्यक्ति को कोई मुश्किल काम अच्छी तरह से करने में मदद देने का एकमात्र तरीका यह है कि जब भी वह गलती करे, उसे बता दिया जाए। कुछ ही दिन पहले किसी ने मुझसे पूछा था कि क्या मैं नियमित रूप से चेलो के सबक ले रहा हूँ। उस समय मैं नहीं ले रहा था। उसने थोड़ा चिढ़कर पूछा, “तो फिर तुम्हें अपने मानक कहाँ से मिलते हैं?” उसका आशय था कि “तुम्हें यह कौन बताता है कि सही कैसे बजाते हैं, और गलत होने पर टोकता कौन है?” मैंने उसे बताया कि मुझे अपने मानक चेलो वादकों से मिलते हैं – कासल्स, रोस्ट्रोपोविच, स्टार्कर, रोज़, डुप्रे वगैरह। इनका वादन मैं रिकॉर्डों पर सुनता हूँ। इसके अलावा कई

चेलो वादक हैं जिन्हें मैं बॉस्टन में सुन भी सकता हूँ और देख भी सकता हूँ – जैसे जूल्स एस्किन और बॉस्टन सिम्फनी के अन्य वादक तथा अतिथि वादक। संगीत सभाओं में मैं चेलो वादकों को ध्यान से देखता हूँ कि वे अपनी उँगलियों, हाथों और भुजाओं से क्या करते हैं। कई बार मैं अपने बायनॉकुलर का भी इस्तेमाल करता हूँ। इन महान वादकों से मुझे बहुत साफ मॉडल मिलता है कि अच्छा चेलो वादन कैसा दिखता है और कैसा सुनाई पड़ता है। ये मेरे मानक हैं। कहने का मतलब यह नहीं है कि किसी उस्ताद के साथ निजी स्तर पर काम करके कुछ नहीं सीखा जा सकता। मैं ऐसा करना भी चाहता हूँ। मगर ऐसे शिक्षक से मुझे “मानकों” की दरकार नहीं है। उससे तो मैं यह जानना चाहूँगा कि मैं उन मानकों के नज़दीक कैसे पहुँचूँ जिन्हें मैं पहले से जानता हूँ।

सीखने वाले को फीडबैक शिक्षक से नहीं तो और कहाँ से और कैसे मिलता है? यदि वह कोई शारीरिक गति सीख रहा है तो वह आईने से फीडबैक प्राप्त कर सकता है, जैसे नर्तक करते हैं। जब मैं दसेक साल का था और गोल्फ खेलना सीख ही रहा था, और मैंने फीडबैक का नाम तक नहीं सुना था, तब मैं क्लब पेशेवरों को सबक देते या प्रैक्टिस टी (गेंद मारने के सुराख) से गेंद को मारते देखा करता था। बाद में अपने घर के बाहर एक खिड़की के सामने मैं अपना स्विंग आजमाता था। उसे मैं वैसा बनाने की कोशिश करता था जैसा पेशेवर खिलाड़ी का स्विंग दिखता था, और जब ठीक वैसा हो जाता तो मैं यह याद रखने की कोशिश करता कि वह महसूस कैसा होता है। इसे वे लोग स्विंग को ग्रूव करना कहते थे। बाद में टेनिस सीखते समय भी मैंने फोर हैण्ड, बैक हैण्ड, सर्विस वगैरह में यही किया। इस मामले में मेरे मॉडल – यानी जहाँ मैं खेलता था वहाँ के सबसे बढ़िया खिलाड़ी – पर्याप्त नहीं थे। वैसे तो वे पर्याप्त हुनरमन्द थे मगर, जैसा कि मुझे बाद में समझ आया, उनमें कई बुरी आदतें थीं जिनकी मैं नकल करता रहा और फिर कई वर्षों तक उनसे निजात न पा सका। वह भी तब हुआ जब मैंने पाँचो गॉज़ालेज़ को फॉरेस्ट हिल में देखा। वहाँ वह उस साल पहली बार जीता था। यह संयोग ही है कि उसने भी टेनिस स्वयं ही सीखा था। उसे देखकर ही मुझे पता चला कि टेनिस की गेंद को कैसे मारा जाता है।

आज चूँकि खेलकूद एक बड़ा धन्धा बन गया है, और खेलकूद में जीतना कई लोगों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया है, इसलिए हमने मॉडलों और फीडबैक के बारे में काफी कुछ समझा है। आज आप आसानी से जाकर

कई चैम्पियन एथलीटों की फिल्मों देख सकते हैं। वुल्वेराइन स्पोर्ट्स सप्लाई कम्पनी, एन आर्बर, मिशिगन के सूची-पत्र में श्रेष्ठ एथलीटों की 8 मि.मी. फिल्मों के नाम हैं। इन फिल्मों में उन्हें तमाम तरह की गतियों व हुनरों का प्रदर्शन करते देखा जा सकता है। फीडबैक के लिए कई शिक्षक आजकल वीडियो टेपों का इस्तेमाल करते हैं। इनकी मदद से छात्र को शब्दों या नकल की अपेक्षा ज़्यादा आसानी से समझाया जा सकता है कि वह क्या कर रहा है।

मॉडल व फीडबैक प्रदान करने के ये तरीके उन लोगों के लिए उपयोगी हो सकते हैं जो तार वाद्य, पियानो व तबला बजाना सीख रहे हैं, क्योंकि इन्हें बजाते समय व्यक्ति को अपनी भुजाओं और कन्धों का खूब इस्तेमाल करना होता है, और सही प्रकार की गति का बहुत महत्व होता है। इस तरह मुझे श्रेष्ठ चेलो वादकों से सिर्फ इस चीज़ का मॉडल नहीं मिला कि अच्छा चेलो वादन सुनाई कैसा पड़ता है, बल्कि इस चीज़ का मॉडल भी मिला कि वह दिखता कैसा है। जब मैं रियाज़ करता हूँ तो अक्सर आईने के सामने बैठकर करता हूँ ताकि मैं अपने हाथों और भुजाओं की गति को उनके जैसी बना सकूँ। और, जैसा कि मैंने गोल्फ सीखते वक्त किया था, यहाँ भी जब ये गतियाँ सही लगती हैं तो मैं यह याद रखने की कोशिश करता हूँ कि मेरी माँसपेशियों में कैसा महसूस होता है। इस तरह से आईने में झाँके बगैर भी मुझे कुछ फीडबैक अपने अन्दर से मिल जाता है।

समय के साथ ऐसा होता है। कुछ ही दिनों पहले मेरी एक महिला से बातचीत हुई। युवावस्था में वे पियानो काफी अच्छा बजा लेती थीं। फिर तीस साल तक वह छूटा रहा और अभी हाल ही में उन्होंने फिर से गम्भीरता से बजाना शुरू किया। इसे बजाते समय अपनी कुछ संवेदनाओं को व्यक्त करते हुए उन्होंने आश्चर्य और खुशी के साथ बताया, “मैं महसूस कर सकती हूँ कि मेरे हाथ *समझदार* हो रहे हैं। उन्हें पता है कि कहाँ पहुँचना है, क्या करना है। अक्सर उन्हें वे चीज़ें करना भी आता है जो मुझे याद नहीं कि मैंने उन्हें सिखाई थीं। मुझे अचरज होता है कि यह करना मैंने कब सीखा था?” अद्भुत संवेदना है। शरीर चेलो या पियानो बजाता है, और हर बार उसे बताया नहीं जाता कि कैसे। उसे पता होता है कि वह बढ़िया बजा रहा है या घटिया। यही बात टायपिंग पर भी लागू होती है। जब मैं गलती करता हूँ, A की बजाय a दबा देता हूँ, तो उँगलियाँ मुझे बता देती हैं। इसी प्रकार से टेनिस में भी गेंद जैसे ही रैकेट से छूटती

है, मैं अक्सर बता सकता हूँ कि सर्विस शॉर्ट होगी या बाहर निकल जाएगी।

टेप रिकॉर्डर से संगीत के छात्र को यह जानने में मदद मिल सकती है कि उसका बजाया कैसा सुनाई पड़ता है। यह सही है कि वह बजाते-बजाते भी सुन सकता है कि वह क्या बजा रहा है। किन्तु इससे शायद उसे पूरा फीडबैक न मिले। और टेप रिकॉर्डर उसे उसके वादन के बारे में ऐसी चीज़ें बता सकता है जो शायद उसे अन्यथा मालूम न पड़ें। एक बात तो यह है कि श्रोता की अपेक्षा बजाने वाला वाद्य यंत्र के ज़्यादा नज़दीक होता है, इसलिए वह जो ध्वनियाँ सुनता है वे काफी अलग होती हैं। चूँकि ये अलग होती हैं इसलिए वह इनकी तुलना उन ध्वनियों से नहीं कर सकता जो वह अन्य लोगों के वादन में सुनता है। इसके अलावा एक बात यह भी है कि वादक बजाते वक्त सुनता ज़रूर है मगर वह अपना पूरा ध्यान सुनने पर नहीं लगा सकता। उसे अपने संगीत पर, अपनी उँगलियों की स्थिति पर, और आने वाले सुरों पर ध्यान देना होता है। वह अपने दिमाग के एक हिस्से से ही सुनता है। और अन्तिम दिक्कत यह है कि वादक, खासकर यदि वह नौसिखिया वादक है, वादन के रोमांच में इस कदर डूबा होता है कि वह वस्तुनिष्ठ ढंग से सुन नहीं सकता कि वह क्या बजा रहा है। यदि मैं अपने चेलो पर कोई टुकड़ा पिछली बार की अपेक्षा तनिक बेहतर बजाऊँ, तो मैं इतना खुश और उत्तेजित हो जाता हूँ कि शायद मैं यह मान बैठूँ कि वह बहुत ही अच्छा था जबकि वास्तव में वह उतना अच्छा नहीं था।

टेप रिकॉर्डर से इन समस्याओं को हल करने में मदद मिलती है। जब मैं रियाज़ करता हूँ तो अपने दफ्तर के दूसरे कोने में माइक लगा देता हूँ। इससे टेप रिकॉर्डर में संकेत जाते हैं। टेप रिकॉर्डर को मैं हेडफोन से सुन सकता हूँ। यानी बजाते हुए मैं यह सुन सकता हूँ कि सामने बैठे किसी व्यक्ति को मेरा चेलो वादन कैसा सुनाई पड़ेगा। कभी-कभी मैं अपने द्वारा बजाई गई सरगम या कोई टुकड़ा रिकॉर्ड कर लेता हूँ ताकि बाद में उसे पूरी एकाग्रता और आलोचनात्मक दृष्टि से सुन सकूँ। इस दौरान मैं अपनी कई ऐसी गलतियाँ पकड़ पाता हूँ जिन्हें मैं बजाने के रोमांच में चूक गया था। मैं वह सुन सकता हूँ जिस पर और काम करना है, बदलाव करना है, सुधार करना है। किसी वाद्य यंत्र का उपयोग करने वाले कई लोग स्वयं को ऐसा फीडबैक देना सीख सकते हैं। संगीत अभ्यास-कक्ष ज़्यादा उपयोगी साबित होंगे यदि उनमें टेप रिकॉर्डर हो जिसका उपयोग

लोग इस मकसद से कर सकें।

क्रम की समस्याएँ

कभी-कभी शिक्षक कार्यों को ठीक से क्रमबद्ध नहीं कर पाता और छात्र को उसके बूते से बाहर का काम दे देता है। यह उसे हताश व शर्मिन्दा कर सकता है, उसका आत्मविश्वास ढिगा सकता है, और शायद उसे घायल कर सकता है। मेरा एक छात्र दोस्त रॉक क्लाइम्बिंग (चट्टान चढ़ने) में बहुत कुशल है। उसने एक बार मुझसे भी कोशिश करने को कहा। कुछ अन्य लोगों के साथ हम एक जगह पहुँच गए। यह नौसिखियों के लिए एक छोटी, काफी खड़ी चढ़ाई वाली चट्टान थी जिस पर पैर व हाथ जमाने के लिए कई दरारें और उभार थे। उन्होंने मुझे रस्सी की मदद से ऊपर खड़े किसी व्यक्ति से बाँध दिया। पहले एक अनुभवी पर्वतारोही ने चढ़कर दिखाया कि कैसे चढ़ते हैं। फिर उन्होंने मुझसे आगे बढ़ने को कहा। मैं टेनिस के हल्के जूते पहने था: उन्हें पता होना चाहिए था कि वे नहीं चलेंगे। एक जगह पर मैंने अपना एक हाथ एक दरार में जमा लिया। उन्होंने मुझे कहा कि मैं अपना पैर चट्टान के किसी उभार पर जमाकर हाथ जमाने के लिए एक और जगह ढूँँहूँ। मेरे जूते बहुत मुलायम और लचीले थे और मेरा वज़न नहीं सम्भाल सकते थे। मैंने पाया कि मैं उस दरार से लटका हुआ हूँ। पूरा वज़न मेरी उँगलियों पर था जो धीरे-धीरे खुल रही थीं। हर तरफ से सलाहों और प्रोत्साहनों की बौछार होने लगी। बढ़ती बढ़वासी और डर से मैं चिल्लाया कि मैं चढ़ भी नहीं सकता, लटका भी नहीं रह सकता, गिरने वाला हूँ, और खुदा के वास्ते मुझे उस मनहूस चट्टान से उतार दिया जाए। उन्होंने यही किया भी, मगर मैं खुद को मूर्ख और शर्मिन्दा महसूस कर रहा था।

एक अन्य मौके पर कार्य तो ठीक था किन्तु फीडबैक और सुधार नदारद थे। 1947 की गर्मियों में कुछ दोस्तों ने पूछा कि क्या मैं पानी पर स्की आज़माना चाहूँगा। मैंने कहा ज़रूर। मैंने स्की को पैरों में पहन लिया और पानी में इन्तज़ार करने लगा कि नाव मुझे खींचेगी। रस्सी तनी, मैं उठा, मैंने अपना सन्तुलन बिगड़ता महसूस किया और मैं मुँह के बल पानी पर जा गिरा। फिर से किया, नतीजा वही। फिर से किया, वही। फिर से, ढेर सारी सलाह, मगर इस सबसे मुझे यह समझ नहीं आया कि मैं कौन-सी

चीज़ गलत कर रहा हूँ और उसकी बजाय मुझे क्या करना चाहिए। सात-आठ नाकाम कोशिशों के बाद मैंने शर्मिन्दा होकर हाथ खड़े कर दिए। अगली कोशिश मैंने इसके बीस साल बाद की। इस बार मॉडल या सलाह – “अपने हाथ सीधे रखो” – बढ़िया थी, और जब नाव ने रस्सी को खींचकर ताना, तो मैं सीधा हुआ और चल पड़ा।

स्की स्कूल और शिक्षक कार्यों को क्रमबद्ध करने में काफी कुशल हो गए हैं। होना भी पड़ेगा; यदि कार्य बहुत कठिन हुआ तो नया व्यक्ति गिर जाएगा। यदि वह बार-बार गिरा तो मूर्ख और हतोत्साहित महसूस करेगा, और शायद थक जाएगा या खुद को चोट पहुँचा लेगा। बैले उस्तादों की ही तरह स्की शिक्षकों ने भी बरसों के अनुभव के आधार पर क्रमिक कार्यों की एक ंखला तैयार की है। यह ंखला ऐसी है कि प्रत्येक कार्य को करने पर नौसिखिए को शक्ति, तालमेल और माँसपेशियों के प्रति एक जागरूकता प्राप्त होती है जो अगले कार्य के लिए ज़रूरी है। हाल के वर्षों में एक स्की शिक्षक ने तो और भी सरल व परिष्कृत विचार दिया है। चूँकि छोटे स्की ज़्यादा आसान होते हैं, इसलिए क्यों न नौसिखियों को बहुत छोटे स्की पर शुरू किया जाए। तब “स्टेम टर्न” जैसी गतियाँ, जिन्हें बाद में भुलाना होगा, सीखने की बजाय वे शुरू से ही “पैरेलल टर्न” कर सकते हैं। अधिकांश स्की स्कूलों और शिक्षकों ने पहले तो इस विचार पर नाक-भौं सिकोड़ी, मगर अब बहुत सारे स्कूल इस विचार को अपना रहे हैं। यह कारगर है।

कभी-कभी छात्र खुद ही देख पाता है कि अपने काम को छोटे-छोटे कार्यों में कैसे बाँटे। कॉलेज में मेरे आखरी साल में एन.आर.ओ.टी.सी. ने अचानक मुझे शारीरिक परीक्षण करवाने को कहा। रैकेट और बॉल गेम ठीक-ठाक होने के बावजूद मैं शक्तिशाली नहीं था और परीक्षण में बुरी तरह फेल हो गया। एक परीक्षण था जिसमें मुझे सीने की ऊँचाई पर लगी एक छड़ के ऊपर से कूदना था। मुझे अन्दाज़ तक नहीं था कि कहाँ से शुरू करूँ। मैं उसके सामने खड़ा हो गया, खड़ा रहा, बेमतलब कूदने जैसी हरकतें करता रहा और अपने आपको उल्लू महसूस करता रहा। मैं तो यह भी कल्पना नहीं कर सकता था कि इसे करना कैसा *दिखता* होगा – महसूस कैसा होगा वह तो दूर की बात है। थोड़ी देर बाद उकताए हुए परीक्षक ने मुझे दूसरे परीक्षण की ओर धकेल दिया। पूरे परीक्षण के बाद उन्होंने मुझे फिर से परीक्षण की तैयारी के लिए दो-तीन हफ्ते का समय दिया। एक दिन, जब आसपास कोई नहीं था, मैं उस छड़ के पास गया।

मैंने देखा कि उसे नीचे किया जा सकता है। विचार आया कि यदि मैं इस छड़ को काफी नीचे खिसका दूँ और फिर इस पर से छल्लाँग लगाऊँ तो शायद मैं महसूस कर सकूँगा कि यह कैसा लगता है। तब मैं इसे और ऊपर खिसका सकूँगा। मैंने यही किया। मैंने उसे काफी नीचे खिसका दिया और यह महसूस किया कि जब मेरी टाँगें ऊपर जाती हैं तो अपने वजन को हाथों से सहारा देना कैसा महसूस होता है। फिर छड़ को और ऊपर उठाया, यह महसूस किया कि जब मैं अपनी टाँगों से छल्लाँग लगाता हूँ, तो हाथों से अपने आपको उठाना कैसा महसूस होता है। जल्दी ही मेरे दिमाग/शरीर में उस क्रिया की एक अनुभूति, एक मॉडल बन चुका था, और मैं आसानी से छल्लाँग लगा पाया।

जब मैं ग्यारह वर्ष का था तब मेरे एक दोस्त और मैंने तय किया कि हम टेनिस खेलना सीखेंगे। इससे पहले हम काफी लम्बे समय से साथ-साथ गोल्फ खेलते रहे थे। कुछ सस्ते रैकेट और गेंदें उधार लेकर या खरीदकर हम कोर्ट पर पहुँच गए और कोर्ट के पिछले हिस्से से गेंद को मारने का प्रयास करने लगे। घोर असफलता हाथ लगी; यदि कोई एक गेंद को दूसरे पाले में पहुँचा भी देता तो दूसरा उसे वापिस नहीं पहुँचा पाता। थोड़ी देर बाद हमने सोचा कि इसमें कोई मज़ा नहीं है, इसे बेहतर कैसे बनाया जाए? बच्चों की जुगाडु प्रवृत्ति अभी हममें थी, और लुत्फ उठाने में इतनी रुचि थी कि हमें इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि अन्य लोगों की तरह खेलें। हमने नियम बदले, जाली के पास खिसक आए, सर्विस लाइन को अपनी बेस लाइन बना लिया, और खेल का मकसद यह हो गया कि लगातार कितनी बार हम गेंद को दूसरे पाले में पहुँचा सकते हैं। यह बढ़िया खेल साबित हुआ। अब हमें गेंद को बहुत ज़ोर से नहीं मारना पड़ता था, इसलिए मारने के लिए बहुत दूर-दूर तक नहीं दौड़ना पड़ता था। तो हम उस पर बेहतर नियंत्रण कर पाए, लगातार एक से दूसरे पाले में पहुँचा पाए और कुछ मज़ा ले पाए – और हाँ, कुछ टेनिस भी सीख पाए। मेरी जानकारी में यह अब भी कोर्ट पर नए खिलाड़ियों के लिए सबसे अच्छा तरीका है। काफी ठीक-ठाक खेलने वाले खिलाड़ी भी इससे काफी कुछ सीख सकते हैं।

किन्तु यदि कोई शिक्षक अपने छात्र को इस उम्मीद में आसान कार्य देता है कि वह आगे चलकर कोई कठिन कार्य कर पाएगा, तो शिक्षक को सतर्क रहना चाहिए कि इसे लेकर वह बहुत कठोर न हो। यदि वह कठिन काम ऐसा है जिसे करते हुए चोट लगने की आशंका नहीं है और छात्र उसे

करना चाहे, तो करने देना चाहिए। सीखने के किसी कार्य में छात्र की सबसे कीमती और अनिवार्य निधि यह होती है कि वह कुछ साहसिक करने को, जोखिम उठाने को तैयार हो। इसके बिना वह कुछ नहीं सीख सकता। शिक्षक को उसके जोश को ठण्डा नहीं करना चाहिए बल्कि उसे सम्मान देना चाहिए, सुदृढ़ करना चाहिए। लिहाज़ा S-schools की सबसे बड़ी बेवकूफी यह ज़िद है कि बच्चे जो भी पढ़ें उस सबको “समझें” और वही पढ़ें जो वे समझ सकें। अच्छी तरह पढ़ने वाले लोग इस तरह पढ़ना नहीं सीखते। पढ़ना सीखने के लिए वे ऐसी किताबों में कूद पड़ते हैं जो उनके लिहाज़ से बहुत “ऊँची” होती हैं। जितना समझ में आता है उसका मज़ा लेते हैं, जो समझ में नहीं आता उसके बारे में सोचते और अटकल लगाते हैं, और सारे उत्तर न मिलने पर चिन्तित नहीं होते। S-school में बहुत ही कम बच्चों को इस तरह करने या महसूस करने दिया जाता है। उन्हें यह एहसास कराया जाता है कि न “समझ” पाना जैसे कोई जुर्म है। वे यह सोचना बन्द कर देते हैं कि वे साहसिक यात्री या खोजी हैं और किताबें खोज की रोमांचक भूमि है। वे वही पढ़ते हैं जिसे लेकर वे आश्वस्त हो पाएँ। इसका मतलब है कि यह उबाऊ होगा, जिसका मतलब है कि वे जल्दी से जल्दी पढ़ना छोड़ देंगे।

t-teaching के अपने अनुभव के आधार पर मैं जानता हूँ कि जब कोई शिक्षक क्रमबद्ध कार्यों की एक बढ़िया ज़ुखला तैयार कर लेता है तो वह इस पर आसक्त हो जाता है और छात्रों को इसमें बाँधने की कोशिश करता है। यह बात हम स्कूलों के अधिकांश विषयों के अध्यापन में देख सकते हैं जो क्रमबद्ध कदापि नहीं हैं। और संगीत के शिक्षण में देख सकते हैं जो कुछ हद तक क्रमबद्ध है। मगर इसमें खोजबीन और आविष्कार की गुंजाइश काफी है जबकि संगीत शिक्षक इसकी अनुमति या इसके लिए प्रोत्साहन नहीं देते। बरसों पहले मैंने टेनिस सीखने के लिए कार्यों की एक क्रमिक ज़ुखला तैयार की थी। सबसे पहला कार्य है गेंद को रैकेट की जाली पर उछालना। इससे हाथों व भुजाओं की मार करने वाली माँसपेशियों को ताकत तो मिलती ही है, साथ में सटीकता, नियंत्रण, सचेतता और फीडबैक की व्यवस्था भी विकसित होती है, जिनकी मदद से आगे चलकर खिलाड़ी गेंद को कोर्ट के अन्दर बनाए रख सकेगा। कई नौसिखिए इस ताकत, संवेदना और सचेतता के बगैर ही मैदान में पहुँच जाते हैं। वे गेंद पर कितना बल लगा रहे हैं, इस पर उनका ज़्यादा नियंत्रण नहीं होता। लिहाज़ा वे गेंद को कोर्ट के अन्दर नहीं रख पाते। कई खिलाड़ी इस चरण

में बहुत वक्त ज़ाया करते हैं, और कुछ तो इसे पार ही नहीं कर पाते या हारकर खेलना ही छोड़ देते हैं।

मेरी टेनिस जूखला में कई अन्य चरणबद्ध कार्य हैं। इसमें वह छोटा खेल भी शामिल है जो मैंने अपने दोस्त के साथ खोजा था। जब शिक्षण शुरू होता है तो अक्सर मेरा आग्रह होता है कि वे शुरुआती कार्य तब तक करते रहें जब तक कि अच्छे से न करने लगें, और इसके बाद ही वे पूरे कोर्ट में खेलने के बड़े और मुश्किल काम की ओर बढ़ें। मगर वे ऐसा करना नहीं चाहते, और सही भी है। मुमकिन है कि यदि वे पूरे कोर्ट पर खेलेंगे तो शायद तीन में से एक बार गेंद को कोर्ट के बाहर मारेंगे और अपना काफी समय गेंद के पीछे भागने में बिता देंगे। मगर फिर भी वे इसे आजमाना चाहते हैं क्योंकि यही तो टेनिस है। कोई भी होशियार और चतुर शिक्षक उन्हें रोकने की कोशिश नहीं करेगा। यदि उसके छात्रों को गेंद को मारने में मज़ा आ रहा है तो ठीक ही है। यदि वह देखे कि छात्रों को इसमें मज़ा कम और हताशा ज़्यादा हाथ लग रही है तो शिक्षक कोई ज़्यादा आसान, करने योग्य और इसीलिए ज़्यादा मज़ेदार कार्य सुझा सकता है। बात इतनी सी है कि एक ऐसा सन्तुलन हासिल किया जाए जो छात्रों के लिए सबसे रोचक, रोमांचक और उपयोगी हो। बेहतर तो यह होगा कि छात्र खुद ही यह सन्तुलन खोज निकालें। यहाँ शिक्षक का कुदरती अधिकार महत्वपूर्ण है। छात्र शिक्षक द्वारा बताए गए कार्यों को करेगा बशर्ते कि उसे शिक्षक पर भरोसा हो, और यह विश्वास हो कि ये छोटे-छोटे कार्य उसे बड़े कार्य को करने में मदद देंगे और कि शिक्षक उसे कोई कठपुतली या पालतू कबूतर नहीं बल्कि उस्ताद बनाना चाहता है।

दिमाग में कार्य

किसी काम को वास्तव में करने से पहले ज़रूरी है कि हम उसे अपने मन में कर पाएँ। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि बस सोच लो कि “मैं इसे कर सकता हूँ”। मेरा मतलब है कि उस कार्य का एक चित्र बना लो, शरीर में यह महसूस करो कि उस कार्य को करना कैसा लगेगा। यदि हम स्वयं को वह काम करते देख या महसूस नहीं कर सकते तो हम उसे नहीं कर पाएँगे। उस आड़ी छड़ के सामने खड़े होकर यह सोचते हुए मेरी यही दिक्कत थी कि इस पर से कैसे छलाँग लगाऊँ। पहली बार वॉटर स्की पर पैर जमाने में भी यही दिक्कत थी। मैं यह महसूस ही नहीं कर पा रहा था

कि यदि ऐसा हुआ तो कैसा लगेगा, इसलिए मैं यह नहीं समझ पा रहा था इसे कैसे करूँ।

जब तीस की उम्र में कॉलोरेडो के स्कूल में मैंने पहली बार स्की करना शुरू किया था, तब मेरे शिक्षक (और बॉस) जॉन होल्डन ने मेरे कार्यों को अच्छे क्रम में रखा था। मात्र दो दिन स्की पर चलने और छोटे-छोटे सीधे फासले दौड़ने के बाद ही वे मुझे एक पहाड़ी पर ले गए और बताया कि कैसे ट्रेवर्सिंग, साइड स्लिपिंग, और किक-टर्निंग की मदद से मैं बगैर किसी जोगिंग के किसी भी ढलान पर उतर सकता हूँ, चाहे वह ढलान कितनी ही खड़ी क्यों न हो। फिर तो पहाड़ी मेरी थी। शिक्षक तो अन्य छात्रों को सिखाने चले गए और मुझे छोड़ गए इस पर महारत हासिल करने को। समय के साथ, बगैर अन्य निर्देशों के, मैं काफी अच्छा स्कीयर बन गया। ट्रेवर्सिंग (किसी ढलान को आड़े में पार करना) और साइड स्लिपिंग की जो गतियाँ उन्होंने मुझे दिखाई थीं, वे मुझे समान्तर स्कीयों के साथ एक पूरा चक्कर लगाने के लिए तैयार करने में बहुत मददगार रहीं। हालाँकि मैं ढलान पर मुड़ सकता था और एक प्रकार का स्टेम टर्न भी कर सकता था, मगर कुछ समय तक मैं स्कीयों को साथ-साथ रखते हुए एक के बाद एक मोड़ नहीं ले पाता था, जैसा कि अच्छे स्कीयर करते हैं। मेरी दिक्कत यह थी कि सिद्धान्त रूप में तो मैं जानता था कि इसे कैसे किया जाता है, मगर अपने मन और मांसपेशियों में मैं महसूस नहीं कर पाता था कि ऐसा करना कैसा लगेगा। फिर एक दिन जब मैं लिफ्ट से ऊपर जा रहा था तो एक स्कीयर ऐन मेरे नीचे से ढलान उतर रहा था और उतरते हुए बहुत सहज और उम्दा ढंग से मुड़ता जा रहा था। मैं उसे देखता रहा, और उसके शरीर को अपना सोचकर कुछ हद तक यह महसूस करने की कोशिश करता रहा कि उसे कैसा लग रहा होगा। पता नहीं क्यों, ऊपर से उसे देखने पर यह आसान लगा। मैंने सोचा, “तो ऐसे करते हैं।” जल्दी ही मैं सचमुच के समान्तर मोड़ मुड़ने लगा। थोड़े बेढंगे और अनगढ़ ही सही, पर सचमुच के स्कीयरों की तरह।

बरसों बाद मेरे दोस्तों ने मुझे अपनी सात-आठ वर्ष की बच्ची के बारे में बताया। उसने एक नियमित सायकिल के लिए खूब गुहार की थी। उन्होंने उसे सायकिल खरीद दी, मगर महीनों बीत जाने के बाद भी उसने उस पर सवारी करने की कोई कोशिश नहीं की थी। उन्होंने पूछा कि क्या करें। उसे सिखाने की कोशिश करें? मदद की पेशकश करें? थोड़ा दबाव डालें

— यदि तुम उसे बाहर तक न निकालो तो सायकिल लेने का क्या फायदा? मैंने उनसे ऐसा न करने का अनुरोध किया। मुझे खुद अपनी स्कीइंग की याद आई, और लम्बे समय से मेन में रहने वाली आजीवन शिक्षक रही महिला की एक टिप्पणी याद आई कि बच्चे गर्मियों में स्केटिंग और जाड़ों में तैरना सीखते हैं। ये बातें याद करके मैंने सुझाया कि शायद वह बच्ची अपने मन में सायकिल चलाना सीख रही है, और जब तक वह मन में सायकिल न चला ले तब तक उससे कहीं और सायकिल चलवाने की कोशिश करना फिज़ूल है। हो सकता है कि वह अन्य बच्चों को देख रही हो और सोच रही हो कि सायकिल चलाना कैसा महसूस होगा। कुछ दिनों बाद उन्होंने मुझे लिखा कि कई महीनों तक सायकिल को हाथ तक न लगाने के बाद एक दिन वह बच्ची सायकिल बाहर ले गई और उसने घास पर थोड़ी देर उसकी सवारी की। एक-दो बार वह गिरी, मगर उसे कोई चोट नहीं आई। इसके बाद वह बिना किसी दिक्कत के सायकिल पर चढ़कर सड़क पर निकल गई। उस दिन से वह सायकिल चला रही है।

कभी-कभी शिक्षक को लगता है कि छात्र उसके निर्देशों का पालन नहीं कर पा रहा है। तब शायद वह उनके बारे में बताने का कोई ऐसा तरीका निकाल सकता है जिससे छात्र को यह महसूस करने में मदद मिले कि उस कार्य को करना कैसा लगेगा। मगर यह मुश्किल और नफीस चीज़ है। हमारे लिए उस चीज़ के बारे में सोचना मुश्किल होता है जिसे हम बगैर सोचे अच्छे से कर लेते हैं। यह याद करना भी कठिन होता है कि किसी काम को न कर पाना कैसा लगता था। किसी अनाड़ी की नज़र से चीज़ों को देखना मुश्किल होता है। कई बार ऐसा होता है कि जो चीज़ हमें किसी काम का एहसास कर पाने में मदद करती है, वह दूसरों के लिए मददगार नहीं होती। वैसे मुझे इस पर शक है, मगर हो सकता है कि टेनिस प्रशिक्षक को यह सोचकर मदद मिली हो कि वह टेनिस गेंद के साथ नृत्य कर रहा है। मुझे यकीनन इससे कोई मदद नहीं मिली।

कभी-कभी एक इशारा भी मददगार हो जाता है। अमरीकी बच्चों को फ्रेंच “u” (जैसे “tu” में) सिखाने का असफल प्रयास कई फ्रेंच शिक्षकों ने किया है। एक शिक्षक ने इस समस्या को यों सुलझाया था। वह कहता था, “अपने होठों को मेरे जैसा बनाओ या ऐसे बनाओ मानो तुम सीटी बजा रहे हो, और फिर बोलो ‘eee’। ‘u’ की ध्वनि पैदा करने की कोशिश मत करो, ‘e’ की ध्वनि पैदा करो।” यह कारगर है, कम से कम इससे छात्र को

उस ध्वनि का निकटतम एहसास मिल जाता है।

जब लोग कोई ऐसा खेल खेलना सीखते हैं जिसमें चलती हुई गेंद को मारना होता है, तो उन्हें यह सीखने में बहुत मुश्किल होती है कि गेंद को अन्तिम क्षण तक देखते रहें। उनके शिक्षक कहते हैं, “गेंद को देखो।” छात्र कहते हैं कि वे गेंद को देख रहे हैं। एक खिलाड़ी के रूप में अपने अनुभव से मैं जानता हूँ कि ज़्यादातर समय वे गेंद को नहीं देखते। वे करते यह हैं कि गेंद को तब तक देखते हैं जब तक वह उनसे तीन से छह फुट दूर होती है, इसके बाद वे उस जगह को देखने लगते हैं जहाँ वे गेंद को पहुँचाना चाहते हैं। कई बरसों तक मैं भी यही करता था और आज भी जब मैं लापरवाह हो जाता हूँ या आत्मविश्वास खो देता हूँ तो कभी-कभी ऐसा करता हूँ। कुछ हद तक यह स्वाभाविक है। जब हम गेंद को किसी निशाने पर फेंकना चाहते हैं तो हम गेंद को नहीं बल्कि लक्ष्य को देखते हैं। कुछ हद तक यह भी होता है कि हम गेंद को अपनी इच्छा से मनचाही जगह पर भेजना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि लक्ष्य की ओर देखने से गेंद वहाँ चली जाएगी। जब तक मैं यह न समझ गया कि मैं ऐसा क्यों करता हूँ, तब तक मैं खुद को (या अन्य किसी को) ऐसा करने से नहीं रोक पाया। एक बार समझ जाने पर मैं स्वयं से कहता, “गेंद को रैकेट की जाली से टकराने तक देखते रहो और गेंद को मारने के बाद भी ऊपर देखने से पहले एक पल टकराव के उस बिन्दु को देखते रहो। गेंद पर विश्वास रखो कि वह वहाँ चली जाएगी जहाँ तुमने उसे मारा है। वैसे भी मार देने के बाद तुम उसकी दिशा को नहीं बदल सकते।”

खेल के एक फोटो में यह बात साफ दिखती थी। फोटो मिकी मेंटल की थी। वह न्यू यॉर्क यैंकीस के साथ था और अपने कैरीयर के चरमोत्कर्ष पर था, मगर उस समय उसकी बल्लेबाज़ी कमज़ोर चल रही थी। वह बाएँ हाथ से बल्लेबाज़ी करता था और फोटो दाईं ओर से लिया गया था। चित्र में उसे बल्ले को पूरी ताकत से घुमाते और गेंद को चूकते दिखाया गया था। किन्तु वह गेंद या उसके आसपास नहीं देख रहा था बल्कि घूरकर मैदान के दाहिने भाग को देख रहा था गोया वह अपनी आँखों और इच्छा से सोचकर, देखकर गेंद को अपनी मनचाही जगह पर भेज देगा। कुल मिलाकर वह वही कर रहा था जो उसे “पता” था कि नहीं करना चाहिए।

t-eacher – एक सहारा

डेनमार्क में कोपेनहेगन के पास एक उपनगर बाग्सवर्ड में एक स्कूल है, नाय लिलस्कूल (नया छोटा स्कूल)। जहाँ तक मुझे पता है यह शायद अपनी तरह का एकमात्र स्कूल है जहाँ कोई नियमित कक्षा नहीं होती, कोई पाठ्यक्रम नहीं है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहाँ बच्चों से पढ़ने के लिए कोई आग्रह नहीं किया जाता और न ही खुशामद की जाती है या कोई प्रलोभन दिया जाता है। यहाँ बच्चे खुद तय करते हैं कि वे कब पढ़ना शुरू करेंगे। जब तक वे न चाहें तब तक उन्हें बड़ों से कोई मदद नहीं लेनी पड़ती। यदि किसी बच्चे को बड़ों से कोई मदद चाहिए तो वह पढ़ने के लिए कोई भी चीज़ लेकर स्कूल के प्रधान रैस्मस हेंसन से कहेगा कि वह उसके साथ पढ़े। लम्बी दाढ़ी और गहरी व मुलायम आवाज़ का मालिक रैस्मस हेंसन और वह बच्चा इसी काम के लिए आरक्षित एक कोने में जाकर बैठ जाएँगे। यह कोना स्कूल के उस बड़े से कमरे में है जहाँ स्कूल का अधिकतर जीवन गुज़रता है। बच्चा अपनी जगह ढूँढकर ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने लगता है। इस दौरान रैस्मस बहुत कम बोलता है। जब बच्चा पढ़ता है तो रैस्मस मात्र सहमति या प्रोत्साहननुमा आवाज़ें करता रहता है। यदि बच्चा किसी शब्द को गलत पढ़ता है तो रैस्मस उससे पूछ सकता है (या शायद न भी पूछे) कि क्या उसने सही पढ़ा है या किसी और तरह से यह सुझाव दे सकता है कि वह उस शब्द को एक बार फिर से देख ले। कई बार ऐसा होता है कि बच्चा किसी शब्द को बूझने की कोशिश में अटकल लगाता है और उसे सही पढ़ देता है, मगर उसे आत्मविश्वास नहीं होता। कभी-कभी तो वह पूछ भी लेता है कि क्या उसने उस शब्द को सही पढ़ा है। तब रैस्मस संकेत देगा कि उसने सही पढ़ा है। या हो सकता है कि बच्चा कहीं अटक जाए, यह तय न कर पाए कि उस शब्द को कैसे पढ़ते हैं, मगर शायद पूछना न चाहे। ऐसी स्थिति में रैस्मस उसे समय देगा, मगर साथ ही कोशिश करेगा कि वह अटक न जाए या बदहवासी में जड़ न हो जाए। इस तरह की चुपियों का अलग-अलग बच्चों के लिए अलग-अलग अर्थ होता है। या यह भी हो सकता है कि बच्चा न समझ पाए कि किसी शब्द को कैसे बोलते हैं, या उस समय खुद पता न लगाना चाहे तो वह पूछ ले। ऐसे में रैस्मस या तो उससे कोई सवाल करेगा या उसे कोई संकेत देगा जिससे वह पता लगा सके या अक्सर सीधे बता देगा। हो सकता है कि वे पढ़ते-पढ़ते बीच में रुककर किसी और चीज़ के बारे में बातें करने लगे। जब बच्चे को लगे कि बहुत हो गया तो उसे उठकर चले जाने की आज्ञा दी है।

शिक्षक शायद सोचेंगे कि स्कूल का प्रधान एक-एक बच्चे पर इतना व्यक्तिगत ध्यान कैसे दे सकता है। इसलिए दे सकता है क्योंकि दबाव से मुक्त इन बच्चों को इसकी ज़रूरत ही बहुत कम पड़ती है। उस स्कूल में शायद ही कोई ऐसा बच्चा होगा जिसे अच्छी तरह, बगैर मदद के, आत्मविश्वास के साथ पढ़ने से पहले तीस घण्टे से ज़्यादा इस तरह की मदद की दरकार होती हो। अधिकांश बच्चों को इससे कहीं कम मदद की ज़रूरत होती है, कुछ बच्चों को तो बिल्कुल नहीं। रूढ़िगत S-schools में T-teachers का काम का बोझ इतना अधिक इसलिए होता है कि ये स्कूल और शिक्षक मानते हैं, और जल्दी ही बच्चों को भी मनवा देते हैं, कि किसी भी चीज़ को तभी सीखा जा सकता है जब वह सिखाई जाए। इसीलिए शिक्षकों को बच्चों की टालमटोल से जूझने और निपटने में सैकड़ों घण्टे बिताने पड़ते हैं। बच्चों की इस तरह की टालमटोल की तकनीकों की बात मैं अपनी पुस्तक *बच्चे असफल कैसे होते हैं* में कर चुका हूँ। वे बच्चों को व्यग्र व निर्भर बना देते हैं और फिर कहते हैं, और सही ही कहते हैं, कि बच्चों की व्यग्रता और निर्भरता से निपटना बहुत मुश्किल है। इस सबकी कोई ज़रूरत नहीं है। यदि बच्चा जब चाहे तब पढ़े और तभी मदद माँगे जब उसे लगे कि उसे मदद चाहिए, तो वह अपनी पूरी क्षमता से काम करेगा, और कार्य से दूर भागने की बजाय उसमें जुट जाएगा, और उसे कभी-कभार ही मदद की ज़रूरत होगी।

किसी भी मायने में यह नहीं कहा जा सकता कि रैस्मस उन बच्चों को पढ़ना “सिखा” रहा है। वे तो खुद ही खोज रहे हैं। जब वे यह खोजबीन करते हैं और जोखिम उठाते हैं तो रैस्मस उन्हें एक तरह का भावनात्मक सहारा देता है। पढ़ना शुरू करने वाले बच्चे के पास कई अटकलें होती हैं, मगर निश्चितताएँ बहुत थोड़ी होती हैं। उसे भरोसा नहीं होता कि वह बगैर किसी मदद के यह काम कर लेगा या मदद की माँग नहीं करेगा। समर्थक वयस्क अपनी मौजूदगी से, सवाल पूछकर, जब बच्चा सही हो तब उसे यह बात बताकर, पूछे जाने पर जानकारी देकर, बच्चे को शब्दों के बारे में न सिर्फ अपनी अटकलों को अपितु उन अटकलों को बनाने के मापदण्डों को परखने, पुष्ट करने और दृढ़ करने में समर्थ बनाता है। जिस तरह से बोलना शुरू करने वाला बच्चा अनजाने में ही व्याकरण के बारे में अटकल लगाता है, उसी प्रकार से पढ़ना शुरू करने वाला बच्चा अक्षर और उसकी ध्वनि के बारे में अन्दाज़ लगाता है। यह मानना, जैसा कि कई लोग मानते हैं, गलत है कि जब तक बच्चे को ध्वनि रीति *सिखाई*

न जाए तब तक वह इसे सीख ही नहीं सकता। स्कूल जिन्हें शब्द पहचान के हुनर (Word Attack Skills) कहते हैं, बच्चा बताए बगैर और अनजाने में स्वयं इन्हें खोज निकालता है। परन्तु यह सब उसे अटकलनुमा, निहायत अनिश्चित और बहुत जोखिम भरा लगता है। समर्थक वयस्क अपनी उपस्थिति के तौर-तरीके से उसे बता देता है कि वह उसे बहुत भटकने, भ्रमित होने या चिन्तित होने नहीं देगा। वह उसे उस मुकाम तक नहीं पहुँचने देगा जहाँ वह अपनी किसी भी अटकल या सहज बोध पर भरोसा न कर पाने की वजह से कुछ न कर पाए। स्कूलों में पढ़ने में असफल रहने वाले अधिकांश बच्चों की यही हालत हो जाती है। डेनिसन ने अपनी पुस्तक *दी लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन* और हर्बर्ट कोह्ल ने अपनी पुस्तक *रीडिंग: हाऊ टू व अन्य रचनाओं में सहारे की इस प्रक्रिया को बयान किया है। यह लगभग वैसा ही है जैसा मैंने तैरना सीख रहे एक तीन वर्षीय बच्चे के साथ किया था (देखें मेरी पुस्तक बच्चे कैसे सीखते हैं) या जॉन होल्डन ने पहाड़ी के ऊपर से स्की करने के सन्दर्भ में मेरे साथ किया था। अनुभवी व्यक्ति अनुभवहीन व्यक्ति से अथवा सतर्क मगर अव्यग्र पालक अपने बच्चे से कहते हैं, “चिन्ता मत करो, तुम खोजबीन करने और चीजें आजमाने को स्वतंत्र हो क्योंकि मैं तुम्हें किसी दिक्कत में नहीं फँसने दूँगा।” फर्स्ट स्ट्रीट स्कूल (दी लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन) में बच्चों को लड़ने-झगड़ने की भी छूट थी क्योंकि उन्हें कई कारणों से कई बार इसकी ज़रूरत पड़ती थी। वयस्क उन्हें लड़ने से रोकते तो नहीं थे, मगर यह ध्यान रखते थे कि वे इस तरह न लड़ें कि किसी को गम्भीर नुकसान हो।*

t-eacher – एक मार्गदर्शक

कई अन्य शब्दों की तरह S-schools में मार्गदर्शन और मार्गदर्शक शब्दों का भी खूब दुरुपयोग हुआ है। S-schools की भाषा में मार्गदर्शन का मतलब होता है आदेश। जब कोई पूछे कि “क्या बच्चों को मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं होती?” तो वह यह नहीं पूछ रहा है कि बच्चों को सलाह की ज़रूरत होती है या नहीं – इसकी तो उन्हें ज़रूरत भी होती है और वे माँगते भी हैं – मगर दरअसल पूछा यह जा रहा है कि क्या बच्चों को हर जगह, हर समय यह बताना पड़ता है कि वे क्या करें। “मार्गदर्शक” वह व्यक्ति होता है जो उन्हें बताता है। अर्थात् “मार्गदर्शन” शब्द अपना वास्तविक अर्थ खो देता है और हम यह भूल जाते हैं कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे को वास्तव में कैसे मार्गदर्शन दे और उसकी मदद करे।

जब मेरे दोस्त लोग किसी ऐसे जंगल में मछली पकड़ने जाते हैं जिसके बारे में उन्हें जानकारी नहीं है, तो वे किसी मार्गदर्शक से इस तरह के सवाल पूछते हैं: “मछली पकड़ने के लिए अच्छी जगहें कौन सी हैं? आपके ख्याल से अभी अच्छी फिशिंग कहाँ होगी? अच्छी ट्राउट (या पाइक या बास वगैरह) कहाँ मिलेगी?” या वे पूछेंगे: “हम किसी खास जगह कैसे पहुँच सकते हैं? आप हमें वहाँ ले जाएँगे क्या?” या वे इतना ही कहेंगे कि “हमें किसी अच्छे फिशिंग स्थल पर ले चलो।” प्रथम प्रकार के प्रश्नों में वे अपने पास अधिक से अधिक विकल्प रखना चाहते हैं। वे सिर्फ इतना चाहते हैं कि मार्गदर्शक उन्हें स्थानों की सूची बता दे और उसमें से वे चुन सकें। दूसरे मामले में उन्होंने स्थान चुन लिया है, मगर मार्गदर्शक को यह छूट दी है कि वह उन्हें वहाँ कैसे ले जाए; वे उसके अनुयायी बन गए हैं। तीसरे मामले में सारे निर्णय मार्गदर्शक पर छोड़ दिए गए हैं।

कभी-कभी जब छात्र की क्रिया, उसे करने, या कार्य में हुनर की ज़रूरत हो या उसमें जोखिम हो, तो एक अच्छा मार्गदर्शक बनने के लिए t-teacher को कार्यों को कुछ हद तक क्रमबद्ध करना चाहिए। जैसे यदि किसी पहाड़ी के लिए नया स्कीयर किसी प्रशिक्षक, स्की पैट्रोलमैन या अन्य विशेषज्ञ से पूछे कि स्की करने के लिए अच्छे स्थान कौन से हैं, तो ये लोग पूछेंगे, “तुम कितने अच्छे से स्की कर लेते हो? तुमने यहाँ या कहीं और कौन-कौन से मार्गों पर स्की किया है?” हो सकता है कि वे नवागन्तुक से थोड़ा स्की करके दिखाने को कहें। इसके बाद वे बताएँगे, “ये मार्ग तुम्हारे लिए बहुत आसान होंगे, ये बहुत कठिन होंगे, ये वाले एकदम ठीक रहेंगे।” यही बात चट्टान पर चढ़ने या पर्वतारोहण, कार्यकिंग या केनोइंग, उड़ने, या हर कठिन चीज़ पर लागू होगी। या यदि कोई नौसिखिया संगीतज्ञ किसी विशेषज्ञ से बजाने के लिए कोई अच्छा संगीत सुझाने को कहता है या यह पूछता है कि वह किनके साथ बजाए, तो विशेषज्ञ पूछेगा, “तुम कितने अच्छे से बजा लेते हो? क्या-क्या बजा चुके हो?” इस सवाल के जवाब से वह समझ जाएगा कि क्या सुझाव देना है। वैसे पढ़ने के समान संगीत में सुरक्षा का कोई सवाल नहीं है, इसलिए इन मामलों में साहस दिखाने से, थोड़ी कठिन चीज़ सुझाने से फायदा हो सकता है। मेरे पहले चेलो शिक्षक हैरॉल्ड स्प्राल ने मुझसे बाख स्वीट्स की कुछ बन्दिशें बजाकर शुरुआत करने को कहा था, जबकि उस समय मैं इसके लिए “तैयार” नहीं था। उन्हें पता था इस संगीत की सुन्दरता के चलते मुझे उस वाद्य से प्रेम हो जाएगा और मैं और अच्छा बजाना चाहूँगा। आगे चलकर सैम पिएल,

जिन्हें मैंने सुर में गाने में मदद दी थी, ने सुझाव दिया कि मैं हेडन के डी कंसर्टों पर हाथ आजमाऊँ। उसने कहा, “यह तुम्हारे लिए बहुत मुश्किल होगा, तुम इसे नहीं बजा पाओगे, मगर सिर्फ कोशिश करते हुए ही तुम कई रोचक चीज़ें सीखोगे।” उसका कहना सही था और है। हाल ही में मैंने ड्वोरैक कंसर्टों पर हाथ आजमाना शुरू किया है। इसे अच्छी तरह बजाना तो दूर, सिर्फ बजाना भी मेरे लिए बहुत मुश्किल है। मगर यह एक आकर्षक चुनौती है।

कभी-कभी मार्गदर्शन में हुनर की भूमिका नहीं होती, सिर्फ अभिरुचि की भूमिका होती है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे से पढ़ने के लिए कोई अच्छी किताब या सुनने के लिए कोई अच्छा संगीत या देखने के लिए कोई अच्छी फिल्म या नाटक सुझाने को कहे, तो दूसरा व्यक्ति पूछेगा, “तुम्हें किस तरह की चीज़ पसन्द है?” कई लोग मुझसे संगीत के बारे में यह सवाल पूछते हैं। कभी-कभी मैं कोई संगीत सुझा देता हूँ जिसके बारे में मुझे पता है कि वह उन्हें पसन्द आएगा। कभी-कभी मैं कहता हूँ, “वैसे तो यह तुम्हारी रुचि के अनुरूप नहीं है, फिर भी सुनकर देख लो।” *यदि लोगों को यह अधिकार हो कि वे नापसन्द होने पर उसे खारिज कर दें* तो इस तरह के सुझाव से उनका कोई नुकसान नहीं होगा। संक्षेप में, जब कोई शिक्षक यथार्थ के किसी पक्ष, चाहे भौगोलिक, एथलेटिक, कलात्मक या बौद्धिक, की खोजबीन में छात्र की मदद करना चाहे तो उसे पहले यह पता कर लेना चाहिए कि अभी छात्र कहाँ है। अजनबियों को शहर घूमने में मदद देने के लिए जो नक्शे लगाए जाते हैं उनमें एक तीर होता है जिस पर लिखा होता है, “आप यहाँ हैं।” इसके बगैर नक्शे बेकार हैं।

परीक्षणों का एकमात्र जायज़ उपयोग यही है – यह पता करना कि छात्र कहाँ है ताकि शिक्षक कार्यों को बेहतर क्रम में जमा सके और खोजबीन में छात्र की मदद कर सके। S-schools में दिए जाने वाले टेस्ट इस तरह के नहीं होते। जैसा कि विंस्टन चर्चिल ने अपने स्कूल के बारे में कहा था, स्कूलों में टेस्ट यह जानने के लिए नहीं दिए जाते कि आप क्या जानते हैं, बल्कि यह जानने के लिए दिए जाते हैं कि आप क्या नहीं जानते। इनका मकसद यह भी नहीं होता कि आपको मदद दी जा सके, कि आप वह सब जान सकें जो आप नहीं जानते। बल्कि इनका मकसद आपको मात्र यह बताना होता है कि आप अन्य छात्रों से बेहतर हैं या बदतर। जो t-teacher यह जानना चाहता है कि कोई छात्र कहाँ है, वह उस एक छात्र के लिए विशेष टेस्ट बनाएगा। वह यह टेस्ट सारे छात्रों से नहीं करवाएगा क्योंकि

इससे अधिकांश छात्रों के बारे में कोई उपयोगी जानकारी नहीं मिलेगी। और, उस छात्र की तुलना अन्य छात्रों से करने पर शायद वह छात्र डर जाए और यह न दर्शा सके कि वह वास्तव में क्या-क्या जानता है। इससे वह चालबाज़ी करने या झाँसा देने को प्रेरित होगा या हो सकता है कि वह जड़ होकर चुप हो जाए।

इस तरह का परीक्षण करना एक सूक्ष्म हुनर व कला है जिससे छात्र जो कुछ बेहतर ढंग से जानता है वह उभरकर आए। हम यह बहुत कम करते हैं और इसलिए घटिया ढंग से करते हैं। *बच्चे असफल कैसे होते हैं* में मैंने ऐसे कुछ टेस्टों का ब्योरा दिया है जो मैंने अपने कुछ छात्रों की स्थिति पता लगाने के लिए बनाए थे। कुछ वर्षों तक मैं इस मुगालते में रहा कि मैंने काफी चतुराई से अपने छात्रों के भ्रम उगलवा लिए हैं। आज मुझे लगता है कि मैंने शायद उन भ्रमों में इज़ाफा ही किया होगा। अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में भी एक व्यक्ति के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के विचारों में या मन में बहुत दूर तक झाँक पाना असम्भव होता है – और S-school और S-schoolनुमा कोई भी दबावपूर्ण संस्था तो सबसे बदतर परिस्थिति है। कारण यह है कि जब एक व्यक्ति को यह अधिकार हो कि वह दूसरे का मूल्यांकन कर सके और उस आधार पर उसे पारितोषिक या दण्ड दे सके, तो दूसरे व्यक्ति के मन में यह ख्याल यकीनन आता है, “यह निर्णायक क्या चाहता है? मैं इसे कैसे खुश कर सकता हूँ या उल्लू बना सकता हूँ? इसके मूल्यांकन से भागने और खतरे से बचने का सबसे अच्छा तरीका क्या होगा?”

बच्चे क्या सोचते हैं इसे जानने के सबसे विलक्षण तरीकों का आविष्कार स्विट्ज़रलैण्ड के मनोवैज्ञानिक ज्यां पियाजे ने किया है। मगर सारे परीक्षणों के समान उनके परीक्षण भी दो खामियों से ग्रस्त हैं। एक खामी का सम्बन्ध सम्प्रेषण से है। परीक्षणकर्ता एक प्रश्न पूछता है, “परीक्षार्थी” उसका उत्तर देता है। मगर हो सकता है कि परीक्षार्थी परीक्षणकर्ता के सवाल को गलत समझे या उसकी गलत व्याख्या कर ले, और परीक्षणकर्ता ऐसा ही परीक्षार्थी के उत्तरों के साथ कर सकता है। इससे बचना मुश्किल है। यदि मैं आपको अपना प्रश्न इतने अच्छे से समझाना चाहूँ कि आप उसे गलत समझ ही ना सकें, तो ऐसा तभी हो सकता है जब मैं उत्तर की ओर इतना स्पष्ट इशारा करूँ कि आप उसे चूक ना सकें। इस बात को स्कूली बच्चे बहुत अच्छे से जानते हैं और इसका फायदा उठाते हैं। आप भी तब

तक यह पक्की तौर पर नहीं कह सकते कि आपने मेरे प्रश्न को सही समझा है जब तक कि आपको यह पता न लग जाए कि आपका उत्तर वही है जो मैं चाहता था।

दूसरी ज़्यादा बड़ी दिक्कत यह है कि परीक्षार्थी परीक्षणकर्ता की इच्छाओं के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होता है व उनसे प्रभावित होता है व होना चाहिए। बरसों पहले अपनी पुस्तक *असफल स्कूल* में मैंने एक फिल्म का ब्योरा दिया था। यह फिल्म पियाजे की देखरेख में व उनकी स्वीकृति से बनाई गई थी। इसमें बच्चों को पियाजे द्वारा दिए गए कुछ टेस्ट करते दिखाया गया था। इसमें चार-पाँच वर्ष का एक बच्चा संरक्षण सम्बन्धी प्रयोग का कर्ता था। परीक्षणकर्ता के पास बराबर आकार के मिट्टी के दो लोंदे थे। उसने बच्चे से यह निष्कर्ष निकलवाया कि वे दोनों लोंदे बराबर आकार के थे। क्या बच्चा वास्तव में इस बात को मानता था? मुझे नहीं पता; उस स्थिति में यही मनचाहा उत्तर था। इसके बाद परीक्षणकर्ता ने एक लोंदे की आकृति थोड़ी बदल दी और फिर से बच्चे से पूछा कि क्या दोनों लोंदे बराबर आकार के हैं; यदि नहीं हैं तो किसमें ज़्यादा मिट्टी है। बच्चे ने कहा कि जिस लोंदे की आकृति बदली गई है उसमें ज़्यादा है। हम कह सकते हैं कि यह उत्तर गलत है। मगर उस स्थिति में यही सही उत्तर था, फिल्म के निर्माता यही उत्तर चाहते थे क्योंकि इससे बच्चों की सोच के बारे में पियाजे की बात “सिद्ध” या पुष्ट होती थी। मगर इस टेस्ट की महत्वपूर्ण बात यह थी कि बच्चा मिट्टी के लोंदों को चन्द पलों के लिए तभी देखता था जब खास तौर से देखने को कहा जाता था, बाकी समय वह अपनी आँखें लगातार परीक्षणकर्ता के चेहरे व माथे पर जमाए रहता था। उत्तर वही था, मिट्टी में नहीं। वयस्कों के साथ अपने लम्बे अनुभव से बच्चा यह बात जानता था।

तो, बारीकी से नियंत्रित परिस्थितियों में हम यह कैसे जान सकते हैं कि बच्चे (या बड़े) क्या सोच रहे हैं? हम नहीं जान सकते। हम थोड़ा-बहुत तभी जान सकते हैं जब छात्र स्वतंत्र रूप से हमारे पास आए, हम पर विश्वास करता हो, जानता हो कि हम जो टेस्ट कर रहे हैं वह उसको ग्रेड देने या उसका दर्जा निर्धारित करने या उस पर ठप्पा लगाने के लिए नहीं, बल्कि उसकी मदद करने के लिए कर रहे हैं, और उसे हमारे फैसले से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। नज़दीकी दोस्तों के बीच भी ये शर्तें काफी कठोर होती हैं जो अक्सर पूरी नहीं होतीं। S-schools में तो इन्हें पूरा किया ही नहीं जा सकता।

कुछ और शिक्षक

शारीरिक और बौद्धिक क्रियाएँ सिखाने में कई महत्वपूर्ण फर्क हैं। अधिकांश शिक्षक बौद्धिक हुनर भी ठीक उसी तरह सिखाने का प्रयास करते हैं जैसे शारीरिक हुनर सिखाए जाते हैं, गोया पढ़ना या गणित या इतिहास सिखाने वाले शिक्षक के पास भी बैले उस्ताद की प्रत्येक क्रिया के समकक्ष एक-एक क्रिया है। तथ्य यह है कि शारीरिक कार्य करने में छात्र की मदद के लिए शिक्षक जो चीज़ें करते हैं वे बौद्धिक कार्य करने में कोई मदद नहीं करतीं और हो सकता है कि वे उसमें बाधा बन जाएँ।

बहुत दिन नहीं हुए, एक बैठक में मैंने जब यह सुझाव दिया कि लोगों को अपने ढंग से दुनिया की खोजबीन की छूट होनी चाहिए तो एक युवा महिला काफी चक्कर में पड़ गई और नाराज़ हुई। उन्होंने पूछा, “मान लीजिए एक छः साल का बच्चा आपसे पूछे कि जेट हवाई जहाज़ कैसे काम करता है, और मान लीजिए कि उसे भौतिक शास्त्र का अध्ययन करने या भौतिकी की किताबें पढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं है, तब आप उसे यह चीज़ कैसे समझाएँगे?” मेरा जवाब था, “आप उसे कैसे समझाएँगी?” वे चकरा गई। मैंने कहा, “मैं मज़ाक नहीं कर रहा हूँ। मान लीजिए आपकी पहचान का कोई छः वर्षीय बच्चा पूछे कि जेट हवाई जहाज़ कैसे काम करता है, तो आप क्या कहेंगी? क्या आप उससे यह कहेंगी कि पहले उसे छः या दस साल तक भौतिकी नाम की चीज़ पढ़ना पड़ेगी, उसके बाद ही वह पता लगा सकेगा? क्या कहेंगी आप?” चन्द सेकण्ड रुककर मैंने कहा, “शायद आप लगभग वही कहेंगी जो मैं कहूँगा – जैसे, इस तरह की कोई बात कि जेट हवाई जहाज़ उड़ता है क्योंकि उसमें से पीछे की ओर ढेर सारी गर्म हवा फेंकी जाती है जो उसे आगे धकेलती है। ठीक उसी तरह जैसे गुब्बारे में हवा भरकर छोड़ देने पर वह कमरे में फुदकता है।” इस तरह का उत्तर उस समय तो शायद चल जाए। इससे बच्चे की समझ में

एक खाली स्थान की पूर्ति हो जाएगी और उसे आगे सोचने और काम करने का मसाला मिल जाएगा। कुछ ही समय बाद शायद वह यह पूछेगा, “हवा गर्म कैसे हो जाती है?” या “हवा को पीछे की ओर फेंका कैसे जाता है?” तब हम कोशिश करेंगे कि बच्चे के इन सवालों का अच्छे से अच्छा जवाब उसके परिचित उदाहरणों की मदद से दें। परन्तु यह कहना कि जेट हवाई जहाज़ के बारे में जानने से पहले उसे भौतिक शास्त्र सीखना पड़ेगा, लगभग वैसा ही है जैसे हम उससे कहें कि किसी शब्द का उच्चारण व अर्थ जानने से पहले उसे पूरी बारहखड़ी, मात्राएँ, संयुक्ताक्षर वगैरह सब सीखना पड़ेंगे। इस तरह की सलाह देकर हम उसे उसकी मंशा, उसके मकसद से काटकर एक लम्बे चक्करदार रास्ते पर डाल देंगे। हमने चीज़ों को उल्टे क्रम में रख दिया है। भौतिक शास्त्र बच्चे को जेट इंजिन तक नहीं ले जाएगा, लेकिन जेट इंजिन के बारे में कौतूहल उसे भौतिक शास्त्र तक ज़रूर ले जाएगा। दरअसल, जेट इंजिनों के बारे में सोचना ही भौतिक शास्त्र है। ऐसा सवाल पूछने वाला बच्चा *भौतिक शास्त्र कर रहा* है। इसमें उसकी मदद करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि हम उसके सवाल का जवाब दें।

लगभग कितने लोगों को पता है कि जेट इंजिन कैसे काम करते हैं? शायद बहुत ही कम लोग होंगे। उन्हें यह कहाँ से व कैसे पता चला? स्कूल से? भौतिक शास्त्र की कक्षा से? शायद अधिकतर लोगों को इन जगहों से पता नहीं चला। बहुत ही कम लोगों ने स्कूल में भौतिक शास्त्र पढ़ा होगा। मैंने पढ़ा था, मगर उसमें जेट इंजिन के बारे में कुछ नहीं था (उनका आविष्कार उस समय हुआ ही था, मगर आज भी ज़्यादातर प्राथमिक या प्रौढ़ भौतिकी के पाठ्यक्रमों में जेट इंजिन नहीं हैं)। अधिकांश स्कूली भौतिकी अन्य चीज़ों के बारे में होती है। तब लोग जेट इंजिनों या अन्य चीज़ों के कामकाज के बारे में जितना भी जानते हैं वह कैसे जानते हैं? वे जानते हैं तो इसलिए कि वे उनके बारे में अखबारों, पत्रिकाओं, किताबों, रेडियो, टीवी आदि पर पढ़ते-सुनते हैं। लिहाज़ा जेट हवाई जहाज़ (या अन्य चीज़ों) के बारे में किसी बच्चे (या वयस्क) के सवाल का जवाब देने का तरीका यही है कि भौतिकी वगैरह के अध्ययन की बातें न करके सीधे-सीधे उसका जवाब दिया जाए। हमारे जवाब से प्रश्नकर्ता जो भी समझे, समझने दीजिए। यदि इससे उसे उसका मनचाहा जवाब मिल जाता है तो बढ़िया, अन्यथा वह अगला सवाल पूछेगा। यदि उसे लगा कि फिलहाल हम इस स्थिति में नहीं हैं कि जो वह वाकई जानना चाहता

है वह बता सकें तो वह पूछना बन्द कर देगा। कभी-कभार हम यह भी कह सकते हैं कि तुम्हारे सवाल का जवाब हम नहीं दे सकते, मगर यह दूसरा व्यक्ति (या किताब या पत्रिका) शायद दे सके। या शायद हम यह कह सकते हैं कि लर्निंग एक्सचेंज सरीखी किसी जगह से सम्पर्क कर लो। हो सकता है कि वे तुम्हें किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में बता सकें जो तुम्हारे सवाल का जवाब दे सके।

इस तरह t-teacher का काम तब शुरू होता है जब वह दूसरा व्यक्ति सवाल पूछता है। सवाल नहीं तो शिक्षण नहीं। मगर यह समझना ज़रूरी है कि एक शिक्षक अपने जवाब से क्या कर सकता है और करता है, तथा क्या नहीं कर सकता। वह ज्ञान नहीं देता। ज्ञान *दिया* नहीं जा सकता। जब आप मुझसे कोई सवाल पूछते हैं तो मैं अपने जवाब में इतना ही कर सकता हूँ कि अपने अनुभव के एक हिस्से को शब्दों में बयान कर दूँ। किन्तु आपको सिर्फ शब्द मिलते हैं, अनुभव नहीं। मेरे शब्दों से *अर्थ हासिल करने के लिए* आपको अपने अनुभव का उपयोग करना होगा। मैंने जो कुछ देखा और किया है, यदि उसका एक अंश भी आपने देखा या किया नहीं है तो आप मेरे शब्दों से कुछ भी अर्थ हासिल नहीं कर पाएँगे। यदि किसी व्यक्ति ने कभी एक पहिया या वृत्त देखा ही नहीं है तो हम उसे सायकिल या कार या गेयर या घिरनी के बारे में कुछ भी नहीं समझा सकते। हमें वहीं से शुरू करना होगा, उसे एक पहिया दिखाना होगा, पहिए को उसके अनुभव में शामिल करना होगा। इसके बाद ही हम उसे उन यंत्रों के बारे में बता सकेंगे जिनमें पहिए का इस्तेमाल होता है। जिस व्यक्ति ने कभी आग नहीं देखी, उसे हम कार या जेट इंजिन में ईंधन के जलने के बारे में नहीं समझा सकते। पहले हमें चीज़ों के जलने, गर्मी, गर्मी के कारण फैलाव, गर्मी की ताकत जैसे तथ्यों को उसके अनुभव का अंग बनाना होगा, इसके बाद ही इंजिनों के बारे में कोई सार्थक बातचीत हो पाएगी।

मगर यदि आपके और मेरे कुछ अनुभव एक से हैं तो अपने अनुभवों की बात करके, उनके कुछ अंशों पर रोशनी डालकर, मैं *आपके अनुभवों* के कुछ ऐसे अंशों को उजागर कर सकता हूँ जिन्हें आपने शायद पहले नहीं देखा था, या मैं उन्हें एक नए ढंग से देखने में आपकी मदद कर सकता हूँ, या डेविड हॉकिन्स के शब्दों में, “संक्रमण व एकत्रीकरण” करने में आपकी मदद कर सकता हूँ। एक बार पाँच साल के एक बच्चे ने मुझसे पूछा कि चोट लगने पर खून कैसे बाहर आने लगता है। मैंने हृदय के बारे

में बताना शुरू कर दिया। उसकी शक्ल से ज़ाहिर था कि यह उसके अनुभव में नहीं है। मैंने उससे पूछा कि क्या उसे पता है कि उसका हृदय कहाँ है या क्या करता है। नहीं, उसे नहीं पता। तब मैंने उससे दस बार ऊँचा से ऊँचा उछलने को कहा। उसने काफी संजीदगी से ऐसा किया। फिर मैंने उससे अपना हाथ अपने सीने पर बाईं ओर रखने को कहा। उसकी आँखें फैल गईं। उसके अन्दर कोई चीज़ धकधक कर रही थी। उसने अपने अन्दर उस चीज़ को कभी महसूस नहीं किया था; वह जानता तक नहीं था कि ऐसी कोई चीज़ उसके अन्दर है। अब जब उसने महसूस कर लिया था, तो मैं उसे बता सकता था कि हृदय कुछ-कुछ हमारी मुट्ठी जैसा होता है, वह हर धक-धक के साथ दबता है, और खून को पतली-पतली नलियों में दौड़ाने का काम करता है। इनमें से कुछ नलियाँ हमें कलाई की चमड़ी के अन्दर दिखती भी हैं। फिलहाल के लिए इतना काफी था।

शिक्षक को कैसे पता चलता है कि उसका उत्तर समझ में नहीं आया है? उपरोक्त मामले में मेरे नन्हे दोस्त के चेहरे पर लिखा था कि उसे मेरे जवाब का कोई अर्थ समझ नहीं आया है। यह अर्थ समझने में मदद के लिए मैंने उससे उसके हृदय के बारे में पूछा। किन्तु मैं हर बार ऐसा करूँ यह ज़रूरी नहीं है। क्योंकि यह सुनिश्चित करना t-teacher का काम नहीं है कि करने वाला समझ ही जाए। यह तो करने वाले का काम है। उसे तय करने दीजिए कि क्या वह शिक्षक के उत्तर से सन्तुष्ट है या नहीं, और यदि नहीं है तो इसके बारे में क्या करना चाहता है। हो सकता है कि वह कोई दूसरा सवाल पूछना चाहे, या वह किसी और से पूछकर देखना चाहे कि वे क्या कहते हैं, या शायद वह कुछ समय तक उसी उत्तर पर विचार करना चाहे। हमें सतर्क रहना चाहिए कि हम करनेवाले के हरेक सवाल के बहाने समूचे जीवन को स्कूल न बना दें जहाँ हर सबक सिखाने के बाद जाँच के लिए छोटी-सी परीक्षा ले ली जाती है। एक बच्ची का किस्सा है कि उसने किसी चीज़ के बारे में अपनी माँ से पूछा, तो माँ ने सुझाव दिया कि वह अपने पिता से पूछ ले। इस पर बच्ची ने कहा, “मैं उतना सारा नहीं जानना चाहती।” अलबत्ता, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जब भी कोई सवाल पूछा जाए तो हम दो टूक जवाब देकर अगला सवाल पूछे जाने तक होंठ सिल लें। इसमें चतुराई की ज़रूरत है। जब हम किसी बच्चे या वयस्क से बात करें तो हमें ऐसे संकेतों पर ध्यान देना चाहिए कि हमारी बात समझ में आ रही है या नहीं, ताकि हम अपनी बात और स्पष्ट कर सकें। मगर

हमें प्रश्नकर्ता में ऐसे संकेतों पर भी ध्यान देना चाहिए कि क्या वह यह समझ चुका है या नहीं कि अब बहुत हो गया और अब वह इस मामले को छोड़ देना चाहता है। जैसे उस दिन मैं अपने एक दोस्त के साथ एक संस्था के वित्तीय विवरण की चर्चा कर रहा था। इस संस्था में हम दोनों की रुचि थी। वह मेरी एक बात को नहीं समझ पा रही थी। मैंने महसूस किया कि मेरे ऊपर समझाने का जुनून सवार हो रहा है। समय रहते मैंने अपने आपको रोककर कहा, “क्या तुम चाहती हो कि मैं और समझाऊँ?” राहत की साँस लेकर उसने कहा, “दरअसल, मैं नहीं चाहती।” उसने फिर इस बात को कभी नहीं उठाया। ठीक ही तो है।

मुश्किल कला है शिक्षक की कला, जवाब देने की कला, पर्याप्त कहने मगर बहुत ज़्यादा न कहने की कला। कुछ लोगों को लगता है कि मशीनें, कम्प्यूटर या और कोई उपकरण इस काम को ज़्यादा अच्छे से करेगा। यह सही नहीं है। एक समय था जब मेरी रुचि शिक्षक-मुक्त पाठ्य पुस्तकों में थी, खासकर गणित में। गणित के शिक्षक अपने छात्रों के अधिकांश सवालों के जवाब देने में इतने अक्षम थे कि मैंने सोचा कि क्यों न ऐसी पाठ्य पुस्तकें हों जो जवाब दे सकें? लगभग उसी दौरान मेरी मुलाकात जूनियर हाई स्कूल के एक शिक्षक से हुई जिसने अपनी कक्षा के साथ मिलकर एक मानक पाठ्य पुस्तक का कुछ इस ढंग से पुनर्लेखन कर लिया था कि वह साल भर हर छात्र के हर सवाल का जवाब दे सकता था। यह उनका मुख्य काम था – एक ऐसी किताब तैयार करना जिसे कक्षा का हर सदस्य समझ सके। मैं एक ऐसी पाठ्य पुस्तक के बारे में सोचने लगा जिसे सिर्फ एक कक्षा नहीं बल्कि सारी कक्षाएँ और सारे छात्र समझ सकें। मगर यह किया नहीं जा सकता। यदि हमने ऐसी किताब बना भी ली तो यह बहुत महँगी होगी और उपयोग करने के लिहाज़ से बहुत मोटी होगी। ऐसी किताब लिखने की शुरुआत कैसे होगी? हमें यह मानकर चलना होगा कि इसे पढ़ने वाले लोग कुछ न कुछ पहले से जानते हैं। मगर हम क्या मानें? वे क्या जानते हैं? या यह सुनिश्चित कैसे करें कि जो कुछ हमने समझाया है वह सब पढ़ने वालों को स्पष्ट हो जाए? क्या हमें व्याख्याओं की व्याख्या, और फिर उस व्याख्या की व्याख्या करनी होगी, और फिर उस व्याख्या की, वगैरह? एक मानव शिक्षक किसी भी किताब या मशीन की अपेक्षा इतना तेज़ रफ्तार और लचीला इसलिए होता है कि एक t-teacher के साथ (T-teacher के साथ नहीं) छात्र वहाँ से शुरू कर सकता है जो वह जानता है और जो वह खोजना चाहता है। वह

अपना *मनचाहा* सवाल पूछ सकता है, और यदि उत्तर स्पष्ट नहीं है तो उसे स्पष्ट करने के लिए जो चाहे कर सकता है। इस बात को डेविड हॉकिन्स यों बयान करते हैं:

आप किसी पाठ्य पुस्तक को तभी समझ पाते हैं जब आप लगभग उस स्थिति में पहुँच जाँँ जब आपको उसे पढ़ने की ज़रूरत ही न रह गई हो। जहाँ वह (यदि वह अच्छी पुस्तक हुई तो) आपको कुछ चीज़ों के बीच उच्चतर स्तर की कड़ियाँ समझने में मदद करती है, जिन्हें आप अलग-अलग करके पहले ही समझ चुके हैं।

गणित करने वाला और कुछ मददगार

“खालिस” बौद्धिक “क्षेत्र” में कोई t-teacher कैसे काम करता है? छात्रों को उससे क्या मिल सकता है? एक करने वाले के रूप में अपने अनुभव से मैं कुछ ठोस उदाहरण देना चाहूँगा।

मैंने यह खण्ड कुछ दिनों पहले काफी जोश के साथ लिखना शुरू किया था। एक दिन मैं सोचता रहा कि मैंने गणित की एक समस्या का हल खोज लिया है। 1956 से ही मैं इस समस्या के बारे में सोचता और जूझता आ रहा हूँ। यह रूढ़ संख्याओं (prime numbers) के बारे में एक प्रमेय है। इससे मेरा सामना पेंग्विन द्वारा प्रकाशित आम लोगों के लिए गणित की एक किताब में हुआ था। जो लोग संख्या सिद्धान्त के साथ काम करते हैं वे इस प्रमेय को जानते हैं और इसे सिद्ध करना भी जानते हैं, मगर सेकेण्डरी स्तर की गणित की शायद ही किसी किताब में इसका ज़िक्र हो। उस किताब के लेखक का कहना था कि मात्र सेकेण्डरी स्तर का गणित पढ़ा मगर गणित में असाधारण प्रतिभा वाला व्यक्ति इसे सिद्ध कर सकता है। इस चुनौती को स्वीकार करके, उसी दिन से मैंने इस समस्या पर काम करना शुरू कर दिया और आज तक कर रहा हूँ। पूरे समय नहीं, बहुधा भी नहीं, शायद हर दो-तीन साल में एक बार। किन्तु यह मेरे ज़ेहन में बैठी हुई है। मैं किसी किताब में इसका प्रमाण देखने की कोशिश नहीं करता, क्योंकि मैं इसे किसी दिन अपने आप हल करने का अवसर नहीं गँवाना चाहता। इसीलिए मैं उस प्रमेय का नाम यहाँ नहीं दे रहा हूँ; डर है कि कोई दयालु व्यक्ति इसका हल मुझे भेज देगा या इसे हल करने का कोई सुराग दे देगा। एक इशारा भी कयामत हो जाएगा क्योंकि यदि तब मैंने उत्तर खोज निकाला तो मैं कभी पक्की तौर पर यह न कह सकूँगा कि उस

इशारे के बगैर मैं उसे खोज पाता या नहीं। कभी न खोज पाने का जोखिम उठाकर भी मैं इसे खुद ही करना चाहता हूँ।

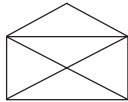
मेरी दिलचस्पी गणित में हुई कैसे? स्कूल में तो नहीं। स्कूल के गणित से तो मैं ऊब जाता था। मैंने गणित तब सीखा जब बरसों बाद मेरे छात्र – कुछ निरर्थक पहेलियों और उन पहेलियों को हल करने के नियमों के रूप में – इसे सीख रहे थे (या सीखने की कोशिश कर रहे थे)। किसी ने यह नहीं बताया कि उन पहेलियों और नियमों के पीछे कभी सोचने वाले कुछ इन्सान थे, जो जिज्ञासा, उलझन, विस्मय और आनन्द के सिलसिले से गुज़रते थे। मेरे एकमात्र शिक्षक जिन्होंने गणित को मेरे लिए थोड़ा रोचक बनाया, वे स्वयं गणित के कमज़ोर छात्र रहे थे। जो गणित में तेज़ रहे थे, वे तो किसी काम के नहीं थे। जो प्रमेय और प्रमाण वे बोर्ड पर लिखते वे स्वयं उनको तो क ख ग घ की तरह साफ थे। उन्हें ऐसा कोई तरीका पता नहीं था जिससे वे उन लोगों की मदद कर सकें जिन्हें ये चीज़ें इतनी स्पष्ट न हों।

मुझे बगैर किसी कठिनाई के गणित में “बी” मिल जाते थे। कॉलेज में मेरा प्रथम मुख्य विषय भौतिक शास्त्र था। एडवांस्ड सोफोमोर केलकुलस में मुझे “बी” मिल गया। परन्तु मुझे समझ में आने लगा था कि मुझे गणित के बारे में कुछ पता नहीं है, इन नियमों और प्रमेयों और पहेलियों के तुक का कुछ अता-पता नहीं है: ये कहाँ से आई हैं, कहाँ जाएंगी, और मैं इनके साथ क्या कर सकता हूँ। वैसे तो मुझे यह भी पता नहीं था कि भौतिक शास्त्री क्या करते हैं। मगर मैं इतना जानता था कि वे गणित का उपयोग करते हैं, और जो व्यक्ति गणित नहीं समझता वह भौतिक शास्त्र में अच्छा काम शायद ही कर पाए। लिहाज़ा मैंने गणित और भौतिक शास्त्र को तिलांजलि दी और अन्य दिशाओं में चल दिया।

कई बरसों बाद गणित पढ़ाते हुए (क्योंकि मैं इतना गणित जानता था कि पढ़ा सकूँ) और अपने छात्रों की समस्याओं के बारे में सोचते हुए, मैंने एक बार फिर यह विचार करना शुरू किया कि यह गणित है क्या चीज़। एक दिन अपने एक छात्र के पालकों के घर पर मैंने पत्रिकाओं के ढेर में से *साइंटिफिक अमेरिकन* का एक पुराना अंक ढूँढ निकाला। इसमें लिओनहार्ड यूलर के बारे में एक लेख था। इस लेख में गणित करने की एक शाखा – स्थल शास्त्र (topology) की शुरुआत के बारे में बताया गया था। मैंने कहीं (स्कूल में नहीं) स्थल शास्त्र के बारे में सुना था – कि इसका कुछ

लेना-देना गाँठों और चीज़ों को पलटने से था, कि क्यों कुछ आकृतियों को पलटा जा सकता है और कुछ को नहीं। मैंने तो यूलर का नाम भी सुना था। तो मैं उस लेख को पढ़ने बैठ गया। जल्दी ही मैं कोनिसबर्ग के पुलों की समस्या को सुलझाते यूलर के साथ था। यह अत्यन्त रोमांचक मानसिक यात्रा थी।

किस्सा इस तरह से था। यूलर ने जब इस समस्या पर काम करना शुरू किया तब वे सेंट पीटर्सबर्ग में ज़ार के दरबार में गणितज्ञ थे। एक दिन उन्होंने सुना कि समूचे कोनिसबर्ग कस्बे में पुलों की नई पहेली की धूम मची हुई है। कोनिसबर्ग एक नदी के दोनों तटों पर तथा तटों के बीच स्थित दो टापुओं पर बसा हुआ है। एक टापू बड़ा है और दूसरा छोटा। छोटा टापू दोनों तटों से दो-दो पुलों से जुड़ा हुआ है जबकि बड़ा टापू एक-एक पुल से। दोनों टापुओं के बीच एक पुल है। एक दिन किसी ने सवाल किया कि क्या कोई ऐसा तरीका है कि कोई व्यक्ति पूरे कस्बे का चक्कर लगाए, प्रत्येक पुल पर से एक बार गुज़रे, मगर किसी भी पुल पर से एक से अधिक बार न गुज़रे। जल्दी ही कई लोग इधर से उधर चहलकदमी करते हुए वह जादुई रास्ता खोजने का प्रयास कर रहे थे, मगर सफलता हाथ नहीं आ रही थी। मगर यूलर एक गणित करने वाले व्यक्ति थे और इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्हें कोनिसबर्ग जाना ज़रूरी नहीं लगा। वे इसके बारे में सोचने लगे। जल्दी ही उन्होंने एक तरीका खोज निकाला, जिससे न सिर्फ यह साबित किया जा सकता था कि कोनिसबर्ग की विशिष्ट समस्या को हल नहीं किया जा सकता, बल्कि यह भी बताया जा सकता था कि इस तरह की कोई समस्या सुलझाई जा सकती है या नहीं, और सम्भावित हल क्या होंगे। यह प्रमेय उस तरह की सारी पहेलियों पर लागू होती है जैसी मैंने बचपन में बूझी थीं – जैसे, कागज़ से पेन को उठाए बगैर और किसी लाइन पर दोबारा पेन चलाए बगैर निम्नलिखित आकृति बनाना:



उस लेख को पढ़ने के बाद मैंने जो रोमांच, विस्मय, उल्लास और आनन्द महसूस किया उसे बयान करने को शब्द नहीं हैं। ये एहसास लगभग वैसे ही थे जैसे किसी सुन्दर संगीत कंसर्ट को सुनने के बाद होते हैं या किसी ऐसी किताब को पढ़कर मिलते हैं जो रोशनी दे और मेरे अनुभवों के कई

अंशों को सम्पूर्णता प्रदान कर दे। ऐसे अनुभव परमानन्द देने वाले होते हैं, लगभग कामोत्तेजक (erotic)। यूलर के साथ उस खोजी यात्रा के अन्त में ऐसा लगा जैसे मेरे अन्दर, समूचे मुझमें कई आवाज़ें चीख रही हैं, “तो गणितज्ञ यह करते हैं! यह बात पहले किसी ने क्यों नहीं बताई? कोई अचरज नहीं कि वे इसे करते हैं – यह है ही इतना सुन्दर! मैं इसे करना चाहता हूँ, करूँगा!” उस क्षण गणित वह चीज़ बन गई थी जिसे मैं जानता था कि मैं करना चाहता हूँ, और करूँगा। शायद बहुत अच्छे से नहीं, यूलर की तरह तो यकीनन नहीं। किन्तु जितना मैं सोचता था कि कर सकता हूँ, उससे बेहतर। इस हौसले के साथ, कुछ दिनों बाद, मैंने खुद को रूढ़ संख्याओं की उस समस्या में झोंक दिया था जिससे मैं आज तक जूझ रहा हूँ। यूलर ने कैसे साबित किया था कि कोनिसबर्ग के पुलों को पार नहीं किया जा सकता? जो लोग खुद इसे खोज निकालना चाहते हैं उन्हें इस सुख से वंचित नहीं करना चाहिए। इसे सिद्ध करने के लिए सरलतम बीजगणित से ज़्यादा किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। दरअसल, इसे बीजगणित के बगैर भी साबित किया जा सकता है। उस लेख को पढ़ने के बरसों बाद, जब मैं बारीकियों को भूल चुका था, एक बार फिर मैं यूलर के प्रमेय और प्रमाण निर्मित कर पाया था। उसके कई वर्षों बाद जब मैंने फिर से कोशिश की तो इसे सिद्ध करने का एक और तरीका हाथ लग गया। शायद पाठक और भी कई तरीके खोज सकते हैं।

गणितज्ञ के काम के बारे में जो सबसे अहम बात यूलर ने मुझे सिखाई वह यह थी कि गणितज्ञ सरलीकरण करना चाहता है। वह सवाल को सारे अप्रासंगिक पहलुओं से मुक्त कर देना चाहता है, उन सारे अन्तरों को हटा देना चाहता है जिनसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यूलर को पता था कि यदि यह जानना है कि उन पुलों को पार किया जा सकता है या नहीं तो वास्तव में उन पर चलना ज़रूरी नहीं है। इस सवाल के लिहाज़ से उन पुलों की वास्तुकला, टापुओं का आकार या आकृति महत्वहीन थे। जीवन की पेचीदा स्थितियों को निहायत आसान, साज-सज्जा रहित, अमूर्त मॉडलों में तब्दील करने की क्षमता की बदौलत ही गणितज्ञ कुछ समस्याओं को हल करने में इतने निपुण होते हैं – और कुछ अन्य समस्याओं को हल करने में इतने घटिया।

मेरे (और तमाम अन्य लोगों के) साथ अपने अनुभव के कुछ अंश बाँटते हुए यूलर t-eacher की भूमिका अदा कर रहे थे। जिस व्यक्ति ने यह लेख लिखा और जिसने इसे *साइंटिफिक अमेरिकन* में प्रकाशित करने का

निर्णय किया, वे दोनों t-teachers की भूमिका निभा रहे थे, अनुकरणीय आदर्श के रूप में नहीं, मुझे यूत्तर तक पहुँचाने वाले मार्गदर्शक के रूप में। कुछ साल बाद अपने साथी बिल हल के कहने पर मैंने वर्थाइमर द्वारा लिखी गई गणित की एक किताब *प्रोडक्टिव थिंकिंग* पढ़ी। उसने मेरा परिचय एक और विचार से कराया कि किसी समस्या का हल सही होते हुए भी सुन्दर या भद्दा हो सकता है। सुन्दर हल या प्रमाण वह है जो आसान हो, सीधा हो और समस्या की प्रकृति व तत्व तक जाता हो। भद्दा हल हालाँकि एकदम सही व उपयोगी होता है मगर कहीं इस तत्व को चूक जाता है। वर्थाइमर ने सुन्दर व भद्दे हल के कई अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किए थे। मुझे एक भी याद नहीं रहा। मुझे सिर्फ उनका फर्क, वह कसौटी, याद है जिसके आधार पर किसी सवाल के अपने हल का मूल्यांकन किया जा सकता है।

इस कसौटी का इस्तेमाल मैंने कई दिनों बाद उस दिन किया जब मुझे लगा था कि मैंने रूढ़ संख्या की उस प्रमेय का हल खोज निकाला है। इस बात की खुशी तो थी कि मैंने उस सवाल का “अपना” हल खोज लिया है, मगर साथ ही यह विचार मुझे कचोटता रहा कि वर्थाइमर की कसौटी पर मेरा हल निहायत भद्दा है। मेरा हल दरअसल बीजगणित की एक कलाबाज़ी थी, ऐसी कई कलाबाज़ियाँ करना मैं स्कूली दिनों में जानता था। लगता तो था कि मैंने सिद्ध कर दिया है कि वह प्रमेय सही है, मगर फिर मैं यह समझने से कोसों दूर था कि वह क्यों सही है। तो मैं उस प्रमेय और अपने हल के बारे में सोचता रहा। यह देखने की कोशिश करता रहा कि कहीं मेरे प्रमाण में कोई सुन्दर और ज़्यादा बुनियादी प्रमाण तो नहीं छिपा है। कुछ समय बाद मैंने खुद से सवाल किया: कहीं मेरा प्रमाण गलत तो नहीं है? कुल मिलाकर मैंने अपने प्रमाण में यह पूछा था कि यदि मैं यह मान लूँ कि वह प्रमेय सही है तो क्या मैं यह दर्शा सकता हूँ कि उससे कुछ बातें उभरती हैं जिन्हें मैं सत्य साबित कर सकता हूँ? मैं ऐसा कर सकता था और मैंने ऐसा किया भी। किन्तु मेरी शंका बढ़ती गई – और अन्ततः व दुख के साथ मुझे पता चला कि मेरी विधि से किसी ऐसी प्रमेय को भी उतनी ही नफासत से सही साबित किया जा सकता है जो वास्तव में गलत हो। प्रमाण में दम नहीं था, सवाल अब भी अनसुलझा है। यह पता करने में मुझे कई घण्टे और लगे कि मैंने गलती कहाँ की थी। दो दिनों तक मैंने अपना फुर्सत का सारा समय मूल सवाल का एक नया व सचमुच का हल खोजने में व्यतीत किया। किस्मत ने साथ नहीं दिया। मैं फिर किसी दिन

कोशिश करूंगा। बहरहाल, मैं यूलर का ऋणी हूँ कि उन्होंने मुझे गणित करने का मेरा मॉडल दिया और यह विश्वास दिया कि गणित करने योग्य चीज़ है। मैं वर्थाइमर का ऋणी हूँ कि उन्होंने मुझे मूल्यांकन की एक कसौटी दी जिसके आधार पर एक मामले में मुझे यह समझने में मदद मिली कि गणित के लिहाज़ से मैं गलत था। अपने वर्षों के काम और लेखन के ज़रिए उन्होंने जो कुछ मेरे लिए किया वह कोई भी सच्चा शिक्षक अपने छात्रों के लिए कर सकता है।

लेखकों के लिए एक उपयोगी कसौटी

टीचर्स एण्ड राइटर्स न्यूज़लेटर (490, हडसन स्ट्रीट, मैनहैटन, न्यू यॉर्क 10014) के 1975 के शीतकालीन अंक में बिल बर्नहार्ट का एक लेख है, “ए शॉर्ट कोर्स इन जस्ट राइटिंग”। यह लेख ऐसे कई लोगों, कुछ अच्छे और कुछ बहुत बुरे छात्रों, के लिए सचमुच उपयोगी सलाह व सुझाव प्रस्तुत करता है जिन्हें अपने विचारों को कागज़ पर उतारना एक कष्ट लगता है। लोग उससे पूछा करते थे कि वे “जस्ट राइटिंग” का कोर्स कहाँ कर सकते हैं। उसे कई वर्षों बाद समझ में आया कि इन लोगों को किस चीज़ की ज़रूरत थी, वे क्या चाहते थे। उसे यह भी समझ में आया कि लेखन का कोई भी कोर्स या पाठ्य पुस्तक उन्हें यह नहीं दे सकती थी। स्वयं अपने लेखन पर विचार करते हुए और डॉ. केलेब गेटेनो के साथ कुछ सेमीनारों में भागीदारी के आधार पर उसने अभ्यासों का एक छोटा-सा पाठ्यक्रम तैयार किया। इसका मकसद लोगों को, चाहे वे कितने ही अकुशल हों, आसानी से व प्रभावी ढंग से लिखने में मदद देना था। उसका लघु पाठ्यक्रम पाँच छोटे-छोटे पृष्ठों का है। वह अपने छात्रों से पहले पृष्ठ 1 पढ़कर अभ्यास हल करने को कहता है। इसके बाद वे किसी भी क्रम में आगे बढ़ सकते हैं। उसका कहना है:

पृष्ठ 1

- बोलते समय पहले क्या आता है, यह ज्ञान कि आपके पास कुछ है जिसे आप कहना चाहते हैं, या शब्द? जानने के लिए अपना परीक्षण कीजिए।
- कोई छोटा वक्तव्य सस्वर बोलिए।
- वही शब्द लिखिए जो आपने बोले थे।
क्या आपको यकीन है कि आपने वही शब्द लिखे हैं जो बोले थे?

आप कैसे कह सकते हैं? क्या आप एक कहीं अधिक लम्बा वाक्य बोलकर उसके शब्दों को सही-सही लिख सकते हैं? (हिज्जों की गलती की चिन्ता न करें।)

- कहने के लिए कोई और बात सोचिए, मगर कहने की बजाय इसे बिना बोले लिख डालिए।
- क्या आप कहने के लिए कुछ सोचकर उन शब्दों को, बगैर उन्हें खुद से कहने का समय लिए, वैसे ही लिख सकते हैं जैसे वे आपके दिमाग में आते हैं?

इस आखिरी सवाल के सन्दर्भ में मैं कभी तो ऐसा कर सकता हूँ, कभी नहीं। कई बार मुझे कोई बात खुद से कई-कई मर्तबा कहना होती है, उसके बाद ही मुझे उसे कहने का कोई ऐसा ढंग मिल पाता है जो मुझे इतना पसन्द आए कि मैं उसे लिखना चाहूँ। कभी-कभी विचार और उसे कहने के लिए शब्द साथ-साथ प्रकट होते हैं। कभी-कभी वे मुझे इतने भाते हैं कि मैं उन्हें तत्काल कागज़ पर उतारने को विवश हो जाता हूँ। बर्नहार्ट आगे कहते हैं:

पृष्ठ 2

- एक पेंसिल और एक कोरा कागज़ लेकर कागज़ से पेंसिल उठाए बगैर लगातार तीन मिनट तक लिखिए।... इस बात की परवाह न करें कि आप जो कुछ लिख रहे हैं उसका कोई मतलब निकल रहा है या नहीं और हिज्जों की गलतियाँ हैं या नहीं। यदि आप कहने को कुछ नहीं सोच पाते तो वे सारे शब्द ही लिख डालिए जो आपके ज़ेहन में आ रहे हों। पूरा कर लेने के बाद बगैर पढ़े पन्ना पलट दीजिए।
- उन्हीं निर्देशों का पालन करते हुए कागज़ के पिछली तरफ़ तीन मिनट तक लिखिए।
- और तीन मिनट के लिए एक नए कागज़ पर लिखिए। गिनकर देखिए कि हर बार आपने कितने शब्द लिखे हैं। क्या दूसरी और/या तीसरी बार आपने ज़्यादा लिखा? इतने समय में आम तौर पर जितना आप लिखते हैं, क्या आपने उससे ज़्यादा लिखा? आपने जो कुछ लिखा है उसे ज़ोर से पढ़िए और खुद को सुनिए। क्या इसका कुछ मतलब निकलता है? क्या यह उस अँग्रेज़ी के समान है जो आप बोलते हैं? [इस वाक्य पर ज़ोर मैंने दिया है – होल्ट]

आखिरी वाक्य पूरी प्रक्रिया की कुंजी है। बगैर रुके लिखने का विचार नया नहीं है। बच्चे असफल कैसे होते हैं में मैंने बताया था कि कैसे मैंने इसका उपयोग पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ लेखन दौड़ के रूप में किया था। इसका विचार मुझे आइ. एस. हायाकावा के एक लेख से मिला था। हायाकावा ने इसका उपयोग शिकागो के रुज़वेल्ट कॉलेज में अपने छात्रों के साथ किया था। मगर यह दूर की कौड़ी है कि छात्र से यह देखने को कहा जाए कि क्या उसका लिखा उस अँग्रेज़ी जैसा है जो वह बोलता है। “अच्छी अँग्रेज़ी” या “सही अँग्रेज़ी” नहीं। वह अँग्रेज़ी भी नहीं जो उसका शिक्षक बोलता है या छात्र सोचता है कि खुद उसे बोलनी चाहिए। वह अँग्रेज़ी जो वह वास्तव में बोलता है। यहाँ बर्नहार्ट ने एक बुनियादी व सशक्त सत्य को पकड़ा है। सबसे घटिया अँग्रेज़ी बोलने वाले भी “जानते हैं” कि बेहतर अँग्रेज़ी कैसे बोलें। मात्र ज़्यादा सही नहीं, बल्कि जैसी वे आम तौर पर बोलते हैं उससे ज़्यादा स्पष्ट और ज़्यादा सीधी अँग्रेज़ी। और उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से पता चलता है कि सबसे निरक्षर लेखक भी अपने लेखन की बनिस्बत बेहतर बोल सकते हैं। अर्थात् हम सबसे बदतर लेखन में भी काफी सुधार कर सकते हैं यदि हम लेखकों से खुद उनके लेखन के बारे में स्वयं से सिर्फ इतना पूछने को कहें, “क्या मैं इस बात को इसी ढंग से कहूँगा? यदि समय हो, तो क्या मैं इसे इसी तरह कहना चाहूँगा?”

एक बार फिर बर्नहार्ट:

पृष्ठ 3

– निम्नलिखित वाक्य के अन्त में एक शब्द जोड़कर उसे पूरा कीजिए [कुछ शब्दों पर ज़ोर मैंने दिया है – होल्ट]

गली के मोड़ पर मुड़ते ही उन्होंने देखा

पूरे किए गए वाक्य को एक कोरे कागज़ के शुरू में उतारकर अगला वाक्य लिखिए जो निम्नलिखित शब्द से शुरू हो :

हो सकता है

कहानी में एक तीसरा वाक्य जोड़िए।

कहानी में पाँच और वाक्य जोड़िए।

कहानी का समापन कीजिए।

आपको कितनी कहानी दी गई थी और कितनी कहानी

खुद आपको लिखनी पड़ी?...क्या आप अपने मन में देख पा रहे थे कि कहानी में क्या चल रहा है? यदि हाँ, तो यह चित्रों के रूप में था या चलचित्र के रूप में? कहानी को फिर से पढ़ते हुए क्या आप फिर से वह सब कुछ देख सकते हैं?

- आँखें बन्द करके मन में किसी ऐसी मुश्किल या लज्जाजनक स्थिति को चित्रित कीजिए जिसमें आप खुद को देखना नहीं चाहेंगे।

लिखकर उस स्थिति का वर्णन कीजिए।

यह लिखिए कि उस स्थिति से बाहर निकलने के लिए आप क्या कहेंगे।

एक बार फिर, भयातुर लेखक को *खुद उसकी* वास्तविक कल्पना शक्ति व अभिव्यक्ति की क्षमता के सम्पर्क में लाने और इन्हें उसके लिए उपलब्ध कराने के एक तरीके के रूप में ये निर्देश एक विलक्षण प्रतिभा की रचना हैं। मैं इनकी खूबियों में खो गया हूँ। भावी लेखक को सबसे पहले मात्र इतना करने को कहा गया है कि वह एक वाक्य में *एक शब्द* जोड़ दे। यह कोई भी कर सकता है। मगर इतना करते ही वह फँस जाता है। उसकी सृजन शक्ति काम करना शुरू कर देती है। अपने मन की आँखों में उसे उस कोने को देखना होगा और उन पात्रों को देखना होगा जो अभी-अभी वहाँ से मुड़े हैं। इस शुरुआत के बाद वह 'हो सकता है' के बाद के खाली स्थान की पूर्ति आसानी से कर सकेगा। तब तक कहानी चल निकली है। उसका अपना एक जीवन है, और उसने लेखक को अपने वश में कर लिया है। यही तो कहानियाँ करती हैं, और लेखक होना ऐसा ही तो लगता है। अगला निर्देश भी उतना ही चतुर है। ज़्यादातर लोग जागते हुए दुस्वप्न देखते हैं, डरावने दृश्यों को वे बार-बार अपने दिमाग में दोहराते हैं। वे इन दृश्यों को बहुत अच्छे से जानते हैं और आसानी से इनके बारे में लिख सकते हैं। (हम यह भी सुझा सकते हैं कि लेखक किसी खुशनुमा स्थिति की कल्पना करें जिसमें वे होना चाहेंगे।)

पृष्ठ 4 में लेखक की कल्पना व बयान की क्षमता की छानबीन व विकास की प्रक्रिया जारी रहती है। पृष्ठ 5 पर बर्नहाडर्ट लेखकों को ज़्यादा सूझबूझ से भरे और उपयोगी और कारगर तरीके बताते हैं जिनकी मदद से वे अपने लेखन का मूल्यांकन व विकास कर सकते हैं:

पृष्ठ 5

- 10 मिनट तक लगातार, सुधार करने के लिए रुके बगैर, लिखिए। लिख लेने के बाद कागज़ को, बिना पढ़े, कम से कम 20 मिनट के लिए एक तरफ रख दें।
- अपने लिखे हुए को ज़ोर से पढ़िए, पढ़ते हुए दो बातों पर ध्यान दीजिए:

1) ठीक वही पढ़ें जो कागज़ पर लिखा है।

2) अपने आपको पढ़ते हुए ध्यान से सुनें और उन बिन्दुओं को पकड़ें जिन्हें सुनने पर कोई मतलब नहीं निकलता या जो “अजीब” लगते हैं।

यदि आपको कोई ऐसी चीज़ मिलती है जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता, तो शब्दों को बदलिए ताकि अर्थ निकले।

यदि आपको कोई ऐसी चीज़ मिलती है जो अजीब सुनाई पड़ती है तो उसे बदलिए ताकि वह ठीक सुनाई पड़े।

जब यह पूरा कर चुकें तो सुधरी हुई प्रति को एक बार फिर से पढ़कर देखिए कि क्या कुछ और सुधार करने की ज़रूरत है।

- क्या ज़्यादा आसान है: जो कुछ कहना चाहते हैं उसे लिखते समय तत्काल गलतियाँ सुधारते चलना या थोड़ी देर बाद?
- क्या लिखने और सुधार करने में एक-सी मानसिक स्थिति की ज़रूरत होती है? या अलग-अलग मानसिक स्थितियों की?

उन सारी चीज़ों के बनिस्बत जो मैंने अँग्रेज़ी शिक्षक के रूप में की हैं, या शायद सारे अँग्रेज़ी शिक्षकों के सारे काम की बनिस्बत, इन छोटे-छोटे पृष्ठों में वर्णित विचार और अभ्यास अधिकांश लोगों को बेहतर लिखने में और लेखन का आनन्द लेने में कहीं ज़्यादा मदद करेंगे। छात्र को उसकी अपनी शक्ति का दर्शन करवाने और उसका इस्तेमाल व विकास करने के तरीके दिखाने और, सबसे ज़्यादा तो, उसे किसी बाहरी सुधार या मूल्यांकन की ज़रूरत से मुक्त करने के एक तरीके के रूप में यह शिक्षण कला का बेहतरीन उदाहरण है।

अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड ने कभी कहा था कि लोगों को सही जवाब देना सिखाना बहुत आसान है। जो चीज़ सिखाना मुश्किल है वह है सही सवाल पूछना, सवाल जो रोचक हों, महत्वपूर्ण हों, उपयोगी हों, और दूरगामी हों। सौभाग्य की बात है कि हमें लोगों को अच्छे सवाल पूछना सिखाना नहीं

पड़ता। इन्सान यह काम कुदरती रूप से करते हैं और लगभग जन्म से ही करने लगते हैं। हमें सिर्फ इतना करना है कि उनके सवालों के जवाब दें या उन्हें छूट व मदद दें कि वे खुद इनके जवाब खोजें। इस तरह वे और पूछेंगे। उनके सवाल बेहतर होते जाएँगे और उनके जवाब ज़्यादा दूर तक जाएँगे। मगर व्हाइटहेड की टिप्पणी एक महत्वपूर्ण बात को उभारती है, कि गणित या भौतिक शास्त्र या किसी भी बौद्धिक गतिविधि को करने की शुरुआत तब होती है जब कोई सवाल पूछता है। यानी कोई ऐसा व्यक्ति जो अचरज कर रहा है, उलझन में है, भ्रमित है। स्कूल की किताबें, पाठ्य पुस्तकें हमें यह बात देखने नहीं देतीं। वे हमें सही जवाब तो बताती हैं, मगर यह नहीं बतातीं कि किन सवालों ने लोगों को ये जवाब खोजने को प्रेरित किया था। इसलिए हमें इस बात का बहुत ही कम पता चलता है कि महत्वपूर्ण विचारकों ने किस तरह के अच्छे सवाल पूछे हैं।

किसी ने लिखा था कि सापेक्षता सम्बन्धी आइन्स्टाइन के काम की शुरुआत दो सवालों से हुई थी, जो उन्होंने बहुत कम उम्र में खुद से पूछे थे। एक सवाल था, जब हम कहते हैं कि दो घटनाएँ एक साथ होती हैं तो इसका अर्थ क्या होता है? दूसरा सवाल था, एक प्रकाश पुंज के अग्र भाग पर सवार होकर अन्तरिक्ष में यात्रा करना कैसा लगेगा, हमें क्या दिखेगा? मेरा ख्याल है कि विज्ञान शिक्षकों ने इन दो सवालों के बारे में नहीं सुना होगा। यदि वे इन्हें सुनते तो उनमें से कई कहेंगे कि ये सवाल गम्भीर नहीं हैं, “वैज्ञानिक” नहीं हैं। वे कहेंगे कि पहला सवाल बहुत सरल है, और दूसरा इतना काल्पनिक है कि कुछ सोचने के काबिल ही नहीं है। स्कूल में इस तरह के सवाल पूछने वाले बच्चों को प्रोत्साहन कम और आलोचना ज़्यादा मिलेगी। शायद स्वयं आइन्स्टाइन इसी तरह का बच्चा था; उसके शिक्षकों का ख्याल था कि वह मन्दबुद्धि है।

स्कूल की किताबें हमें इस बारे में और भी कम बताती हैं कि अतीत के विचारक अपने सवालों के जवाब खोजने का काम कैसे करते थे। और इस बारे में तो वे और भी कम बताती हैं कि इस काम में उन्होंने किस तरह की गलतियाँ की थीं। मनोविज्ञान के एक स्नातक छात्र ने एक दिन एक जाने-माने प्रोफेसर को सुझाव दिया कि एक ऐसा प्रकाशन होना चाहिए जिसमें मनोवैज्ञानिक लोग अपनी गलतियों के बारे में लिख सकें, उन अटकलों के बारे में लिख सकें जिन पर उन्होंने आगे काम नहीं किया, या उन प्रयोगों के बारे में लिख सकें जिन्होंने वह सिद्ध नहीं किया जिसके लिए वे प्रयोग किए गए थे या जिन्होंने कुछ भी सिद्ध नहीं किया। प्रोफेसर

सहमत थे कि इस तरह के प्रकाशन से छात्रों को मनोविज्ञान के कामकाज के बारे में बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। किन्तु, उन्होंने कहा, ऐसे प्रकाशन के बारे में सोचने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि थोड़ी-सी भी प्रतिष्ठा वाला व्यक्ति इसमें कभी कुछ नहीं लिखेगा। इस तरह हमें अपनी गलतियाँ बड़ी मुश्किल से पता चलती हैं क्योंकि हमें यह बताया ही नहीं जाता कि अतीत के करने वालों ने किस तरह की गलतियाँ की थीं और कैसे बाद में उन्हें अपनी गलतियों का पता चला था।

कई तरह के बौद्धिक काम करने वाले अपनी परस्पर बहसों, दलीलों के ज़रिए हमें काफी कुछ सिखा सकते हैं। इतिहासकार इसके अच्छे उदाहरण हैं। 1974 में कई इतिहासकारों ने गुलामी सम्बन्धी एक सद्यः प्रकाशित पुस्तक *टाइम ऑन दी क्रॉस* को लेकर काफी गर्मागर्म बहस की थी। यह बहस कई बार पत्र-पत्रिकाओं में भी चली थी। हालाँकि इस पुस्तक के लेखक फोगेल और ऍंगरमैन गुलामी का समर्थन कदापि नहीं करते, मगर वे अमरीका के अधिकांश इतिहासकारों के इस मत पर हमला बोलते हैं कि इस देश में दास प्रथा आमतौर पर शारीरिक रूप से बर्बर और अकार्यक्षम थी। कई कारणों से इतिहासकार इन मुद्दों को महत्वपूर्ण मानते हैं। कुछ कारणों का सम्बन्ध आज की राजनीति और सामाजिक टकरावों से है। कुछ कारणों का सम्बन्ध उन सवालों से है जिन पर इतिहासकार कुछ समय से बहस करते रहे हैं: क्या दास प्रथा को खत्म करने के लिए गृह युद्ध ज़रूरी था, या क्या अपनी ही अकार्यक्षमता के चलते समय के साथ वह स्वयं ही खत्म हो जाती? बहरहाल, *टाइम ऑन दी क्रॉस* के लेखकों का कहना है कि हमारे इतिहासकारों ने दास प्रथा के बारे में अपनी सामान्य धारणाएँ गलत स्रोतों से, व्यक्तिगत बयानों से, दासों से, दास-स्वामियों से, व अन्य गवाहों से प्राप्त की हैं। उनकी शिकायत है कि ये विवरण सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते, इनकी संख्या बहुत कम है और ये आम तौर पर दास प्रथा के खिलाफ पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। इसकी बजाय इन लेखकों ने एक अलग किस्म के प्रमाणों का सहारा लिया है; उनका कहना है कि ये प्रमाण ज़्यादा सम्पूर्ण, निष्पक्ष, और विश्वसनीय हैं: व्यापारिक रिकॉर्ड, कृषि उपज के ब्यौरे, बाज़ार में दासों की खरीद-फरोख्त के ब्यौरे, वगैरह। इन सारे प्रमाणों के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि दास प्रथा काफी हद तक काफी कार्यक्षम थी, शारीरिक रूप से इतनी बर्बर नहीं थी, और गुलामों के भरोसे चलने वाले खेत उत्तर के दास-विहीन खेतों से ज़्यादा कार्यक्षम थे। दूसरी ओर, कई इतिहासकारों ने न सिर्फ़ उनके

निष्कर्षों को बल्कि उनकी विधियों, उनके प्रमाणों तथा प्रमाणों का इस्तेमाल करने के उनके तौर-तरीकों को भी चुनौती दी है। यानी एक साथ दो बहसों चल रही हैं। एक तो इस बारे में है कि हुआ क्या था। दूसरी यह है कि जो कुछ हुआ था, उसे जानने का सर्वोत्तम तरीका क्या हो। इनके साथ ही एक तीसरी बहस यह भी है कि इस सबसे क्या फर्क पड़ता है। कई लोगों को लगता है कि इससे बहुत फर्क पड़ता है। नस्लवाद के इलज़ाम हवा में तैर रहे हैं। फोगेल और एंगरमैन का कहना है कि इतिहास की यह रूढ़िगत समझ नस्लवादी है कि दास प्रथा के तहत अमरीका में काले लोग कभी स्थायी परिवार या समुदाय निर्मित नहीं कर पाए। दूसरी ओर, उनके विरोधी बिल्कुल उलटी बात कहते हैं। इनमें से कुछ मानते हैं कि काले लोगों की सारी मौजूदा तकलीफें या कमज़ोरियाँ या खामियाँ दास प्रथा द्वारा किए गए नुकसान के नतीजे हैं।

यह बहुत अच्छा होगा यदि ज़्यादा से ज़्यादा लोग, बच्चे और बड़े, इन सारे इतिहासकारों के झगड़ों को सुन सकें। इतिहास को *करना* तब उन्हें कितना रोचक, जीवन्त और महत्वपूर्ण लगेगा। एक छात्र के रूप में मुझे कभी किसी ने नहीं बताया था कि विशेषज्ञ भी, और वह भी इतिहासकार, कभी एक-दूसरे से असहमत होते हैं और बहस करते हैं। उनके पास बहस करने के लिए था ही क्या? इतिहास में तो तथ्य होते हैं – नाम, स्थान, तारीखें, लड़ाइयाँ, राजा। ज़ाहिर है, इतिहासकार का काम है कि इन तथ्यों को इकट्ठा करे और उन्हें इतिहास की किताब में लिख दे ताकि छात्र उन्हें याद कर सकें। बाद में, यदि वह यह सोचकर या तनिक बहस करके थोड़ा मज़ा लेना चाहे कि इन तथ्यों का क्या मतलब है या इससे क्या फर्क पड़ सकता है, तो उसे छूट है। मगर सबसे पहले तथ्य हैं, उनके बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता।

एक छात्र के रूप में और कई बरसों तक एक वयस्क के रूप में भी मुझे यही लगता था। और इसीलिए, इतिहास के महत्व के बारे में कुछ भी कहा जाता, मगर मेरी नज़र में वह कमोबेश एक नीरस और निरर्थक विषय रहा। कभी-कभी कुछ बच्चों को यह सोचना बहुत रोमांचक लगता था कि वे यूनानी हैं या रोमन हैं या मध्ययुगीन सूरमा हैं। (इतिहास का सम्बन्ध लगभग पूरी तरह इस बात से था कि मर्दों ने क्या-क्या किया, और वे ज़्यादातर समय युद्ध ही करते थे।) कुछ बच्चों को बड़े होकर भी किसी दूसरे स्थान या काल में जीने की कल्पना करना या यह सोचना अच्छा लगता है कि कोई बात जैसे हुई, वैसे ही क्यों हुई। किन्तु अधिकांश बच्चों

व बड़ों दोनों के लिए इतिहास जल्दी ही एक बोरियत बन जाता है और बना रहता है। मगर ऐसा होना नहीं चाहिए। यदि ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को *टाइम ऑन दी क्रॉस* जैसी बहसों के बारे में पता हो, तो शायद उनका सोच कुछ अलग होगा। ऐसी बहसों इतिहास को ज़्यादा दिलचस्प बना देती हैं क्योंकि इनसे हमें पता चलता है कि इतिहास मात्र मुर्दा लोगों के बारे में तथ्यों या किताबों का संग्रह नहीं, बल्कि कोई ऐसी चीज़ है जिसे ज़िन्दा लोग करते हैं, आज इसी वक्त। हमें ये झगड़े सिर्फ इसलिए अच्छे नहीं लगते कि हमें झगड़े देखने में मज़ा आता है, बल्कि इसलिए भी कि इनसे हमें पता चलता है कि कुछ लोगों को ये बातें झगड़ने के काबिल लगती हैं। मेरी यह समझ कि इतिहास एक ऐसी चीज़ है जिसे लोग करते हैं और कि वे इसे किस तरह से करते हैं, स्कूल में नहीं बनी थी और न ही स्कूल के बाहर इतिहास की किताबें पढ़-पढ़कर बनी थी; यह समझ *न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स* में इतिहास की किताबों की (आम तौर पर झगड़ालू) समीक्षाएँ पढ़-पढ़कर बनी थी। वैसे उक्त पत्रिका में किसी और ही कारण से खरीदा करता था। धीरे-धीरे कई बरसों में मुझे समझ में आया कि कुछ लोग हैं जो हमेशा इतिहास के बारे में बहस करते रहते हैं। ये लोग किस बारे में बहस कर रहे थे? कुछ हद तक तो इस बारे में कि क्या हुआ था; मगर ज़्यादा इस बारे में कि पता कैसे किया जाए कि क्या हुआ था। दूसरे शब्दों में, वे अपने रोज़मर्रा के काम के बारे में बहस कर रहे थे।

तो, *टाइम ऑन दी क्रॉस* के लेखक हमें बताते हैं कि हम लोगों की किताबों, लेखों, पत्रों, डायरियों पर भरोसा नहीं कर सकते। ऐसे दस्तावेज़ पूर्वाग्रहों, भ्रान्तियों, जज़्बातों, क्रोध से भरे हो सकते हैं। उनका दावा है कि लोग जज़्बातों में बहे बगैर ठोस तथ्यों का सहारा तभी लेते हैं जब वे अपने बही-खाते लिखते हैं, पैसे के बारे में सोचते हैं। इसलिए क्या हुआ है यह जानने के लिए हमें वहीं देखना होगा। जो लोग उनके मतों का विरोध करते हैं (जैसे कि मैं) वे कहते हैं कि यह सब बकवास है, बही-खातों से लोगों के बारे में क्या जाना जा सकता है? यदि यह सही भी हो (वैसे है नहीं) कि वे अपने बही-खातों में झूठी बातें नहीं लिखते, तो भी वे इनमें यह कहाँ लिखते हैं कि उनके साथ क्या हो रहा है या वे इसके बारे में क्या महसूस करते हैं। यदि लोगों के बारे में जानने के लिए इन्हीं का सहारा लें तो हम कुछ नहीं जान पाएँगे। इस तरह बहस चलती रहती है। क्या हम ऐसे प्रमाण खोजें जो सुरक्षित मगर निरर्थक हैं? या ऐसे प्रमाण खोजें जो कदापि निरर्थक नहीं हैं मगर सुरक्षित भी नहीं हैं? किससे पूछें? किस पर

भरोसा करें?

इन सवालियों के आगे भी कुछ सवाल हैं। जो लोग अपने जीवन और काम से खुश होते हैं, वे आम तौर पर उनके बारे में ज़्यादा नहीं लिखते। लिखते वे लोग हैं जो नाखुश होते हैं। जो लोग अपने समाज व ज़माने की आलोचना करते हैं, क्या वे ऐसे कई और लोगों की ओर से बोलते हैं जो कहना तो चाहते हैं मगर जानते नहीं कि कैसे कहें या हिम्मत नहीं जुटा पाते? या क्या वे अपने ही समान असन्तुष्ट थोड़े-से लोगों की ओर से बोलते हैं? यह कैसे पता किया जाए कि *बहुत सारे* लोग क्या सोचते हैं? वर्तमान मत यह है कि हम किसी रायशुमारी करने वाले को उनके पास भेजें जो उनसे कुछ सवाल पूछे या एक प्रश्नावली भेज दें जिसे वे भरकर वापिस लौटा दें। किन्तु क्या लोग नितान्त अजनबी व्यक्ति को या बातचीत के पहले पाँच मिनट में अपनी असली राय बताते हैं? मैं तो देखता हूँ कि दोस्तों के साथ भी लोगों को अपने मन की बात बताने में इससे ज़्यादा समय लगता है। जब रायशुमारी में लोग एक बात कहें और किसी व्यक्ति के साथ लम्बी बातचीत में दूसरी बात कहें या उनके कामकाज से कोई अलग बात झलके, तो हमें इनमें से किस पर विश्वास करना चाहिए? किस हद तक लोगों के पास कहने के लिए एक तरह के और करने के लिए दूसरी तरह के विचार होते हैं?

इस तरह के सवाल इतिहास को लोगों के रोज़मर्रा जीवन के बीचोंबीच ला खड़ा करते हैं। हम चाहे जो भी करते हों, हम सबके लिए यह जानना ज़रूरी होता है कि क्या हुआ था, चाहे यह कल या पिछले सप्ताह की बात ही क्यों न हो। हम सबके सामने यही समस्या होती है: कैसे पता करें, किससे पूछें, किस पर विश्वास करें? इस महत्वपूर्ण अर्थ में हम सब इतिहासकार हैं। हमारे आसपास की हर चीज़ का, हम जो कुछ भी करते हैं उस सबका एक इतिहास होता है। लिखित चीज़ों का एक बड़ा हिस्सा – विगत घटनाओं की रिपोर्टें – इतिहास ही होता है। लिखित इतिहास यही है – तथ्य नहीं, ये *रिपोर्टें*। यानी दैनिक अखबार इतिहास की एक किताब है। हम अखबारों में जो कुछ पढ़ते हैं उस सब पर विश्वास नहीं करते। इस मायने में हम अच्छे इतिहासकार हैं। हम जिस यथार्थ में जीते हैं वह अतीत और भविष्य में फैला हुआ है। अतीत के बारे में और वर्तमान व भविष्य से उसके सम्बन्धों के बारे में सोचना मात्र एक “स्कूली विषय” या “ज्ञान का भण्डार” नहीं है जो सिर्फ चन्द विशेषज्ञों के करने की चीज़ है। यह

सबके सक्रिय जीवन का, काम का प्रमुख अंग है। हो सकता है कि कुछ लोग इसे औरों की अपेक्षा ज़्यादा अथवा बेहतर करते हों। किन्तु हम सब को इसे बेहतर करना चाहिए। इसे बेहतर करने में मदद के लिए हमें अच्छे शिक्षकों, अच्छे मॉडलों और मार्गदर्शकों की ज़रूरत है।

कौन से सवाल पूछने लायक हैं? हम जवाब कैसे खोजें? यह कैसे पता करें कि हमारे जवाब ठीक-ठाक हैं? ये सवाल सारी बौद्धिक गतिविधियों के मर्म में हैं; लिहाज़ा शिक्षण भी इनसे अछूता नहीं है। *बच्चे कैसे सीखते हैं* में मैंने एक पहली कक्षा के बारे में बताया था जहाँ जल्दी आने वाले बच्चे बोर्ड पर जो चाहे लिख सकते थे। पूरी तरह अपने आप उन्होंने जोड़ की पहलियाँ बना-बनाकर लिखना शुरू कर दिया; शुरुआत में $70+20=?$ जैसी; फिर $200+400$ या $240+520$ जैसी भी। एक सप्ताह के अन्दर वे काफी पेचीदा सवाल करने लगे थे; स्कूल का पाठ्यक्रम तो उनसे दूसरी कक्षा के अन्त में ही ऐसे सवालों की उम्मीद करता था। उस समय मैंने लिखा था:

सप्ताह के अन्त में जब वे चल निकलने को थे, मुझे जाना पड़ा, और मैं उनके काम को वह हल्का-सा धक्का देने से रह गया जो उन्हें हासिल के या घटाने के सवालों की ओर ले जाता...

ज़ाहिर था बच्चों को एक हल्के-से धक्के से अधिक की ज़रूरत नहीं थी, शायद उसकी भी नहीं। इन बच्चों को यह *सिखाने* की कोई ज़रूरत नहीं थी कि संख्याओं के बारे में सवाल कैसे पूछें या यह कैसे पता करें कि क्या उनके जवाब सही थे। इस तरह की चीज़ें तो वे अपने आप कर रहे थे और उनके नियमित शिक्षक ने या मैंने उन्हें नहीं सिखाया था कि ऐसा करें। जब मैंने उन्हें बोर्ड पर लिखने की छूट दी थी तब मुझे लगा था कि वे शब्द लिखेंगे या चित्र बनाएँगे। मैंने सोचा तक नहीं था कि वे गणित के सवाल लिखेंगे और करेंगे। मगर ये छः-छः साल के बच्चे असल गणित कर रहे थे, अपने सवाल पूछ रहे थे, अपने जवाब खोज रहे थे, उनकी जाँच कर रहे थे। तो मैं अधिक से अधिक इतना ही कर सकता था या मुझे करने की ज़रूरत थी कि कुछ नए सवाल सुझा दूँ या उत्तर खोजने या जाँच करने के कुछ तरीके बता दूँ।

जैसे किसी दिन मैं बोर्ड पर $5+5=$ लिखकर छोड़ सकता था। मुझे लगता है कि वह सवाल उन्हें ज़रूर ललचाता और जैसे-तैसे वे इसे करने का

तरीका ढूँढ ही लेते और मान जाते कि $5+5=10$ होता है। उन्होंने अपने अन्य सवालों के साथ जो कुछ किया था, उसे देखते हुए मुझे लगता है कि वे जल्दी ही $50+50=100$ और शायद $500+500=1000$ भी कर डालते। हो सकता है कि किसी दिन उनमें से कोई $5+6=$ लिखता या शायद मैं ही लिख देता। मेरा ख्याल है कि वे $5+6=11$ भी कर लेते और उससे आगे बढ़कर $50+60=110$ वगैरह भी। अपने काम में वे कर यह रहे थे कि छोटी-छोटी संख्याओं के करतबों के आधार पर अमूर्तीकरण करके कुछ सिद्धान्त निकाल रहे थे और इन्हें अपेक्षाकृत बड़ी संख्याओं पर लागू कर रहे थे; वे इस काम को शायद इन जुम्लों में नहीं सोचते थे। क्या धीरे-धीरे $5+6=11$ से आगे बढ़कर वे हासिल के अन्य सवाल, $5+7$, $6+7$, $6+8$, $16+8$ वगैरह कर पाते? मेरा ख्याल है कि वक्त मिलता तो वे कर पाते। मगर मैं पक्का नहीं कह सकता क्योंकि यह पता करने के लिए मैं वहाँ रुक नहीं पाया था। और शायद अच्छा ही हुआ। ज़्यादा समय मिलता तो शायद मैं यह प्रोजेक्ट, जिसे वे अपने आनन्द व कौतूहल के लिए कर रहे थे, उनके हाथ से छीन लेता और इसे बदलकर अपने T-teacher उद्देश्य की किसी चीज़ का रूप दे देता।

महत्वाकांक्षी T-teachers के लिए यह एक बड़ा लालच होता है। वे हमेशा अपने छात्रों की किसी रुचि की तलाश में रहते हैं ताकि उसका दोहन अपने उद्देश्य के लिए कर सकें। जब मैं पहली कक्षा के उन बच्चों के बारे में सोचता हूँ तो यह विचार आता है कि यदि मैं उस कक्षा में कुछ सप्ताह या कुछ और महीने रहता तो शायद बच्चे “अपने आप” काम करते हुए और समय-समय पर मेरे हल्के-हल्के धक्कों की मदद से तीन या पाँच या पता नहीं कितने सालों के गणित पाठ्यक्रम की वैंतरणी पार कर जाते। क्या शानदार किस्सा होता यह! चमत्कारी शिक्षक होल्ट! शिक्षण से मोहब्बत करने वाले व्यक्ति के लिए यह एक दिलकश, खतरनाक मुगालता है। वह सोचता है कि वह चमत्कार कर सकता है या (बात वही है) अपने छात्रों से करवा सकता है। किन्तु बच्चे इस दुनिया में जब-तब की कुलौंचों, खोजबीन और गतिविधियों के उबाल, और बीच-बीच में मनन की लम्बी अवधियों के ज़रिए आगे बढ़ते हैं। मुमकिन है कि सवालों के वे उत्सुक आविष्कारक और हलकर्ता जल्दी ही इस गणितीय शोध से थककर किसी और चीज़ की ओर मुड़ जाते। और यदि मैं उनके काम में बहुत ज़्यादा रुचि लेने लगता या बार-बार धकेलने लगता, तो पक्की बात है कि वे – मुझसे पहले – इस बात को ताड़ जाते

और यह सोचकर पीछे हट जाते कि अब यह प्रोजेक्ट उनका नहीं, मेरा है। एक अन्य मौके पर ठीक यही हुआ। मैंने लेखन दौड़ का ज़िक्र किया था। यह पाँचवीं कक्षा के छात्रों के बीच एक प्रतियोगिता होती थी जिसमें यह देखा जाता था कि दिए गए समय में कौन सबसे ज़्यादा शब्द लिखता है। कई कारणों से इस प्रतियोगिता में बच्चों की रुचि पैदा हो गई और वे काफी सहजता से व धाराप्रवाह और प्रायः अधिक रुचि से लिखने लगे थे। एक दिन एक छात्र ने एक रात भर की दौड़ का सुझाव दिया, जिसमें वे अपने सारे कागज़ घर ले जाएँगे और देखेंगे कि अगले दिन कौन सबसे ज़्यादा शब्द लिखकर लाता है। बाकी छात्र खुशी-खुशी राज़ी हो गए। अगले दिन वे सब पाँच सौ से दो हज़ार तक शब्द लिखकर लाए थे। मेरी आँखें चमक उठीं। अधिकांश शिक्षकों की तरह मैंने भी सोचा कि छात्र जितने ज़्यादा शब्द लिखें, उतना ही अच्छा मेरा शिक्षण। कुछ दिनों बाद चतुराई से मैंने एक और रात भर की लेखन दौड़ का सुझाव दिया। बच्चों ने पलक झपकते ही मुझे ताड़ लिया और कहा नहीं, वे नहीं चाहते, बहुत बोरियत होगी। सौभाग्यवश मैंने बात को समझकर कदम पीछे खींच लिए और कहा ठीक है, और मेरा आशय भी था ठीक है। नतीजा यह हुआ कि मैंने कम से कम उस थोड़े-बहुत आनन्द की हत्या नहीं की जो उन्हें कक्षा में लिखते हुए मिलता था।

सर्व-सम्मति के उपयोग

गणित में स्वतंत्र कार्य करते हुए पहली कक्षा के उन छात्रों ने सहजता से जो कुछ सीख लिया उसे सीखने में S-schools या तो असमर्थ हैं या अनिच्छुक। लोग अक्सर समूह में ज़्यादा कारगर ढंग से काम करते हैं। सारे लोग नहीं, हमेशा भी नहीं, और हर किस्म के काम में भी नहीं। कुछ लोग एकान्तप्रिय होते हैं, और लेखन जैसे कुछ काम अकेले में ही बेहतर होते हैं। किन्तु ज़्यादातर समय लोग अकेले की अपेक्षा औरों के साथ मिलकर ज़्यादा काम कर पाते हैं। वे एक-दूसरे को एक तरह का सामूहिक फीडबैक देते रहते हैं। बच्चे यह बात जानते थे या उन्हें अन्दाज़ा था कि यदि वे सब किसी उत्तर पर सहमत हैं तो उसके सही होने की सम्भावना ज़्यादा होगी। ऐसा नहीं है कि वे प्रजातंत्र के हिमायती थे और मानते थे कि लोगों की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ है; सारे छोटे बच्चों की तरह वे भी श्रेष्ठतावादी और अराजकतावादी थे। मगर उन्होंने अनुभव से सीख लिया

था कि यदि कोई गलती होगी तो इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि वे सब एक ही गलती करेंगे और उस पर सहमत भी हो जाएँगे। यही कारण है कि लोगों की अधिकांश बौद्धिक गतिविधियाँ, जैसे गणित या भौतिक शास्त्र या इतिहास, सामूहिक रूप से की जाती हैं – सिर्फ इसलिए नहीं कि लोग एक-दूसरे के विचार जान सकें बल्कि इसलिए भी कि वे एक-दूसरे की गलतियाँ पकड़ सकें।

पहले कभी मैंने लिखा था कि जब T-teachers कोई “सही उत्तर” कोर्स जैसा कुछ पढ़ा रहे हों, जैसे गणित या विज्ञान या विदेशी भाषा के कुछ हिस्से, तो उन्हें बच्चों की उत्तर पुस्तिकाएँ जाँचना नहीं चाहिए बल्कि उत्तर पत्र ही दे देना चाहिए। इससे बच्चे उन पर निर्भरता से निजात पा लेंगे और शिक्षक भी काफी सारे उबाऊ और अनावश्यक काम से बच जाएँगे। अब मैं उससे भी आगे बढ़कर सुझाव दे रहा हूँ कि यह जाँच करने का काम बच्चों पर ही छोड़ देना चाहिए कि उनके उत्तर सही हैं या नहीं। पॉकेट केलकुलेटर इतने सस्ते हो गए हैं कि हम जितना खर्च बच्चों को यह सिखाने पर करते हैं कि उत्तर कैसे पाएँ (जिन्हें बाद में शिक्षक को जाँचना पड़ता है), उससे कहीं कम खर्च में हम गणित की हर कक्षा में कुछ केलकुलेटर रख सकते हैं और बच्चों को सिखा सकते हैं कि इन्हें कैसे चलाएँ। उन्हें कैसे पता चलेगा कि केलकुलेटर पर किसी सवाल को कैसे हल करें? पहले वे कोई सरल सवाल लें जिसका उत्तर उन्हें पता हो। केलकुलेटर पर इसे तरह-तरह से करके देखें, जब तक कि सही उत्तर न आ जाए। इसके बाद अपने तरीके की जाँच थोड़े पेचीदा सवाल लेकर कर लें। पन्द्रह वर्ष की उम्र में मैंने स्लाइड रूल चलाना इसी तरह सीखा था। मैं उसे इधर-उधर खिसकाता गया जब तक कि एक ऐसा तरीका न मिल गया जिससे $2 \times 3 = 6$ आ गया। यह तरीका कारगर रहा था।

सामूहिक फीडबैक से लोगों को कई तरह के कामों को बेहतर करने में मदद मिलती है, कम से कम उन हालातों में तो मदद मिलती ही है जहाँ उनका एक-दूसरे पर इतना भरोसा हो कि वे खुलकर अपनी दिक्कतों व गलतियों की बात कर सकें। वेस्टर्न मिशिगन विश्वविद्यालय में अँग्रेजी के प्रोफेसर केन मैक्रोरी ने अपनी पुस्तकों *अप टॉट*, *राइटिंग टु बी रेड* और *ए वलनरेबल टीचर* में बताया है कि वे इसका उपयोग छात्रों को बेहतर लेखन में मदद के लिए लम्बे समय से कर रहे हैं। वे नियमित रूप से उन्हें एक-दूसरे के पत्रों पर टिप्पणी करने को कहते हैं। अलबत्ता, इसमें एक नियम है, कि प्रथम कुछ महीनों में, जब तक वे अपने आप पर और एक-

दूसरे पर विश्वास अर्जित न कर लें, तब तक वे सिर्फ उन्हीं चीज़ों की बात कर सकते हैं जो उन्हें अच्छी लगी हों। लेखक को पता चलता है कि उसके लेखन के कौन-से हिस्से उसके सहपाठियों तक पहुँचते हैं, उनमें रुचि पैदा करते हैं या उन्हें प्रभावित करते हैं और क्यों। तब, समय के साथ वे ज़्यादा से ज़्यादा उस तरह से लिखने लगते हैं। मुझे यकीन है कि मेरे परिचित कई छात्रों को इस विधि से काफी मदद मिलती थी क्योंकि उन्हें अपने शिक्षकों के लिए जो लेखन करना पड़ता था उससे वे स्वयं इतने दूर होते थे कि वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि औरों को उनका लिखा कैसा लगेगा। वे तो सिर्फ इतना सोच पाते थे कि उनका लिखा सब कुछ बहुत खराब है। इससे कोई फायदा नहीं होता; कोई भी लेखक यदि यह सोचे कि उसका सारा लेखन बेकार है, तो वह अपने अच्छे लेखन को अपने खराब लेखन से अलग नहीं कर पाएगा। जो छात्र घटिया लिखते हैं वह इसलिए नहीं कि “उनके सामने कोई मानक नहीं है”, बल्कि इसलिए कि जिन मानकों तक पहुँचने का वे प्रयास कर रहे हैं वे इतने अमूर्त और यथार्थ से परे हैं कि वे किसी भी तरह उनका इस्तेमाल नहीं कर सकते, और इतने ऊँचे हैं कि वे उनको छूने की उम्मीद नहीं कर सकते। स्कूल में अँग्रेजी में फेल होने वाले बहुत ही कम छात्र यह मानते हैं कि वे अच्छे लेखक हैं। “ए” ग्रेड पाने वाले छात्रों में से भी बहुत कम ऐसा मानते हैं। और वास्तव में होते भी बहुत कम हैं।

हम भाषा का उपयोग करना, बोलने में या लिखने में, तभी अच्छे से सीखते हैं जब हम इसका उपयोग किसी उद्देश्य से, अपने उद्देश्य से करते हैं: कोई बात जो हमें महत्वपूर्ण लगती है उन लोगों से कहना जिन्हें हम महत्वपूर्ण मानते हैं, या कोई चीज़ करवाने के लिए भाषा का उपयोग करना इस तरह के उद्देश्य हैं। 1952 में हाऊस ऑफ कॉमन्स में दो दिन चली गर्मागरम बहस में जिन सर्वोत्तम भाषणकर्ताओं को मैंने सुना, वे विश्वविद्यालय के स्नातक नहीं थे बल्कि कामकाजी स्त्री-पुरुष थे जिन्हें बहुत कम स्कूली शिक्षा मिली थी और जो लेबर पार्टी की युनियनों और स्थानीय संगठनों से उभरकर आए थे। उन्होंने अच्छे ढंग से भाषा का उपयोग करना इसलिए सीखा था क्योंकि उन्हें अपनी नौकरी बचाने, या हड़ताल को सफल बनाने, या चुनाव जीतने के लिए इसका अच्छे ढंग से उपयोग करना पड़ा। उनका हाऊस ऑफ कॉमन्स में होना इस बात का प्रमाण था कि वे अपने शब्दों से ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को प्रभावित कर सकते थे और चीज़ें करवा सकते थे। हम सब इसी प्रकार से और इसीलिए

बोलना सीखते हैं। हम लोगों को प्रभावित करना चाहते हैं और काम करवाना चाहते हैं। जब हमारे शब्द ऐसा कर पाते हैं तो इससे हम ज़्यादा बोलने को प्रोत्साहित होते हैं तथा यह भी देख पाते हैं कि बेहतर कैसे बोलें। जब हम S-chool जैसी किसी जगह में पहुँच जाते हैं जहाँ हमें कभी-कभार ही बोलने का मौका मिलता है, और कोई रोचक या वास्तविक बात कहने का मौका तो और भी कम मिलता है, और जहाँ हमारे शब्द कोई महत्वपूर्ण काम भी नहीं करवा पाते, और उनकी वजह से हमें शायद अपमान और नाकामी ही हाथ लगते हैं, तब हमारी भाषा का विकास धीरे-धीरे बन्द हो जाता है।

शिक्षण की क्रिया और कला, यानी अन्य लोगों को वह जानने व करने में मदद देना जो वे चाहते हैं, के बारे में इतना ही। और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। मुझे उम्मीद है कि इन अध्यायों से स्पष्ट हो गया होगा कि t-eaching में मेरी गहरी दिलचस्पी है, विश्वास है, और इसे करना मुझे बहुत प्रिय है। दरअसल मेरे लिए सारी अनिवार्य स्कूली शिक्षा और अनिवार्य सीखना समाप्त करने का एक कारण यही है कि तब मैं खुद को एक शिक्षक कह सकूँगा और पूरी तरह व उचित रूप में समझा पाऊँगा।

शिक्षकों की वास्तविक सत्ता

दी लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन में डेनिसन ने दो तरह की सत्ता के बीच महत्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट किया है। एक कुदरती सत्ता होती है जो अनुभव, दक्षता, विद्वत्ता, और निष्ठा तथा एक व्यक्ति में दूसरे के प्रति आदर, विश्वास, और प्रेम पर टिकी होती है। जबकि आधिकारिक या ज़ोर-ज़बर्दस्ती पर आधारित सत्ता रिश्वत देने, डराने और दण्डित करने की ताकत पर टिकी होती है। कई लोग यह फर्क नहीं समझ पाते, या यह नहीं देख पाते कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती की सत्ता कुदरती सत्ता की पूरक अथवा सहायक नहीं होती बल्कि उसमें सेन्ध लगाती है, उसे नष्ट कर देती है।

ताकत नैतिक अधिकारों और दायित्वों को निरस्त कर देती है। दास का अपने मालिक के प्रति कोई नैतिक दायित्व नहीं होता। उसे पूरा नैतिक अधिकार है कि हर सम्भव तरीके से चाबुक से अपना बचाव करे। यह किसी का नैतिक दायित्व नहीं होता कि दण्ड पाने के लिए स्थिर खड़ा रहे। दस साल की एक स्वाभिमानी, साहसी, दबंग बच्ची ने मुझे यह समझने में मदद दी थी। एक दिन उसने फ्रेंच कक्षा में जाने से इन्कार कर दिया। उसे इस कक्षा से नफरत थी (और ठीक ही थी)। मैं उसे कक्षा में जाने को कहता रहा और वह अपनी डेस्क पर बैठी पढ़ती रही। आखिर मैंने कह दिया कि यह मेरा काम है और मेरा फर्ज है कि उसे फ्रेंच कक्षा में भेजूँ और यदि किसी और तरीके से मैं ऐसा न कर पाया तो उसे घसीटकर वहाँ ले जाऊँगा। वह टस से मस नहीं हुई। मैं उसकी डेस्क की ओर बढ़ा, अपनी धमकी पर अमल करने को। जब मैं करीब तीन फुट दूर था तब उसने अचानक सिर उठाया, किताब को झटके से बन्द करके डेस्क पर पटका और खड़ी हो गई। उसने कहा, “ठीक है, मैं जा रही हूँ! परन्तु मैं सिर्फ *वहशी ताकत* के कारण जा रही हूँ, सिर्फ *वहशी ताकत*!” वह सही थी; यही तो मामला था।

कई वर्षों तक मैं यह किस्सा यह दर्शाने के लिए सुनाया करता था कि यदि लोगों से अपनी मर्जी का काम करवाने के लिए हम ताकत का इस्तेमाल करने को तैयार हैं, और उनके इन्कार या ना-नुकर करने पर उन्हें चोट पहुँचाने को तैयार हैं, तो हमें यह बात खुले आम कहनी चाहिए। इसे “विकल्प चुनने की छूट” कहना नैतिक रूप से घृणास्पद है। कम से कम मैंने उस बच्ची को यह समझाने की कोशिश नहीं की कि फ्रेंच कक्षा में जाना उसके लिए कितना अच्छा होगा, या वहाँ जाना उसका नैतिक दायित्व है। अब यह ज़्यादा साफ लगता है कि उसका ऐसा कोई नैतिक दायित्व नहीं था कि वह स्कूल या मेरा कहा करे। अन्य बच्चों को चोट न पहुँचाना उसका नैतिक दायित्व था, जिन्हें उसे चोट पहुँचाने का कोई नैतिक या कानूनी अधिकार नहीं था। इसी प्रकार से यह उसका नैतिक दायित्व था कि वह हम शिक्षकों को कोई शारीरिक नुकसान न पहुँचाए, क्योंकि (कम से कम उस स्कूल में) हम भी उसके साथ यह नहीं कर सकते थे। परन्तु परस्पर नैतिक दायित्व और अधिकार वहीं से शुरू होते हैं जहाँ ज़ोर-ज़बर्दस्ती की ताकत खत्म हो जाए।

सी.आई.डी.ओ.सी. में आने वाले जिन छात्रों को लगता है कि इसके नियम-कायदे स्कूलों के बारे में इलिच (और स्वयं मेरे) द्वारा व्यक्त विचारों के खिलाफ हैं, वे कई वर्षों तक ऐसे स्कूलों में पढ़े हैं जहाँ छात्रों के रूप में शिक्षकों के प्रति उनके दायित्व असीमित थे जबकि शिक्षकों का उनके प्रति कोई दायित्व नहीं था। एडगर फ्राइडेनबर्ग ने इसके बारे में कई बार और काफी अच्छा लिखा है। छात्र हर चीज़ के लिए स्कूल का ऋणी होता है और यदि वह ठीक से काम न करे तो उसे दण्डित किया जा सकता है; दूसरी ओर स्कूल और शिक्षकों का छात्र के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता। इसी बात को किसी और ने यों कहा है, “छात्र खराब हो तो दण्ड बहुत कठोर है, मगर शिक्षक बुरा हो तो कोई दण्ड नहीं है।” छात्र इस व्यवस्था को नामंज़ूर करते हैं तो सही ही करते हैं। मगर कई बार वे इसकी जगह उलटी व्यवस्था रखना चाहते हैं जिसमें छात्र के प्रति शिक्षक के असीमित दायित्व हों, मगर छात्रों का कोई दायित्व न हो। कई सारे मुक्त स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों वगैरह के पीछे यही विचार था। शिक्षक को सदा उपलब्ध रहना चाहिए, और हमदर्दी व समझदारी के साथ छात्रों की सारी ज़रूरतों का जवाब देना चाहिए। मगर वह उनसे कोई माँग नहीं कर सकता। उनकी ज़रूरतें मायने रखती हैं, उसकी नहीं। छात्रों का कक्षा में आना ज़रूरी नहीं है, मगर यदि वे आ जाएँ तो शिक्षक को

कक्षा में होना ही चाहिए। छात्रों को कोई किताब पढ़ना ज़रूरी नहीं है, मगर यदि वे किसी किताब पर चर्चा करना चाहें, तो शिक्षक द्वारा वह किताब पढ़ी होनी चाहिए और यदि न पढ़ी हो तो फौरन पढ़ लेनी चाहिए। छात्रों को पूरा अधिकार है कि कोई भी चर्चा रोचक न लगने पर वे उठकर चले जाएँ या उसे खारिज कर दें, मगर शिक्षक को ऐसा कोई अधिकार नहीं है।

जब मैं पहली बार सी.आई.डी.ओ.सी. जाकर इलिच से मिला था तब मेरे दिमाग में कुछ ऐसे ही विचार थे। इससे पहले की हमारी बातचीत में मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ था कि उन्होंने काफी सशक्त ढंग से तथाकथित अनौपचारिक शिक्षण का विरोध करते हुए पुरानी शैली के स्कूल मास्टर की हिमायत की थी। आगे चलकर एक बार फिर मैं चकित रह गया था जब उन्होंने भावुक होकर मुक्त स्कूलों के खिलाफ दलीलें दीं। सबसे चकराने वाली बात तो उनका यह डर था कि जिसे लोग स्कूलमुक्त समाज कहने लगे हैं वह शायद एक ऐसे समाज को जन्म देगा जो स्वयं एक सार्वभौमिक या सतत् स्कूल होगा; या उनकी यह टिप्पणी देखिए कि एक वैश्विक स्कूल और कुछ नहीं एक वैश्विक पागलखाना या वैश्विक जेलखाना होगा।

सी.आई.डी.ओ.सी. में मेरी दूसरी या तीसरी मुलाकात में उन्होंने मुझे एक विचित्र किस्सा सुनाया। उन्होंने बताया कि अमरीका में उनके एक व्याख्यान के बाद एक श्रोता उनकी काफी तीखी आलोचना करने लगा कि उन्होंने एक बात को स्पष्ट नहीं किया जो वे कहने की कोशिश कर रहे थे। कुछ समय बाद इलिच ने उसे रोका और काफी बल देकर कहा, “कृपया बैठ जाइए। मैं आपका शिक्षक नहीं हूँ।” उन्होंने मुझे यह किस्सा इस तरह बताया जैसे इसे समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है और जैसे इसे समझने से वह सब स्पष्ट हो जाएगा जो वे एक व्यापक अर्थ में शिक्षा और शिक्षण के बारे में कहते रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ समझने में मुझे कुछ समय लगा।

जब मैंने खुद अपने दिमाग में करने और शिक्षा, S-schools और s-schools के बीच, और T-teachers और t-teachers के बीच अन्तर करना शुरू किया, तभी मैं समझ पाया कि किस पीड़ा के साथ इलिच ने उस प्रश्नकर्ता को कहा था कि वे उसके शिक्षक नहीं हैं। कुल मिलाकर वे कह रहे थे, “मैंने तुम्हारा शिक्षक होने की हामी नहीं भरी है, इसलिए मेरी कही बात तुम समझो या न समझो, यह मेरी ज़िम्मेदारी नहीं है। यदि तुम चाहते हो

कि मैं तुम्हारा शिक्षक बनूँ, तुम्हें कुछ सिखाने या समझाने की ज़िम्मेदारी लूँ, तो तुम्हें अनुरोध करना होगा। तब भी मैं तभी हामी भरूँगा जब मुझे यकीन हो कि मैं वास्तव में तुम्हें सिखा सकता हूँ या समझाने में तुम्हारी मदद कर सकता हूँ। यदि मुझे लगता है कि मैं यह कर सकता हूँ तो मैं कुछ शर्तें रखूँगा, परस्पर ज़िम्मेदारियों और दायित्वों की बात रखूँगा, जिनके अधीन मैं तुम्हें सिखाने को सहमत हूँ। अन्यथा मैं तुम्हें समझाने की कोई ज़िम्मेदारी नहीं लूँगा और तुम न समझो तो उसका दोष भी नहीं लूँगा। यहाँ हम शिक्षक और छात्र की तरह नहीं बल्कि बराबरी वालों की तरह बात कर रहे हैं और एक-दूसरे को न समझ पाना ऐसी किसी भी बातचीत का एक जोखिम होता है।”

यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि इलिच कह रहे हैं कि, सर्वप्रथम, शिक्षक और छात्र का सम्बन्ध बराबरी वालों के बीच का सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में रहते हुए छात्र कुछ मायनों में (सब मायनों में नहीं) निम्नतर है; वह इसे मानता है और स्वीकार करता है। इसके आगे इलिच कह रहे हैं कि सारी चीज़ें सिखाई नहीं जा सकतीं। वे किसी को स्पेनिश सिखाने की ज़िम्मेदारी उठा लेंगे। मगर वे किसी को दर्शन शास्त्र सिखाने का बीड़ा नहीं उठाएँगे, हालाँकि उन्हें इस पर बातचीत करके खुशी होगी, क्योंकि वे ठीक ही कहते हैं कि कोई किसी को दार्शनिक नहीं बना सकता। S-schools व S-schools से जुड़े लोगों के बारे में इलिच की एक सबसे गहरी आलोचना यही है कि वे इस अन्तर को भी नहीं जानते या नहीं मानते कि क्या सिखाया जा सकता है और क्या नहीं, कि कौन-सी चीज़ें सिखाने से नहीं सीखी जातीं।

कई अमरीकी छात्र शिक्षक के साथ जिस सम्बन्ध को उचित मानते थे और सी.आई.डी.ओ.सी. में पाने की उम्मीद करते थे, वह कई अर्थों में नवजात शिशु का अपनी माँ से सम्बन्ध जैसा है। सारे कर्तव्य माँ के हैं, शिशु के कुछ नहीं। यह हो सकता है कि खराब ज़माने में बड़े होने और उससे भी ज़्यादा अपनी स्कूलिंग के अनुभव से आहत कई युवा लोगों को ऐसे ही सम्बन्ध की गहरी ज़रूरत है। मगर सही मायनों में यह शिक्षक और छात्र का सम्बन्ध नहीं है, यह सर्वथा अलग चीज़ है। वास्तव में हो सकता कि इलिच इस सम्बन्ध को एक शिक्षक के रूप में दृढ़ता से खारिज व अस्वीकार करने के बावजूद कुछ मामलों में एक दोस्त के रूप में इसे स्वीकार कर लें।

बात यह है कि जिस ढंग से इलिच छात्र-शिक्षक सम्बन्ध को देखते हैं वह

एक असाधारण सम्बन्ध है और जीवन में इसका अंश बहुत कम होना चाहिए। एक बार उन्होंने मुझसे काफी ज़ोर देकर कहा था कि वे अपना सारा जीवन स्कूल-घर में नहीं बिताना चाहते। वे उन दो स्थितियों के बीच स्पष्ट भेद रखने के हिमायती हैं जिनमें से एक में वे किसी अन्य व्यक्ति से वैसा रिश्ता रखें जैसा एक छात्र का शिक्षक से होता है (या इससे उलटा), अर्थात् एक निम्नतर व्यक्ति का उच्चतर व्यक्ति से। और दूसरी वह स्थिति जिसमें वे किसी व्यक्ति के साथ बतौर एक इन्सान अर्थात् बराबरी का रिश्ता रखें। यदि वे किसी व्यक्ति के साथ निम्नतर-उच्चतर का सम्बन्ध बनाते हैं, तो वे यह बात स्पष्ट रखना चाहते हैं कि यह रिश्ता कब, कब तक, किन शर्तों पर और किस उद्देश्य से चलेगा। जिसे वे मौजी समाज कहते हैं उसका अर्थ कुछ हद तक एक ऐसे समाज से है जिसमें लोग बराबरी से बातचीत करते और सम्बन्ध बनाते हैं। अपवाद सिर्फ वे स्थितियाँ होती हैं जब वे आपस में तय करें कि वे किसी और ढंग का सम्बन्ध बनाएँगे।

पेशेवर वक्ता के रूप में कई बार ऐसा होता है कि कोई समूह, संगठन, सम्मेलन मुझे शुल्क देकर व्याख्यान करवाता है। कभी-कभी मुझे डर रहता है कि यह समूह जो सुनना चाहता है वह वह नहीं है जो मैं कहना चाहता हूँ, और जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ उसे वे शायद बिल्कुल न सुनना चाहें। ऐसे मामलों में उन्हें कह देता हूँ, “शायद आपकी बैठक में बोलने के लिए मैं सही व्यक्ति नहीं हूँ क्योंकि मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह है।” कभी-कभी वे मान जाते हैं कि मैं उनका मनचाहा व्यक्ति नहीं हूँ। कभी-कभी वे कहते हैं कि मैं फिर भी आऊँ। किन्तु यह सही ही लगता है कि उन्हें पता हो कि उन्हें क्या मिलने वाला है।

कभी-कभार कोई व्यक्ति या समूह मुझसे कहता है कि मैं उनके साथ चर्चा करते हुए कुछ समय व्यतीत करूँ, जिसके लिए कोई शुल्क नहीं मिलेगा। ऐसे मामलों में मैं उनसे पूछ लेता हूँ कि वे किस बारे में बात करना चाहेंगे। हो सकता है कि वे जो कुछ जानना चाहते हैं, उसके बारे में मैंने या किसी और ने पहले से ही कुछ लिखा हो। तब मैं उन्हें बता देता हूँ कि वे उसे कहाँ पढ़ सकते हैं। यह भी हो सकता है कि वे किसी ऐसी चीज़ के बारे में बात करना चाहते हों जिसके बारे में मुझे कुछ नहीं पता या मैं बात नहीं करना चाहता। मगर यदि वे मेरे साथ किसी ऐसे विषय पर बात करना चाहते हैं जिसमें मेरी रुचि है और मैं उसके बारे में बात करना चाहता हूँ, तो शायद मैं कहूँ, “बात करने से पहले मैं चाहूँगा कि आप कुछ चीज़ें पढ़

लें। इनमें कुछ ऐसे विचार हैं जो हमारी चर्चा के लिहाज़ से महत्वपूर्ण हैं और चूँकि ये पहले ही लिखे जा चुके हैं, इसलिए मैं बैठक में इनकी बात करने में समय खर्च करना नहीं चाहूँगा। बेहतर होगा कि आप इन विचारों को पढ़ लें ताकि हम इनके आगे से शुरू करें।” कभी-कभी लोग इस पर राज़ी हो जाते हैं, कभी-कभी नहीं होते। मुझे इस तरह की शर्तें थोपने से कोई परहेज़ नहीं है। यह एक teacher का अधिकार है कि वह वे शर्तें स्पष्ट कर दे जिनके तहत वह अपने छात्रों के साथ काम करना स्वीकार करता है। मगर जो लोग मुझसे बात करना चाहते हैं, उन पर मेरा कोई अधिकार न हो; वे पूरी तरह स्वतंत्र हों कि मेरे बगैर काम चला लें; इसमें उनके लिए कोई खतरा न हो – ये शर्तें पूरी होने पर ही मुझे काम करने की अपनी शर्तें रखने का अधिकार मिलता है।

अब यह साफ है, जो पहले साफ नहीं था, कि क्यों इलिच ने मेरी इस बात पर इतनी भयानक प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि हमें स्कूल की चारदीवारी को बाहर की ओर धकेलते जाना चाहिए। उस समय यह इस बात को कहने का एक अच्छा तरीका लगता था कि हमें सीखने और शेष जीवन के बीच के अन्तर को खत्म कर देना चाहिए। उन्होंने इस बात में जिस खतरे को फौरन भाँप लिया था, वह मुझे बहुत देर में समझ आया। एक बार फिर वैश्विक स्कूल, पागलखाने, जेलखाने के बारे में सोचिए। पागलखाने और जेलखाने क्या हैं? ये अनिवार्य उपचार की संस्थाएँ हैं। वहाँ लोगों का एक समूह एक दूसरे समूह के साथ, उनकी स्वीकृति के बगैर, कुछ-कुछ करता है क्योंकि एक तीसरे समूह को लगता है कि यह उनके लिए अच्छा है। जेलखाने, कम से कम वे जेलखाने जो “पुनर्वास” में यकीन करते हैं, जिनसे अधिकांश कैदी डरते हैं और नफरत करते हैं, वे स्थान हैं जहाँ एक समूह दूसरे से कहता है, “हम तुम्हारे जीवन पर नियंत्रण करेंगे और तुम्हारे साथ जो चाहें और जब तक चाहें करेंगे, जब तक कि हमें यकीन न हो जाए कि तुम दुरुस्त हो गए हो।” इसी लहज़े में मानसिक अस्पताल के डॉक्टर भी कहते हैं, “हम दवाइयों, पाबन्दियों, झटकों, चीरफाड़ वगैरह से तब तक तुम्हारा इलाज करते जाएँगे जब तक कि तुम कसौटी पर खरे यानी मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं हो जाते।” चलते-चलते, यह गौरतलब है कि चन्द निहायत संक्रामक रोगों को छोड़ दें तो व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह चिकित्सकीय दृष्टि से बीमार होते हुए भी डॉक्टर के पास या अस्पताल न जाए। ऐसे व्यक्ति खुद का इलाज करने या स्वयं स्वस्थ होने की कोशिश करने को स्वतंत्र हैं। मगर मानसिक

रूप से अस्वस्थ व्यक्तियों को यह छूट नहीं है।

S-school भी ठीक इसी प्रकार का अनिवार्य उपचार संस्थान है। समाज ने तय किया है कि लोगों का एक समूह, T-teachers, लोगों के दूसरे समूह यानी छात्रों के साथ, वे चाहें या न चाहें, हर किस्म की चीजें करेगा। और तब तक करेगा जब तक कि T-teachers को यह यकीन न हो जाए कि छात्र कसौटी पर खरा हो गया है, दुनिया के बारे में इतना जान गया है कि बाहर कदम रखे और उसमें जी सके। ऐसे लोग कहते हैं कि किसी को भी निरक्षर बने रहने का अधिकार नहीं है – एक ऐसा अधिकार जो मुझे तब हमेशा होता है जब मैं किसी दूसरे देश की यात्रा करता हूँ। एक वैश्विक स्कूल-घर, जिसकी ओर हम कदम बढ़ाते लग रहे हैं, एक ऐसी दुनिया होगी जहाँ लोगों के एक समूह को अधिकार होगा कि वह हम बाकी सबको आजीवन भिन्न-भिन्न किस्म के टेस्ट देता रहे, और यदि हम कसौटी पर खरे न उतरें तो हमें भिन्न-भिन्न किस्म की प्रक्रियाओं, जैसे शिक्षा, इलाज वगैरह लेने को मजबूर करे, जब तक हम कसौटी पर खरे न उतरें। इससे बुरे दुस्वप्न की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मानव प्रकृति

मैंने जो कई सारी बातें कही हैं उनमें मानव प्रकृति का एक निश्चित नज़रिया निहित है। मैं इस नज़रिए को ज़्यादा स्पष्ट करने की इजाज़त चाहूँगा। इस नज़रिए पर इल्ज़ाम यह है कि यह जज़्बाती है और इसमें इन्सानों की बुराई करने की क्षमता का ध्यान नहीं रखा गया है जबकि वह बार-बार नज़र आती है।

प्रकृति का एक पारम्परिक व निराशावादी नज़रिया यह है कि इन्सान अधिकतर बुरा होता है। ज़्यादा सम्भावना इस बात की है कि उसकी गहरी सहज वृत्तियाँ और इच्छाएँ अच्छी होने की बजाय बुरी होंगी। यदि उसे छूट मिले तो वह ज़्यादातर बुरा ही करेगा। यूरोप में धर्मान्दोलन (Reformation) के बाद मानव प्रकृति को लेकर कई ईसाइयों का यकीनन यही स्याह नज़रिया रहा है। हाल में नृचरित्र-विज्ञानियों ने बहुत बारीकी और संवेदनशीलता से जन्तु व्यवहार का अध्ययन किया है, मगर यह समझना उनकी मूर्खता है कि वे जन्तु व्यवहार के आधार पर इन्सानों की व्याख्या कर सकते हैं। इधर कुछ नृचरित्र-विज्ञानियों ने मूल पाप के सिद्धान्त को “वैज्ञानिक” रूप से सम्मानजनक बना दिया है। वे कहते हैं कि देखो, इस मछली या उस हंस का व्यवहार या कोई प्राचीन खोपड़ी इसका प्रमाण है।

किन्तु पारम्परिक नज़रिए में यह भी माना जाता है कि कम से कम कुछ लोगों को उनके शान्त क्षणों के दौरान यह समझाया जा सकता है कि वे बुरे हैं, कि उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता, और जब भी वे मनचाहा काम करेंगे तो यह खुद उनके लिए भी हानिप्रद होगा। लिहाज़ा, उन्हें एक सामाजिक व्यवस्था की ज़रूरत है जिसे ताकत का सहारा हासिल हो, ताकि उन्हें वे अधिकांश बुरी बातें करने से रोका जा सके जो अन्यथा वे कर गुज़रेंगे। कम से कम कुछ लोगों पर भरोसा किया जा सकता है कि वे इस सामाजिक व्यवस्था का खाका बनाएँ और तय करें कि इसे किस

तरह की शक्तियाँ मिलनी चाहिए, किन लोगों को और किस तरह से इन शक्तियों का इस्तेमाल करना चाहिए, और इन लोगों को किस तरीके से खोजा या चुना जाए। तो, इन थोड़े से लोगों का काम इस सामाजिक व्यवस्था को बनाने व बनाए रखने का है, और कभी-कभार ही, और वह भी हालात के भारी दबाव में तथा जितना कम से कम हो सके, बदलने का है। यही राजनीति व शासन की कला है। इस मत को मानने वाले अक्सर इसे संरक्षणवाद कहते हैं; अन्य लोग इसे प्रतिक्रियावादी (reactionary) या उससे भी बुरा कहते हैं। ज़ाहिर है, इस मत को मानने वालों को इस किताब में व्यक्त विचार अच्छे नहीं लगेंगे। मगर इस आधुनिक समाज में शायद ही कोई ऐसी चीज़ होगी जो किसी निष्ठावान और अक्लमन्द संरक्षणवादी (conservatism) को पसन्द आए। निश्चित तौर पर वह अमरीका या अन्य देशों के उन सारे लोगों को संरक्षणवादी भी नहीं कहेगा जो वैसे इस नाम से जाने जाते हैं। वह उन सारे अनियोजित परिवर्तनों, जिनके परिणामों का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, के प्रति भी शंकित रहेगा जिन्हें ये ज़्यादातर संरक्षणवादी मुनाफे, वृद्धि और “प्रगति” के लिए धकेलते चले जा रहे हैं। और उसे यह भी ज्ञान होगा, जो इन संरक्षणवादियों को नहीं है, कि जो लोग किसी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करते हुए स्वयं को समृद्ध नहीं बनाना चाहिए और उन्हें स्वयं इस व्यवस्था के नियमों का पालन करना चाहिए, अन्यथा वे इस व्यवस्था की नैतिक बुनियाद को नष्ट कर देंगे। जब सत्ता लायसेंस बन जाए तो समाज व्यवस्था जल्दी ही ध्वस्त हो जाती है।

यह सही है कि मैं कई मायनों में संरक्षणवादी हूँ, मुझे बरबाद करने या तबाह करने की अपेक्षा संरक्षण करना ज़्यादा सुहाता है। मगर मुझे नहीं लगता कि सच्चा संरक्षणवादी होने के लिए ज़रूरी है कि आप यह पारम्परिक व स्याह नज़रिया अपनाएँ कि इन्सान कुदरती तौर पर बुरे होते हैं। यह तो साफ है कि हम इन्सान कई बुरे काम कर सकते हैं और कर चुके हैं। किन्तु हम कुछ बहुत अच्छी चीज़ें भी कर सकते हैं। यदि हम अच्छे की बजाय बुरे ज़्यादा नज़र आते हैं तो कुछ हद तक तो इसलिए कि अच्छे की बनिस्बत बुरा करना, सृजन की बनिस्बत विनाश करना, ज़्यादा आसान है, और कुछ हद तक इसलिए कि यह कहीं अधिक असरदार होता है।

यह भी सही है कि कभी-कभी चोट पहुँचाकर, विनाश करके, हत्याएँ करके हम बहुत खुश नज़र आते हैं। परन्तु कई अन्य मौकों पर हम बगैर

कोई नुकसान किए, सुख देकर या बाँटकर, अपनी मासूम ज़रूरतें पूरी करके भी उतने ही या उससे भी ज़्यादा खुश नज़र आते हैं। मुझे दृढ़ता से लगता है कि हमारी कई सारी ज़रूरतें इतनी मासूम हैं, निस्वार्थ और सृजनात्मक हैं, कि किसी भी परिस्थिति में इनकी समुचित पूर्ति करते हुए हमें नुकसान करने की न तो कोई ज़रूरत पड़ेगी, न इच्छा होगी, या हो भी तो शायद बहुत ही कम। हमारी जैविक प्रकृति ने हमें न सिर्फ बुरा करने की क्षमता दी है, बल्कि हानिरहित आनन्द हासिल करने की विपुल क्षमता और अन्य लोगों को चोट पहुँचाए बगैर जीवन का लुत्फ उठाने के बहुत-से तरीके भी दिए हैं। हमें खेलना, हँसना, सृजन करना और अन्य लोगों की खुशी में इज़ाफा करना व उसमें साझेदारी करना अच्छा लगता है। यदि हम डर या धर्म या देशभक्ति जैसे किसी अमूर्त सिद्धान्त या जज़्बात से पगला न गए हों, तो हमें अन्य लोगों के दुख-दर्द से तकलीफ होती है। जब हम हवाई अड्डे या रेल्वे स्टेशन पर लोगों को अपने प्रियजनों से बिछुड़ने के दुख में रोते देखते हैं, तो हम हँसते नहीं हैं बल्कि उनके दुख से थोड़े मायूस हो जाते हैं। लोग भागकर किसी अपराध या दुर्घटना के स्थल पर पहुँच जाते हैं, मगर शायद ही कोई मुस्कराता हुआ नज़र आए। तकलीफ और दर्द को सहने या इनसे आनन्द लेने के लिए हमें बहुत सोचे-समझे प्रशिक्षण की ज़रूरत होती है।

हमारी मानव प्रकृति के बारे में जो बात सबसे सही लगती है वह यह है कि यह बहुत लचीली है। हम इन्सानों को बहुत आसानी से, और विविध चीज़ों में, ढाला जा सकता है और ढाला जाता है। जो चीज़ हमें ढालती है वह है दुनिया और समाज, और आसपास के लोगों के तौर-तरीके एवं रवैये – यानी, संक्षेप में, हमारी संस्कृति। इन्सान की बुनियादी प्रकृति क्या है, यह सवाल यह पूछने के बराबर है कि संस्कृति के बगैर इन्सान कैसा होगा। यह सवाल अर्थहीन है, इसका जवाब नहीं दिया जा सकता। संस्कृति के बगैर इन्सान जैसी कोई चीज़ नहीं होती, न हो सकती है। और यदि हम कुछ हद तक इस सवाल का जवाब दे भी दें कि संस्कृति के बगैर, अपने आप में इन्सान कैसा होगा, तो भी इस जानकारी से हमें वह सब पता नहीं चलेगा जिसे जानने के लिए हम मानव प्रकृति के बारे में सवाल पूछते हैं। अन्य लोगों के साथ होने पर लोग कैसे व्यवहार करेंगे? लोगों का व्यवहार काफी हद तक उनकी संस्कृति पर और ऐसी बातों पर निर्भर करता है कि उस संस्कृति में वे कहाँ स्थित हैं, वे उसे कैसे देखते हैं, वह संस्कृति उन्हें कैसे देखती है, वगैरह। यह इस धारणा की पहली खामी है

कि हम इन्सानों को बुनियादी रूप से बुरा मानकर मोटे तौर पर एक अच्छे समाज का निर्माण कर सकते हैं। जो संस्कृति कहती है कि लोग बुरे हैं वह बड़ी संख्या में ऐसे लोग तैयार करेगी जो बुरा व्यवहार करेंगे। हम जानते हैं कि इस तरह की भविष्यवाणियाँ कैसे स्वयं को सही साबित करने की कोशिश करती हैं। लोग वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा उन्हें लगता है कि अन्य लोगों की अपेक्षा है। जब वे सोचते हैं कि वे, और शेष सब भी, बुरे हैं तो वे एक-दूसरे के साथ इस तरह व्यवहार करते हैं जिससे उनके अन्दर का जो भी थोड़ा-बहुत बुरापन है वह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जिस व्यक्ति को यकीन है कि वह और बाकी सभी व्यक्ति स्वार्थी व लालची हैं तो वह स्वार्थी व लालची ढंग से काम करेगा। वह यह भी मानता रहेगा कि उसके पास और कोई चारा ही नहीं है। जिस व्यक्ति को विश्वास है कि इन्सान प्रकृति से ही हत्यारा है, उसे आसपास हत्यारे ही हत्यारे नज़र आएँगे और उनसे अपनी रक्षा के अलावा उसे और कुछ नहीं सूझेगा। वह शायद उनकी हत्या कर देगा, इसके पहले कि वे उसे खत्म कर दें। ऐसा करके वह उन्हें डरा देगा। डरकर वे इस तरह व्यवहार करने लगेंगे जिससे उसे यकीन हो जाएगा कि वह सही था। सबसे डरने वाला व्यक्ति उस व्यवहार को जन्म देता है जिससे वह डरता है।

बुरे लोगों से मिलकर बने अच्छे समाज की धारणा की दूसरी दिक्कत यह है। आदर्श राज्य के बारे में लिखने वाले प्रथम व्यक्तियों में से एक प्लेटो ने कहा था कि इस पर दार्शनिक-राजाओं का शासन होना चाहिए। यह मिश्रण बहुत ही मोहक लगता है। दिक्कत यह है कि दार्शनिक लोग अक्सर राजा नहीं बन पाते। राज सिंहासन का रास्ता तर्क की अपेक्षा ताकत से होकर जाता है। अधिकांश राजाओं के सिर पर ताज इसलिए नहीं रहा कि वे अन्य लोगों की अपेक्षा ज़्यादा अक्लमन्द थे या उदार थे या गुणवान थे, बल्कि इसलिए रहा कि वे ज़्यादा कुटिल, निर्लज्ज, लोभी, निर्दय, हिंस्र, और नृशंस थे। राजाओं द्वारा शासित या अन्य तरह के मानव समाजों में यदा-कदा ही सर्वोत्तम या सबसे अक्लमन्द व्यक्ति शीर्ष पर पहुँचते हैं। सिद्धान्ततः तो शासकों की खूबियों व गुणों से समाज व्यवस्था बेहतर होने की उम्मीद की जाती है। मगर यथार्थ में शासकों की कमज़ोरियाँ और दुर्गुण उसे बदतर बना देते हैं। इस व्यवस्था के नाम पर और इसके लिए समाज के सदस्य कहीं ज़्यादा संख्या में और कहीं ज़्यादा बदतर अपराध करते हैं, जितने वे अपने आप कभी न करते। शासक अन्य लोगों से ऐसा सब करने को कहेंगे जो वे खुद कभी नहीं करेंगे;

शासित लोग इन आदेशों पर वह सब करेंगे जो वे आदेश के बगैर कभी न करते। किसी ने कहा है, जो लोग हत्या करते हैं, वे योजना नहीं बनाते; जो योजना बनाते हैं, वे हत्या नहीं करते।

किसी भी समाज की तरह मानव समाज में भी बुरे के ही शीर्ष पर पहुँचने की सम्भावना ज़्यादा है। यदि दो समाज पास-पास रहते हैं, एक विनम्र, शान्तिपूर्ण, दयालु और खुशहाल है और दूसरा लोभी और हिंस्र अत्याचारी है, तो बुरा समाज सदैव अच्छे को निगल जाएगा। जिसे हम इतिहास कहते हैं वह अधिकांशतः पागलों की सफलता के किस्से हैं। कितनी-कितनी बार कीर्ति, सत्ता, साम्राज्य वगैरह की राह पर इन्होंने और ठगों व हत्यारों से बनी इनकी फौजों ने ऐसे समाजों का सफाया किया है जो कहीं अधिक समझदार और मानवीय थे। और जिस छोटी-सी अवधि का हमारे पास रिकॉर्ड है, उससे पहले के लम्बे प्रागैतिहासिक काल में यह कहीं ज़्यादा बार दोहराया गया होगा। हमारी इतिहास की किताबें आज भी काफी प्रशंसा के भाव से रोम तथा रोम के प्रति हमारे ऋण की चर्चा करती हैं, जबकि यह आज तक की सबसे लालची, विनाशकारी, नृशंस और टिकाऊ तानाशाही थी। स्वयं को इतिहास का सबसे यशस्वी अन्तिम उत्पाद मानकर हमें यह कहने में गर्व महसूस होता है कि इससे सर्वश्रेष्ठ की उत्तरजीविता के नियम की पुष्टि होती है। ज़्यादा सच्चाई तो नैतिक रूप से निकृष्टतम की उत्तरजीविता की बात में है।

अर्थशास्त्र में एक नियम है जिसे ग्रेशम का नियम कहते हैं। यह नियम कहता है कि यदि अच्छा धन और बुरा धन दोनों प्रसार में हों तो बुरा धन अच्छे धन को बाहर धकेल देगा। यदि कोई समाज सोने के सिक्के और कागज़ के नोट चलाए, तो जो लोग खर्च करने के लिए ज़्यादा पैसा चाहते हैं, वे कागज़ी नोटों के पीछे भागेंगे क्योंकि इन्हें पाना आसान है। दूसरी ओर, जो लोग बचत के लिए धन चाहते हैं वे सोने के सिक्के रखेंगे क्योंकि ये टिकाऊ होंगे। लिहाज़ा सोने के सिक्के तो जुराबों, गद्दियों और महाराबों में पहुँच जाएँगे, और बाहर सिर्फ कागज़ी नोट बचेंगे। ऐसा लगता है कि मानव समाजों में भी काफी समय से ग्रेशम के नियम जैसी कोई चीज़ रही है। हो सकता है कि इन्सानों ने जितने भी दयालु और समझदार समाज कभी बनाए होंगे, वे कब के गायब हो चुके हैं।

ज़ाहिर है, यह जानने का कोई तरीका नहीं है कि यह बात सच है या नहीं। इतिहास में परास्त लोग बहुत ज़्यादा निशानियाँ नहीं छोड़ते। परन्तु मेरी

नज़र में यह परिकल्पना या अटकल मानव बुराई का, मूल पाप का एक जवाब हो सकता है। कम से कम यह किसी भी अन्य परिकल्पना के बराबर ही सम्भव है और उनसे कहीं ज़्यादा आशावादी है। लोग कई बुरे काम करते हैं, बहुत बुरे काम भी करते हैं, क्योंकि उन्हें इन्हें करना सिखाया जाता है, करने के लिए मजबूर किया जाता है। शायद हमारे समाज की तरह उनका समाज भी उन्हें कहता है कि जब सफल होना ही सब कुछ है, तो लालची, स्वार्थी, निर्मम, हठधर्मी, और कठोर होना ठीक ही है। शायद हमारे समाज की ही तरह उनका समाज भी बताता है कि कुछ अन्य लोग इतने बुरे हैं कि उनकी निहत्थी औरतों, बच्चों और शिशुओं की हत्या करना कोई जुर्म नहीं है, कम से कम ऐसा जुर्म तो नहीं ही है जिसके लिए किसी को सज़ा मिले। शायद उनका समाज उनके साथ इतना खराब और अन्यायपूर्ण सलूक करता है, उनके आत्मसम्मान और महत्व के भाव इस कदर नष्ट कर देता है कि अपने शेष जीवन में वे बदले के अलावा किसी और चीज़ के बारे में सोच ही नहीं पाते। किन्तु किसी अन्य किस्म के समाज में, जहाँ उन्होंने अलग ढंग के विचार सुने हैं और उनके साथ न्यायपूर्ण, उदार और शिष्टता व सम्मान का व्यवहार हुआ है, वहाँ वे बिल्कुल अलग ही ढंग से बने होंगे।

एक किस्म के हालात में लोग जो कुछ बन जाते हैं, उससे हमें यह पता नहीं चलता कि किन्हीं दूसरे हालात में वे क्या बनेंगे। जापान के बागवानों ने कई सदियों में पेड़ों के साथ काफी कुछ करना सीखा है। वे उनकी जड़ों को काट देते हैं, टहनियों की छँटाई कर देते हैं, उनकी पानी, हवा या धूप की उपलब्धता सीमित कर देते हैं, ताकि वे जिएँ और लम्बे समय तक जिएँ मगर छोटे-छोटे, सिकुड़े हुए, मुड़े-तुड़े आकारों में। ऐसे पेड़ हमें खुश कर सकते हैं, या शायद न करें। मगर ये हमें पेड़ों के स्वभाव के बारे में क्या बता सकते हैं? यदि एक पेड़ को तोड़ा-मरोड़ा और सिकोड़ा जा सकता है, तो क्या यही उसका स्वभाव है? यदि पर्याप्त हवा, पानी, धूप, भोजन मिले तो इन पेड़ों का स्वभाव भी पेड़ों की तरह बढ़ना है, लम्बा और सीधा। लोगों को तो और भी आसानी से, और भी बुरी तरह विकृत किया जा सकता है, और पेड़ों के विपरीत वे इसे महसूस करते हैं, इससे तकलीफ होती है। मगर इससे उनके स्वभाव के बारे में कुछ पता नहीं चलता, न ही चल सकता है। जब लोगों को उनकी ज़रूरत की चीज़ें मिलें, जब वे स्वस्थ और भयमुक्त हों, जब उनके जीवन विविध, रोचक, सार्थक, उत्पादक, खुशनुमा हों, तभी हम उनके स्वभाव के बारे में फैसला

करने या शायद अन्दाज़ लगाने की बात कर सकते हैं। आज बहुत ही कम लोग, बच्चे या बड़े, इस तरह का जीवन जीते हैं। अतीत में शायद बहुत कम लोगों को ऐसा जीवन नसीब हुआ है। मानव स्वभाव में कितनी अच्छाई या सहृदयता है, यह पता लगाने का इसके सिवाय कोई तरीका नहीं है कि इस मान्यता के आधार पर एक समाज का निर्माण किया जाए कि लोग अच्छे व दयालु हैं और होना चाहते हैं; एक ऐसा समाज जिसमें अच्छा और दयालु होना कम से कम एक अडचन न हो। जब तक हम ऐसा नहीं कर पाते, तब तक अक्लमन्दी और न्यायप्रियता और शायद दूरदर्शिता का तकाज़ा यही है कि इन्सान को सन्देह का लाभ दिया जाए।

एक अच्छा स्कूल

यहाँ शायद डेनमार्क के नाय लिलस्कोल पर नज़र डालना उपयोगी होगा। यहाँ सच्चा शिक्षण हो सकता है क्योंकि यहाँ बच्चे वयस्कों के साथ स्वतंत्रता से मिलते-जुलते हैं। लिहाज़ा यह सम्बन्ध भयमुक्त और ईमानदार होता है। मेरी एक मित्र पेगी ह्यूज़ ने यहाँ दो साल काम किया था। उसने इसके बारे में एक फिल्म बनाई है। “वी हेव टु कॉल इट स्कूल” नामक यह फिल्म 30 मिनट की एक ब्लैक एण्ड व्हाइट फिल्म है। फिल्म के शुरू में ही एक शिक्षक बताता है, “हमें इसको स्कूल कहना पड़ता है। बच्चों को स्कूल जाना पड़ता है, और यदि हम इसे स्कूल न कहें तो वे यहाँ नहीं आ सकेंगे।” मगर यदि इस बात को छोड़ दें कि यह एक ऐसी जगह है जहाँ बच्चे स्कूल के समय पर आते हैं, तो किसी मायने में भी यह स्कूल जैसा नहीं है। यहाँ कोई “अध्यापन” नहीं होता। दरअसल यह एक करने की जगह है। यहाँ छः-सात साल से लेकर चौदह साल तक के करीब 85 बच्चे छः वयस्कों के साथ समय बिताते हैं। ये वयस्क इन बच्चों के साथ एक जीवन्त, दिलचस्प, खुशनुमा, सुरक्षित, विश्वासी, सहयोगी और मानवीय समुदाय के निर्माण हेतु काम करते हैं। इस समुदाय में बच्चे अपना जीवन उस तरह जीते हैं जैसा उन्हें ठीक लगे।

जैसा उन्हें ठीक लगे। इन शब्दों का अर्थ वही है जो लिखा है। इसमें शर्त यही है कि वे किसी दूसरे को चोट नहीं पहुँचाएँगे, और एक-दूसरे की या साझा सम्पत्ति को नष्ट नहीं करेंगे, और किसी को अनावश्यक नुकसान नहीं पहुँचाएँगे। इस मर्यादा – जो हम सब की भी होती है – के अलावा बच्चे जो चाहें, जिसके साथ चाहें और जब तक चाहें करते हैं। यह पूरे समय होता है। शिक्षकों का काम होता है कि ऐसी जगह उपलब्ध कराएँ और उसकी देखरेख करें जहाँ बच्चे यह सब कर सकें; करने के लिए कुछ रोचक चीज़ें सोचकर रखें व इनके लिए सामग्री, औज़ार वगैरह साधन

उपलब्ध कराएँ; अपनी तमाम प्रतिभाओं और कुशलताओं का उपयोग करें, उन्हें बाँटें; बच्चे जो कुछ करना चाहें, उसमें मदद करें; और आम तौर पर बच्चों की पहुँच में रहें ताकि वे चाहें तो प्रश्न पूछ सकें या सिर्फ बातें कर सकें और साथ बैठ सकें। किन्तु शिक्षक वहाँ “अपनी वयस्क ज़िम्मेदारी निभाने” के लिए अर्थात् बच्चों को संकेत देकर, या धकेलकर, या प्रलोभन देकर, या धमकाकर, या लुभाकर कोई ऐसा काम करवाने के लिए नहीं होते जो उन्होंने या किसी अन्य ने तय किया है कि बच्चों के भले के लिए है। किसी “मुक्त” ब्रिटिश प्राथमिक स्कूल या उसके अमरीकी संस्करण के शिक्षक की भाँति वे बच्चों से नहीं कहते कि “चलो, शुरू हो जाओ”, यानी किसी ऐसे काम में भिड़ जाओ जो मेरे ख्याल में उपयोगी है।

स्कूल में लगभग कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे अधिकांश लोग शैक्षिक कार्यक्रम कहेंगे। यहाँ कोई विषय नहीं है, कोई कोर्स नहीं है, कोई कक्षा नहीं है, और कोई ऐसा रास्ता नहीं है जिस पर “बच्चे अपनी-अपनी गति से आगे बढ़ें”; कोई पाठ्य पुस्तक या परीक्षा नहीं है, कोई अंक या ग्रेड या किसी भी तरह का रिपोर्ट कार्ड या कोई रिपोर्ट नहीं है। यहाँ कोई पालक सम्मेलन भी नहीं होता; हाँ, कोई पालक – चिन्तित या वैसे ही – कभी-कभार आकर बात करना चाहे तो बात अलग है। और, जैसा कि मैंने कहा था, बच्चों पर पढ़ने का *किसी तरह का* कोई दबाव नहीं है। “यह कितना अच्छा विचार है” या “तुम्हें नहीं लगता कि समय आ गया है” नुमा बातें भी यहाँ नहीं हैं। ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ वैसे भी कुछ नहीं है जो कई मुक्त या वैकल्पिक स्कूलों में खूब नज़र आता है – पालकों और अन्य वयस्कों पर रौब डालने के लिए बच्चों द्वारा किए गए काम का शिक्षकों द्वारा प्रदर्शन। आगन्तुकों को बच्चों के लेखन, या चित्रकला, या पॉटरी या विज्ञान प्रोजेक्टों के चुने हुए शानदार नमूने नहीं दिखाए जाते। न ही स्कूल नाटक, नृत्य, तमाशे वगैरह करके दुनिया को यह दिखाने का प्रयास करता है कि देखो बच्चे कितने सृजनात्मक हैं।

इसके विपरीत, मैं एक अमरीकी स्कूल के बारे में सोचता हूँ जो *मेरी कसौटी* पर शायद देश के सर्वोच्च एक-दो फीसदी स्कूलों में होगा। स्कूल के एक बुलेटिन में स्कूल के दयालु व बुद्धिमान मुखिया बताते हैं कि बच्चों को कितनी यात्राओं पर ले जाया गया – कभी किसी नाव को खाली होते देखने, कभी कोई वॉटर वर्क्स देखने, तो कभी रेल्वे स्टेशन पर किसी व्यक्ति से साक्षात्कार करने के लिए। इसके बाद वे लिखते हैं:

[इन यात्राओं] से संकलित तथ्य गौरतलब हैं, हालाँकि देखने वालों को लगता है कि इनमें मात्र मज़ा है। दरअसल, एक पिता ने ट्रेन की सवारी पर आपत्ति करते हुए शिकायत की थी, “हमारा परिवार इस इलाके में कई यात्राएँ करता है, और मुझे लगता है कि स्कूल को कोई बेहतर काम करना चाहिए।” मगर जब उन्होंने बच्चों की योजना सुनी, साक्षात्कार के लिए उनके द्वारा बनाए गए प्रश्न देखे, और उस यात्रा का विवरण देखा तो वे बात को ज़्यादा समझ पाए। अन्य यात्राओं के दौरान इस इलाके में ज़मीन और पानी के सम्बन्ध को तलाशा गया। इसका एक परिणाम कागज़ की लुगदी से बने एक छः फुट के नक्शे के रूप में सामने आया। यह बात अपने आप में नक्शे से भी ज़्यादा दिलचस्प साबित हुई क्योंकि इसके लिए जगह ढूँढना पड़ी और घिरनियों की मदद से इसे छत पर टाँगना पड़ा। [इस उद्धरण में कुछ शब्दों पर जोर मैंने दिया है – होल्ट]

किन्तु उस नक्शे का विचार किसका था, वास्तव में किसने इस प्रोजेक्ट की योजना बनाई, किसने प्रश्नों की सूची तैयार की?

इन यात्राओं का परिणाम [इस शब्द पर जोर मैंने दिया है – होल्ट] नक्शों, मौखिक रिपोर्टों, चित्रों, रेखाचित्रों, कहानियों, और यहाँ तक कि नृत्यों के रूप में था। मैं बच्चों की इस क्षमता पर दाँतों तले उँगलियाँ दबा लेता हूँ कि उन्होंने जो कुछ देखा उसे वे एक बाल सूत्रधार के साथ और विभिन्न प्रक्रियाओं को दर्शाती कलाबाज़ियों और चक्करों व संगीत के साथ नृत्य रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, कि वे — का नृत्य इतने सजीव रूप में याद रख सकते हैं। इन आयोजनों में वे जो कुछ कहने की कोशिश कर रहे थे, उसे संगीत शिक्षक ने संगीत में भी उभार दिया था।

“परिणाम”। हमेशा यह क्यों ज़रूरी है कि कोई “परिणाम” हो। जब मैं अपनी रुचि की कोई चीज़ देखने जाता हूँ, तो उसके बाद हर बार मैं नाचता नहीं या कागज़ की लुगदी से छः फुट का नक्शा बनाकर छत पर नहीं टाँगता। मैं खुद तय कर सकता हूँ कि अपने किसी भी अनुभव का मैं क्या परिणाम चाहता हूँ, वह भी यदि मैं कोई परिणाम चाहूँ तो। उससे भी बड़ी बात यह है कि मैं इन्तज़ार कर सकता हूँ कि परिणाम स्वयं प्रकट होगा। इसमें समय लगता है, कभी-कभी बरसों लग जाते हैं, और उस स्थिति में तो यह बिल्कुल नहीं होता जब “सृजनशील शिक्षक” हाथ धोकर इसके पीछे पड़े हों। मैंने ऐसे स्कूलों में पढ़ाया है, और मैं जानता हूँ कि ये

परिणाम कैसे हासिल किए जाते हैं, कि शंकालु पालकों को खुश करने के चक्कर में शिक्षक कैसे “सहजता से वह उभार लेते हैं जो बच्चे कहना चाहते हैं।” स्कूल का मुखिया कहता है कि वह बच्चों की इस क्षमता पर “दाँतों तले उँगलियाँ दबा लेता है” कि कैसे वे इस या उस चीज़ को नृत्य में पेश कर देते हैं। लगभग उतने ही यकीन से यह भी कहा जा सकता है कि बच्चे भी उनका दाँतों तले उँगलियाँ दबाना देखने से नहीं चूकते होंगे। ऐसे स्कूलों में बच्चों को यह समझते देर नहीं लगती कि शिक्षक किन बातों पर दंग रह जाते हैं और चाहते हैं कि बच्चे उन्हें करें। उन्हें यह सीखते भी देर नहीं लगती कि क्या करने से शाबाशी मिलेगी, मुस्कान, तारीफ़, इनाम और अच्छी रिपोर्ट मिलेगी। और इन्हें न करने या करने में अरुचि भर दिखाने का मतलब होगा स्नेह के दायरे से बाहर अन्धकार में धकेल दिया जाना। नाय लिलस्कोल में ऐसा कुछ नहीं है।

इस तरह की जगह को देखकर ही जाना जा सकता है कि यह कैसी है। वयस्क और बच्चे, “मुक्त” स्कूलों में भी, जो खेल खेलते हैं – वयस्कों को यह चिन्ता होती है कि बच्चों से अपनी मर्जी का काम कैसे करवाएँ, वे यह काम पर्याप्त मात्रा में कर रहे हैं या नहीं, और बच्चे इस बात पर चिन्तित होते हैं कि इसे करें या मना कर दें – उसके हम इतने आदी हैं कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि वह जगह कैसी होगी जहाँ यह खेल नहीं खेला जाता। नाय लिलस्कोल देखने के बाद मैं अधिकांश स्कूलों को बर्दाश्त नहीं कर सकता। उन स्कूलों को भी नहीं जिन्हें कुछ वर्षों पहले शायद मैं अच्छा मान लेता। उन स्कूलों में अक्सर जिन बनावटी, सावधान, नियंत्रित, चोट्टे, दब्बू, कुत्सित, और खिन्न या विमोही बच्चों को देखता हूँ, उनके और नाय लिलस्कोल के स्वाभाविक, प्राकृतिक, दबंग, जीवन्त, निश्छल, खुले और ईमानदार बच्चों के बीच ज़मीन-आसमान का अन्तर है। मुझे अधिकांश बच्चे अच्छे लगते हैं, मुझे उनके आसपास रहना अच्छा लगता है, मगर उनसे किसी स्कूल में मिलने से तो अच्छा होगा कि न मिलूँ।

एक पूरी किताब लिखकर भी नहीं बताया जा सकता कि नाय लिलस्कोल में क्या होता है, बच्चे वहाँ क्या करते हैं, या कैसे वहाँ का जीवन उनमें परिवर्तन करता है, उन्हें मज़बूत बनाता है। कोई दो बच्चे एक ही काम नहीं करते, और न ही कोई दो दिन एक-से होते हैं। मैं उम्मीद करता हूँ कि कभी कोई इसके बारे में किताब लिखेगा। यहाँ बताने का मुद्दा यह है कि यह स्कूल चल रहा है। यहाँ तक कि संकीर्ण शैक्षिक मापदण्डों,

जिनकी चिन्ता और परवाह पालकों व शिक्षकों को होती है, के पैमाने पर भी यह स्कूल बहुत सफल है। यहाँ आने वाले बच्चों का चयन आइ.क्यू. अथवा शैक्षिक प्रतिभा के आधार पर नहीं किया जाता। प्रवेश पाने के लिए कोई टेस्ट वगैरह नहीं है। कम से कम कुछ बच्चे अन्य स्कूलों से आए हैं जहाँ उनका स्कूली कार्य काफी खराब था। इसके बावजूद नाय लिलस्कोल से निकले लगभग सभी बच्चे जिम्नेज़ियम गए हैं, जो एक निहायत कठिन व रूढ़िगत शैक्षिक हाई स्कूल है। यहाँ इन बच्चों का प्रदर्शन अच्छा रहा है। बड़े होकर लगभग सभी ने उच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त किया है – उस देश में जहाँ मात्र पाँच फीसदी युवा ही ऐसा प्रशिक्षण लेते हैं। मेरी जानकारी में कहीं भी, अभिजात्य या कठोर, कोई ऐसा स्कूल नहीं है जिसका प्रदर्शन इतना अच्छा रहा हो।

यह दावा तो कोई नहीं करेगा कि ये बच्चे या इनके परिवार डेनमार्क की आबादी के विभिन्न तबकों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। अधिकांश अमरीकियों की तरह अधिकांश डेनमार्कवासी भी अपने बच्चों को ऐसे स्कूल में भेजने की नहीं सोचेंगे। नाय लिलस्कोल के पालकों में बाकी जो भी समानता-असमानता हो, एक मामले में वे एक समान हैं। *वे अपने बच्चों पर भरोसा करते हैं।* यदि न करते तो अपने बच्चों को ऐसे स्कूल में न भेजते। इस मायने में ये पालक, और इसलिए उनके बच्चे, असाधारण हैं। मगर यही तो मेरा कहना है, कि दुनिया के बारे में जानने को लेकर हम अपने बच्चों पर भरोसा कर सकते हैं, और जब भरोसा किया जाता है तो वे *जान* लेते हैं।

एक विवरण

बैग्सवेयर्ड कोपेनहेगन का एक छोटा, मध्यम वर्गीय उपनगर है। स्कूल एक ऐसे इलाके और ऐसी सड़क पर है जो हल्के औद्योगिक उपयोग के लिए चिन्हित है। जैसा कि डेनमार्क में आम तौर पर होता है, यह इलाका एक आवासीय बस्ती के पास है और बीच में थोड़ा-सा जंगल है। बच्चों को यहाँ खेलना अच्छा लगता है। स्कूल एक चार-मंजिली इमारत की पहली मंजिल पर है (अब शहर को यह इमारत किसी और काम के लिए चाहिए, इसलिए स्कूल को कोई अन्य जगह ढूँढनी होगी।) स्कूल का प्रमुख कमरा इसकी कुल जगह में से दो-तिहाई भाग में है। यह कमरा लम्बा और पतला-सा है और इसमें दोनों तरफ खिड़कियाँ हैं। चूँकि यह कमरा औद्योगिक उपयोग के लिए बनाया गया था, इसलिए खिड़कियाँ फर्श से

चार-पाँच फुट ऊपर हैं, और बाहर देखने के लिए बच्चों को ऊपर चढ़ना पड़ता है। मगर इससे कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ता क्योंकि बाहर देखने को वैसे ही और इमारतें भर हैं। इस मुख्य जगह के अलावा एक छोटा-सा 'जिम' है, एक सिरे पर एक छोटा कमरा है जहाँ स्कूल की आम बैठकें होती हैं, और दूसरे सिरे पर शौचालय के अलावा दो छोटे कमरे हैं जिनमें से एक का उपयोग मुख्यतः संगीत के लिए होता है। मुख्य जगह के अन्त में एक कार्यशाला है। शेष जगह को बीयर के दो हज़ार लकड़ी के खोकों से पार्टीशन बनाकर छोटे-छोटे हिस्सों में बाँट दिया गया है। ये खोके स्कूल को एक शराब कारखाने से मुफ्त मिल गए थे क्योंकि वह कारखाना प्लास्टिक के खोकों का इस्तेमाल करने लगा था। स्कूल में सबसे पहले नज़र इन्हीं गहरे हरे रंग के बीयर के खोकों पर जाती है जिन पर ØL (बीयर) लिखा है, और इनका उपयोग पार्टीशन, मेज़, कुर्सी, किताब की अलमारी वगैरह की तरह किया जाता है। जल्दी ही ये परिचित, स्वाभाविक और उपयुक्त लगने लगते हैं। सरल, मज़बूत, सस्ते और सौम्य, कुछ हद तक ये स्कूल की भावना को व्यक्त करते हैं। मैं तो इनके बिना इस स्कूल की कल्पना भी नहीं कर सकता।

स्कूल बहुत ही सादगी व किफायती ढंग से सुसज्जित है। यदि इस स्कूल के पास उपलब्ध उपकरणों के साथ काम करना पड़े तो अधिकांश अमरीकी, ब्रिटिश या डेनिश स्कूल शिक्षक या प्रशासक स्वयं को अत्यन्त वंचित समझेंगे। दफ्तर में एक टाइप राइटर (इलेक्ट्रिक नहीं), एक टेप रिकॉर्डर, और एक डुप्लीकेटर है। मुख्य कमरे में एक रेफ्रिजरेटर और एक छोटा स्टोव है, जिस पर कभी-कभार बच्चे कुछ पका लेते हैं। वैसे आम तौर पर वे ओपन फेस्ड सैण्डविच का सामान्य डेनिश लंच खाते हैं। पुस्तकों का एक बहुत छोटा मगर अच्छा संग्रह भी है। कार्यशाला में बर्दईगिरी के साधारण औज़ार हैं, धातुओं को गर्म करके ढालने के कुछ औज़ार हैं, और एक ऑक्सी-एसीटिलीन उपकरण है जिससे धातुओं को काटा व जोड़ा जा सकता है। खेल और पहेलियों का एक छोटा-सा संग्रह भी है। कुछ किताबें और पाठ्य पुस्तकें विज्ञान व गणित की ज़रूर हैं, मगर गणित या विज्ञान के उपकरण या गणित प्रयोगशाला कहलाने लायक चीज़ें बहुत कम हैं, ऐसे विज्ञान उपकरण जिन्हें अधिकांश ब्रिटिश या अमरीकी प्राथमिक स्कूल अनिवार्य मानते हैं। कला उपकरण भी बहुत कम हैं; वहाँ कोई मिट्टी या ईज़ल या रंग वगैरह देखने या बच्चों को ऐसी किसी चीज़ का इस्तेमाल करते देखने की मुझे याद नहीं। मगर स्कूल में

कई सारे चिह्न और अन्य चीज़ें थीं जिन्हें बच्चों ने ही पेंट किया था; अर्थात् वहाँ आसपास कहीं रंग था या वे जब चाहे इसे प्राप्त कर सकते थे। एक-दो हैण्डलूम और एक सिलाई मशीन भी थी। पिछली बार मैंने वहाँ कई पक्षी और जानवर भी देखे थे। इस बार जब मैं वहाँ गया तो वे जा चुके थे और उनकी जगह कई तरह की ऊष्णप्रदेशीय मछलियों ने ले ली थी। इन मछलियों को जिन टंकियों में रखा था उन्हें बच्चों ने ही बनाया था या बनाने में मदद की थी। कुछ बच्चे तो घण्टों इन मछलियों को देखते रहते। स्कूल में फुटबॉल, कूदने की रस्सियाँ, और खेलकूद के कुछ अन्य उपकरण थे। जिम में एक कलाबाज़ी की चटाई थी। संगीत कक्ष में एक जोड़-तोड़ कर खड़ा किया गया पियानो था, कुछ (एक्यूस्टिक व इलेक्ट्रिक) गिटार थे, एक शिक्षक द्वारा बनाई गई एक सारंगी थी और नाना आकार के ड्रम थे।

यह फेहरिस्त पूरी नहीं है। ऐसी कुछ चीज़ें हो सकती हैं जो मैंने देखी नहीं या जिनके बारे में मैं जानता नहीं था। जो कुछ मैंने देखा, उसके बारे में तीन बातें कहना लाज़मी है। पहली कि स्कूल में ऐसी सामग्री और उपकरण बहुत कम थे जो हमें रूढ़िगत प्राथमिक स्कूल या मुक्त कक्षा में देखने को मिलते हैं। दूसरी बात यह है कि जो भी सामान वहाँ था वह बच्चों के उपयोग के लिए था; आम अमरीकी स्कूल में जैसे ताले में बन्द दृश्य-श्रव्य उपकरण दिखते हैं, या पुस्तकालय से किताब निकलवाने की जैसी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया होती है, वह सब यहाँ नहीं था। और तीसरी व शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि कोई व्यक्ति बच्चों के लिए ऐसा करने का स्थान बनाना चाहे तो इसे साज़ो-सामान से लैस करने में उसे ज़्यादा खर्च नहीं करना पड़ेगा। बच्चों को बहुत सारी तड़क-भड़क वाली चीज़ों की ज़रूरत नहीं होती। शुरू-शुरू में बच्चों को गणित प्रयोगशाला या विज्ञान प्रयोगशालाएँ शायद इसलिए इतनी पसन्द आई थीं कि ये रूढ़िगत स्कूल कार्य यानी शिक्षक को सुनने, वर्कबुकें भरने वगैरह से कहीं बेहतर थीं। मगर यदि सचमुच ढेर सारे विकल्प हों तो शायद ही कोई बच्चा गणित प्रयोगशाला में समय बिताना या मुर्गी की हड्डियाँ जोड़ना पसन्द करेगा।

सच कहूँ तो इस स्कूल में बहुत ज़्यादा उपकरण न होने का एक कारण यह भी है कि इसके पास बहुत पैसे नहीं हैं। यदि पैसा हो तो कुछ चीज़ें तो ज़रूर ऐसी हैं जिन्हें स्कूल बच्चों व शिक्षकों के लिए खरीदना चाहेगा। इसके अलावा ये शिक्षक और बच्चे इतने जुगाडु हैं कि जब वे फैसला करते हैं कि किसी चीज़ की उन्हें ज़रूरत है, तो उसे उधार ले आएँगे, या

जोड़-तोड़ करके बना लेंगे या सस्ते में खरीद लाएँगे। और आखिरी बात यह कि यदि स्कूल के पास कहीं अधिक पैसा हुआ और बच्चे व शिक्षक साथ बैठकर सोचेंगे, जैसे कि वे अभी करते हैं, कि इसे कैसे खर्च करना है तो शायद वे सामग्री की बनिस्बत किसी ज़्यादा रोचक चीज़ पर सहमत होंगे। फिलहाल स्कूल के छात्र कोपनहेगन और उसके आसपास और काफी दूर-दूर कई यात्राएँ करते हैं – छात्रों के एक समूह ने तो स्वीडन की पदयात्रा भी की थी। ज़्यादा पैसा होने पर शायद वे ऐसी कई और यात्राएँ करें।

दो शब्द उपस्थिति को लेकर। कई अन्य जगहों की तरह ही डेनमार्क में भी बच्चों को कानूनन स्कूल जाना ही होता है। हो सकता है कि डेनमार्क में ऐसे स्थान या ऐसे स्कूल हों जहाँ इस कानून का पालन उतनी ही कठोरता से होता है जितना अमरीका में। इस स्कूल में ऐसा नहीं होता। स्कूल में उपस्थिति का रिकॉर्ड ज़रूर रखा जाता है। मगर इसका मतलब यह नहीं है कि यहाँ हाज़िरी ली जाती है या सब बच्चों को किसी निश्चित समय पर स्कूल पहुँचना होता है। किन्तु यह शिक्षकों का दायित्व है कि प्रतिदिन वे यह नोट करें कि कौन स्कूल आया और कौन नहीं। अलबत्ता इसके कारण कोई बड़ी चिन्ता पैदा नहीं होती; घर पर फोन करना या ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की जाती। लोग मानकर चलते हैं कि यदि कोई बच्चा स्कूल नहीं आया है तो कोई उचित कारण होगा और वह जहाँ भी है वहाँ कुछ अच्छा ही कर रहा होगा। इसके अलावा यह स्कूल इतना अन्तरंग और खुला समुदाय है कि यदि कोई बच्चा स्कूल नहीं आया है, तो किसी न किसी को ज़रूर मालूम होगा कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है। या यदि कोई बच्चा एक-दो दिन स्कूल नहीं आता, तो पक्की बात है कि जब वह आएगा तब कई लोगों को बताएगा कि वह क्या कर रहा था। ऐसा तो कभी-कभार ही होता है कि कोई बच्चा एक-दो दिन से ज़्यादा स्कूल न आए और किसी को पता न हो कि वह क्यों नहीं आ रहा है। ऐसा होने पर शायद शिक्षक छानबीन करने लगेंगे। एक बार जब एक बच्चा कई दिनों तक स्कूल नहीं आया तो वे सोचने लगे कि उसे कैसे वापिस लाएँ। मगर बच्चों को झूट है कि यदि उन्हें लगता है कि उनके पास उचित कारण है, तो स्कूल न आएँ। उन्हें अनुमति लेने की ज़रूरत नहीं है, और न ही वापिस आने पर उन्हें अपनी गैर-हाज़िरी का कारण बताना पड़ता है। उन्हें किसी के सामने यह साबित नहीं करना पड़ता कि जब वे स्कूल नहीं आए थे तब उन्होंने अपना समय किसी अच्छे काम में लगाया

था। वर्क स्टडी कार्यक्रम में शामिल अमरीकी कॉलेज छात्रों की तरह वापिस आकर उन्हें एक पर्चा नहीं लिखना पड़ता कि गैर-हाज़िरी के दौरान उन्होंने क्या किया।

इस स्कूल में मैं हर बार वसन्त में, मई के मध्य या अन्त में गया हूँ। लम्बे स्याह जाड़ों के बाद जब सूरज निकलता है तो स्कैंडिनेवियन लोग धूप में निकलना पसन्द करते हैं। वर्ष के इस हिस्से में किसी भी दिन शायद लगभग आधे बच्चे स्कूल न आएँ। जाड़ों में शायद सारे बच्चे स्कूल में दिखें। वे करते क्या हैं? मैंने जो कुछ देखा है, उसमें से कुछेक चीज़ें ही बताऊँगा। इससे उस स्कूल की भावना तथा वहाँ होने वाली चीज़ों की व्यापकता और विविधता का कुछ एहसास मिल सकेगा। कुछ चीज़ें सारे बच्चे मिलकर करते हैं। दो वर्ष पहले, स्कूल की बैठक में काफी चर्चा के बाद, उन्होंने तय किया कि वे सामूहिक लंच करेंगे। इसके लिए कुछ राशि रखी जाएगी, कुछ बच्चे भोजन सामग्री खरीदेंगे, कुछ बच्चे इसे तैयार करेंगे – ब्रेड व माँस की स्लाइस काटना, कुछ डिब्बे खोलना वगैरह – और परोसेंगे, और सब लोग एक साथ खाएँगे। यही होता है। यह बहुत ही जीवन्त, शोर भरा, दोस्ताना नज़ारा होता है।

एक और गतिविधि स्कूल की बैठक है। इसमें शिक्षक और बच्चे भाग लेते हैं, सब बोल सकते हैं, सब वोट दे सकते हैं, सबका वोट बराबर होता है। नील बताया करते थे कि समरहिल की आम बैठकों में बारह वर्ष से छोटे बच्चे कभी-कभार ही सक्रियता से भाग लेते थे। यहाँ ऐसा नहीं है; छोटे बच्चे कई बार बोलते हैं। स्कूल कोशिश करता है कि फैसले गुप्त वोट के आधार पर न हों; आम तौर पर लोग ऐसे समाधान की तलाश करते हैं जिस पर सब या लगभग सब राज़ी हों। यहाँ व्यक्तिगत सम्बन्धों और समस्याओं की बात हो सकती है, जैसे कोई किसी को चिढ़ाता या तंग करता है। या स्कूल नीति के बारे में बात हो सकती है। और इस मामले में वे समरहिल से आगे हैं – वे इस पर भी बात करते हैं कि पैसा कैसे खर्च किया जाए।

एक चीज़ जिस पर वे बार-बार बात करते हैं वह है स्कूल की जमावट, मुख्य कमरे को छोटी-छोटी कामकाजी जगहों में जिस तरह बाँटा गया है। इसमें कई बैठकें लग सकती हैं। कोई पूछेगा कि उन्हें वर्तमान जमावट क्यों पसन्द नहीं है। बच्चे नाप-जोख करके नई जमावट का खाका बनाने लगेंगे। धीरे-धीरे, बैठक में नई जमावट का फैसला हो जाएगा। तब

ज़ोरदार सरगर्मियाँ शुरू हो जाएँगी; नौसेना में हम लोग इसे “एन ऑल-हैंड्स इवॉल्यूशन” कहा करते थे। सारी किताबों और उपकरणों को खोकों के ऊपर से या खोकों में से बाहर निकाला जाएगा, फर्नीचर को सरकाया जाएगा। हो सकता है कि स्कूल की ज़ोरदार सफाई हो। फिर बीयर के सारे खोकों को नई योजना के अनुसार जमाया जाएगा, फर्नीचर को फिर से लगाया जाएगा, किताबें और उपकरण जमाए जाएँगे। यह बहुत बड़ा काम है और बच्चों को इसमें बहुत मज़ा आता है। इस समय बहुत जोश होता है। बरसों पहले मैंने कुछ युवा वास्तुकारों से कहा था कि एक आदर्श स्कूल कभी पूरा नहीं होगा, ताकि बच्चे उसे निरन्तर पुनः डिज़ाइन करते रह सकें, पुनः निर्मित करते रह सकें। नाय लिलस्कोल ऐसा ही स्कूल है।

स्कूल के रोज़ाना के ढर्रे का एक महत्वपूर्ण काम सुबह का व्यायाम-गति-नृत्य का सत्र है। स्कूल का जिम स्क्वैश या हैंडबॉल के मैदान से थोड़ा बड़ा, नीची छत वाला एक कमरा है। उपकरण के नाम पर यहाँ एक कलाबाज़ी की चटाई और एक कोंगो ड्रम है। रोज़ाना सुबह एक शिक्षक, जो कुशल संगीतज्ञ और नर्तक है, और अधिकांश बच्चे जिम में मिलते हैं। शिक्षक ड्रम पर एक तेज़ और जोशीली ताल बजाना शुरू करता है, और बच्चे उछलने, कूदने, नाचने लगते हैं। दो सत्र कभी एक-से नहीं होते। क्रियाएँ उसी समय सोचकर की जाती हैं और एक क्रिया में से दूसरी निकलती है। बच्चे प्रायः वही गतियाँ करते हैं जो वे पहले कर चुके हैं, कुछ क्रियाएँ उन्हें अन्य की बनिस्बत ज़्यादा भाती हैं। मगर आगे बढ़ते हुए वे और शिक्षक मिलकर नई-नई क्रियाएँ गढ़ते हैं, जोशीली, सुरुचिपूर्ण, कुशलतापूर्ण। नई ताल से नई क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी कोई बच्चा ड्रम बजाता है या एक ड्रम को बच्चा और दूसरे को शिक्षक बजाता है। इस दृश्य के लालित्य, आह्लाद और ऊर्जा को शब्दों में व्यक्त करना असम्भव है। मैंने इसकी टक्कर की कोई चीज़ कभी नहीं देखी। यह काफी देर तक चलता है। अधिकांश बच्चे काफी तन्दुरुस्त और ऊर्जावान हैं, वे अपना काफी सारा उफान यहाँ खर्च कर देते हैं, मगर सारा नहीं। हालाँकि स्कूल में शान्त, खामोश, चिन्तनशील दिन और समय भी होते हैं, मगर ज़्यादातर समय बच्चे काफी मिलनसार, बातूनी, सक्रिय और उपद्रवी होते हैं; एक अमरीकी स्कूल में इससे कहीं कम सक्रिय बच्चों को “अति-सक्रिय” घोषित करके दवाइयों पर रखा जाता है। नृत्य का यह सत्र इस स्कूल का एकमात्र संगठित एथलेटिक संसाधन व गतिविधि है। कई बड़े बच्चों को सॉकर खेलना अच्छा लगता है, वे बड़ा खिलाड़ी बनने के सपने

देखते हैं। उनके लिए एक पार्क में एक सॉकर मैदान है। यह स्कूल से पैदल दस मिनट की दूरी पर है। बच्चे अक्सर वहाँ जाकर खेलते हैं।

वेल्लिंग उपकरण आने से पहले स्कूल के पास एक बुंसेन बर्नर था। एक दिन तीन-चार बच्चे करीब एक घण्टे उसके इर्द-गिर्द बैठे थे। मैं भी उनके साथ था। हम सबके पास एक-एक प्लायर था जिसमें एक-एक कील को पकड़कर उसे हम लौ में गर्म कर रहे थे। जिसकी कील रक्त-तप्त होकर मुलायम पड़ जाती, वह इसे बाहर निकाल लेता और इसे ठोंकता-पीटता। हममें से अधिकांश तो कील को निकालकर उसे एक रेल की पटरी के टुकड़े पर रखकर हथौड़ी से पीटते। मैंने अपनी कील से एक मूर्ति बनाने की कोशिश की और यह देखने की कोशिश की कि क्या मैं दो गर्म कीलों को जोड़ सकता हूँ (नहीं जोड़ पाया)। एक छः-सात साल का लड़का था, स्कूल में नया आया था। वह एक ही काम बार-बार करता रहा। वह अपनी कील को रक्त-तप्त करके लकड़ी के एक टुकड़े में धँसा देता, लकड़ी में से धुआँ निकलता और वह काली पड़ जाती। यदि कोई उसकी कील को धक्का मारता या लौ का बहुत ज़्यादा हिस्सा घेरता तो वह खूब ज़ोर से चिंघाड़ता था। पता नहीं दूसरे बच्चे डरे या नहीं, मगर मैं तो डर गया था। मैंने किसी बच्चे में इतनी हिंसा और रोष नहीं देखा। मुझे यह सोचने में भी डर लगता है कि अपनी कील को लकड़ी में धँसाते हुए वह क्या सोचता होगा। हमारी यही एक मुलाकात हुई। दो साल बाद जब मैं अगली बार स्कूल गया तो वह एक शान्तिप्रिय, दयालु, खुश बच्चा था – और वह स्कूल का सबसे कुशल वेल्डर और धातुकर्मी भी था। मुझे यह जानकर आश्चर्य और खुशी हुई कि उसे मेरी याद थी, और वह भी एक दोस्त के रूप में।

संगीत कक्ष। एक शिक्षक, जो एक संगीतज्ञ और दक्ष जैज़ पियानो वादक था, एक बच्चे को बता रहा था कि इलेक्ट्रिक गिटार पर एक जैज़ कॉर्ड सरगम कैसे बजाते हैं। उसने बताया, करके दिखाया, और वे साथ-साथ बजाते रहे। दो छोटे बच्चे कोंगो ड्रम लेकर उनके साथ जुड़ गए। प्रेरणा देने की बात तो दूर, वे तो ठीक से लय-ताल भी नहीं मिला पा रहे थे। मगर किसी ने यह नहीं कहा कि वे बस करें। किसी ने चिढ़कर उन्हें घूरा नहीं, हवा में ऐसा कोई एहसास नहीं था कि “देखते नहीं हम काम कर रहे हैं”। मेरी ही तरह कक्षा में दो-तीन बच्चे और थे, बस देख रहे थे। यदा-कदा जब पियानो और गिटार रवानी पर आते तो मैं थोड़ा ब्लूस सोलो गुनगुनाता; ऐसा करना मुझे अच्छा लगता है। एक बच्चा खिड़की में चढ़कर बैठ गया और बाहर देखने लगा। लोग हुनर व एकाग्रता के

अलग-अलग स्तर पर भाग ले रहे थे और सबको छूट थी। जैसा कि श्रीमती स्टालिब्रास ने उचित ही लिखा है (परिशिष्ट ख देखें): “देखना एक महत्वपूर्ण गतिविधि है; देखने की बच्चे की ज़रूरत का सम्मान किया जाना चाहिए, और अन्य लोगों को देखने में एकाग्रता से उसका ध्यान नहीं बँटाना चाहिए, या उसे ‘उद्दीप्त’ नहीं करना चाहिए। ...कुछ बच्चों को खुद कोई चीज़ करने से पहले दूसरों को करते देखना अच्छा लगता है; उसे करने से पहले वे सोचना चाहते हैं, गौर करना चाहते हैं।” नाय लिलस्कोल में सब इस बात को समझते हैं।

बैठक के कमरे में कोई फर्नीचर नहीं है। बैठक के दौरान लोग एक तरफ लगे कालीनदार तख्तों पर बैठ जाते हैं। अन्यथा यह कमरा आम तौर पर खाली रहता है। करीब चौदह वर्ष की एक लड़की कई दिनों तक रोज़ाना एकाध घण्टे टेनिस की गेंद को दीवार पर मारकर वापिस झेलती रहती थी। वह देखना चाहती थी कि बगैर चूके वह कितनी बार ऐसा कर सकती है; आम तौर पर वह बीस से चालीस बार तक ऐसा कर लेती थी। इसी प्रकार से छः लड़कियों का एक दल – सबसे छोटी शायद आठ वर्ष की रही होगी और सबसे बड़ी करीब बारह की – वहाँ रस्सी कूदता था। वे अलग-अलग नियमों और जोड़ियों में, और काफी गम्भीरता व एकाग्रता से कई दिनों तक रोज़ाना एकाध घण्टे रस्सी कूदती थीं।

एक छोटा लड़का स्कूल में नया आया था, वह हिंसा और रोष से भरा था। वह एक ऐसे दल में था जिसे बच्चे खुद ही “आतंकवादी” कहते थे (उनमें से कुछ तो खुद भी यही रहे होंगे)। वह एक कार्ड बोर्ड के डिब्बे को पीटते-पीटते एक दस वर्षीय लड़की को आँख में मारकर भाग गया, पलटकर देखा तक नहीं कि उसने क्या किया है। मारा इतनी ज़ोर से था कि चोट लगी थी। लड़की आँख को हाथ से ढँककर दर्द से दोहरी हो गई। अन्य बच्चों और कम से कम एक शिक्षक ने यह देखा। सबने उससे पूछा कि क्या वह ठीक-ठाक है, उसे दिलासा दिया, हमदर्दी जताई। इसके अलावा कुछ नहीं हुआ। लगभग किसी भी अन्य स्कूल में लड़की आसमान सिर पर उठा लेती, अन्य बच्चे शिक्षक को बताकर माँग करते कि वे कुछ करें, और शायद छोटे बच्चे को खींचकर स्कूल में लाया जाता, माफ़ी माँगवाई जाती और शायद सज़ा दी जाती। यहाँ वयस्कों, बच्चों और यहाँ तक कि उस लड़की ने भी महसूस किया कि इस छोटे ऊधमी बच्चे ने जान-बूझकर लड़की को चोट नहीं पहुँचाई है। शायद वह वैसे ही डर गया है और शर्मिन्दा है। तो उसे और सज़ा क्यों दी जाए या और शर्मिन्दा क्यों किया

जाए? शायद वह पहले ही यह महसूस कर रहा है कि वह बुरा है। तब उसे और यह क्यों महसूस कराया जाए कि वह बुरा है, जबकि शायद इसी एहसास की वजह से उसने यह करतूत की है। इसकी बजाय क्यों न उसे यह महसूस कराया जाए कि इस जगह पर उसे सदा यह चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है कि लोग उसके बारे में फैसले करेंगे या उसे सज़ा देंगे? यह स्कूल इसी तरह से अपने आतंकवादियों को सभ्य बनाता है, भाषण पिलाकर या सज़ा देकर नहीं। बड़े लोग बच्चों के साथ धैर्य, विश्वास और क्षमा का भाव रखते हैं और समय के साथ बच्चे भी एक-दूसरे के साथ ऐसा ही व्यवहार करने लगते हैं। ऐसा नहीं है कि वे चिल्लाते नहीं या धक्का नहीं देते, या कोई उनका सैंडविच ले ले या उनके काम की कोई चीज़ उठा ले तो लड़ते नहीं। वे एक-दूसरे से चिढ़ भी जाते हैं, किन्तु अन्य स्कूलों की तरह वे हमेशा प्रलाप नहीं करते, शिक्षक को अपने पक्ष में खड़ा करने के प्रयास नहीं करते, और वे एक-दूसरे से बैर नहीं पालते और न ही बहुत देर तक नाराज़ रहते हैं।

यह क्योंकर चलता है

इससे शायद कुछ हद तक यह समझ में आने लगेगा कि यहाँ पर बच्चे जीवन्त और खुश क्यों हैं। मगर इससे यह समझ में नहीं आता कि ये बच्चे सामान्य स्कूली काम में इतने निपुण कैसे हैं। इसे कैसे समझा जाए? इसका उत्तर फिल्म के सूत्रधार शिक्षक ने दिया। यह दिखाने व बताने के बाद कि बच्चे क्या कुछ करते हैं, वह कहता है, “ज़्यादातर हम एक-दूसरे से सुनते-बोलते हैं।” सचमुच, अधिकांशतः वे यही करते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि शिक्षक बोले और बच्चे सुनें। यहाँ कोई भाषण नहीं होते, न प्रत्यक्ष, न किसी दूसरे भेष में। न ही कई आधुनिक स्कूलों की तरह यहाँ के शिक्षक “चर्चाओं का आयोजन” करते हैं। यहाँ सिर्फ बातचीत होती है, बच्चों के बीच या बच्चों व वयस्कों के बीच। बच्चों और वयस्कों की चर्चा शुरू कैसे होती है? आम तौर पर ये वार्तालाप इसलिए शुरू होते हैं कि बच्चा वयस्क के साथ कुछ कर रहा है और इसे करते-करते वे बात करने लगते हैं। थोड़ी देर बाद कुछ और लोग जुड़ जाते हैं। किसी भी सचमुच की बातचीत की तरह यह बातचीत भी इधर-उधर होती रहती है। कुछ लोग बीच में से चले जाते हैं, दूसरे आ जाते हैं। कभी-कभी बातचीत करता एक समूह दो या तीन समूहों में बँट जाता है। बातचीत कभी खत्म नहीं होती। बीच में शायद थोड़ी देर के लिए रुक जाए, मगर

सोच-विचार चलता रहता है और किसी दिन बातचीत फिर शुरू हो जाएगी। बच्चों की सोच और क्रिया दोनों में “अनुभव का सातत्य” है, जिसकी चर्चा डेनिसन ने *दी लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन* में की है। अधिकांश स्कूलों में बच्चों को यह सातत्य हासिल नहीं होता क्योंकि वहाँ सोच को घण्टियों, कक्षाओं, पाठ योजनाओं, निर्देशित चर्चाओं आदि के ज़रिए खण्डित कर दिया जाता है। नाय लिलस्कोल में कभी-कभी बच्चे वयस्कों की आपसी बातचीत सुनते हैं, कभी बड़े बच्चों की। यहाँ तक कि शिक्षकों की बैठकें भी बच्चों को बाहर रखकर नहीं होतीं; उन्हें इन बैठकों में आधमकने को प्रोत्साहित तो नहीं किया जाता, मगर दूर जाने को भी नहीं कहा जाता।

मेहरबानी करके इस विवरण को एक पद्धति, स्कूल चलाने के एक फॉर्मूले के तौर पर न लें, जिसे किसी शिक्षा महाविद्यालय में पढ़ाया जा सके। यह स्कूल एक मानव समुदाय है, और जो चीज़ इसे चलाती है वह है इसके वयस्क। यह निहायत असाधारण शिक्षकों का एक समूह है। ये तीन मामलों में असाधारण हैं। पहला कि वे सिर्फ शिक्षण में नहीं बल्कि कई अन्य चीज़ों में दक्ष हैं। कई और काम करने के बाद, कई और तरह के अनुभव हासिल करने के बाद वे शिक्षण में आए हैं और वे अपनी दक्षताएँ और अनुभव स्कूल में लाए हैं। वे कई काम कर सकते हैं, चीज़ें बना सकते हैं, मरम्मत कर सकते हैं। यह बात बच्चों के लिए महत्वपूर्ण है; उन्हें काम करने में मज़ा आता है, और वे ऐसे वयस्कों से बहुत आकर्षित होते हैं जो चीज़ें कर सकते हैं। इन शिक्षकों की कुदरती सत्ता का एक बहुत बड़ा हिस्सा उनकी दक्षता के कारण है। और अमरीकी मुक्त या खुले या वैकल्पिक स्कूलों की बहुत सारी दिक्कतें इसी वजह से हैं कि उनके शिक्षकों की दक्षता बहुत कम है। युवा लोग मुझे अक्सर काफी संजीदगी और विश्वासजनक ढंग से बताते हैं कि उन्हें बच्चे कितने अच्छे लगते हैं और वे उनका कितना सम्मान करते हैं, और वे किसी मुक्त स्कूल में बच्चों के साथ काम करना चाहते हैं। जब मैं पूछता हूँ कि “तुम क्या कर सकते हो?” तो उन्हें बहुत ताज्जुब होता है। अक्सर ऐसा होता है कि वे कुछ नहीं कर सकते; इतने बरस उन्होंने बस इतना ही किया कि छात्र बने रहे। मगर क्या प्यार और सदृच्छा काफी नहीं है? नहीं, इतना काफी नहीं है। अधिकांश बच्चे, अधिकांश समय एक पाउण्ड प्यार के बदले एक औंस दक्षता लेना पसन्द करेंगे। इसके अलावा, नाय लिलस्कोल के शिक्षक बुद्धिमान, जानकार, दिलचस्पी रखने वाले और दिलचस्प हैं। वे

दुनिया के बारे में काफी कुछ जानते हैं, और वे इसके बारे में सोचते हैं। इसके विपरीत, अमरीकी शिक्षकों के एक व्यापक सर्वेक्षण से पता चला था कि उनमें से अधिकांश न तो बहुत जानकार हैं, न जिज्ञासु। इस सर्वेक्षण का हवाला मायरॉन ब्रेन्टन ने *क्वाट्स हैपन्ड टु टीचर* में दिया है। वे बहुत कम पढ़ते हैं। उनकी प्रिय पत्रिका *रीडर्स डाइजेस्ट* है। अधिकांश शिक्षक साल में अधिकतम शायद एक किताब पढ़ते हैं; जो शिक्षक ज़्यादा पढ़ते हैं, वे ज़्यादातर हल्का-फुल्का साहित्य ही पढ़ते हैं। अधिकांश आधुनिक देशों के औसत लोगों की तरह वे भी ज़्यादा कुछ जानते नहीं और ज़्यादा कुछ कर नहीं सकते। और जो कुछ वे जानते हैं या कर सकते हैं, उसे वे स्कूल में बताते या करते नहीं। कुल मिलाकर, ये वे लोग नहीं हैं जिनके साथ जिज्ञासु, सक्रिय और तन्दुरुस्त बच्चे ज़्यादा समय बिताना पसन्द करें।

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि नाय लिलस्कॉल के शिक्षक अपने देश व समाज से अलगाव महसूस नहीं करते। उन्हें डेनमार्क से नफरत या डर नहीं है। उसमें कई ऐसी बातें हैं जो उन्हें पसन्द नहीं हैं, और वे इन्हें बदलने की उम्मीद करते हैं। मगर उन्हें इस देश से लगाव है, वे यहाँ सहज महसूस करते हैं। उन्हें यहीं रहना भाता है, वे अपनी छुट्टियाँ यहीं बिताते हैं। उन्हें दुनिया से भी नफरत नहीं है। सारी खामियों के बावजूद यह दुनिया सुन्दर है, रंग-बिरंगी है, आकर्षक है, करने के लिए कई सारी रोमांचक, दिलचस्प, उपयोगी चीज़ों से भरपूर है। उन्हें बड़ा होना भी अच्छा लगता है, और वे जोश और ऊर्जा से भरपूर हैं। वे अपने छात्रों से नहीं कहते कि बचपन ही जीवन का सबसे अच्छा समय है, न ही वे उन्हें अधिक से अधिक समय तक बचपन में कैद रखने की कोशिश करते हैं। वे जानते हैं कि बच्चे बड़ा होना चाहते हैं, बड़े और शक्तिशाली बनना चाहते हैं, दुनिया को और देखना चाहते हैं, और उसमें और कई चीज़ें करना चाहते हैं। वे बच्चों की मदद करने को तत्पर हैं, इसमें खुशी महसूस करते हैं। यह बात सारे अमरीकी वैकल्पिक स्कूलों पर लागू नहीं होती। कई बार इनमें ऐसे शिक्षक आते हैं जो जीवन से, अपने देश से, और आसपास की दुनिया से अलगाव महसूस करते हैं। शायद उनका लक्ष्य यही है कि “जिन्दगी आवारगी का नाम है”। मैं उनके साथ हमदर्दी रखता हूँ, और समझता हूँ कि वे ऐसा क्यों महसूस करते हैं। मगर ऐसे लोग बच्चों के लिए किसी काम के नहीं होते। बच्चों का दुनिया से कोई झगड़ा नहीं है। दुनिया सामने है और वे इसमें कदम रखना चाहते हैं। वे यह नहीं सुनना चाहते

कि यह दुनिया कितनी भयानक है या इसमें करने लायक कुछ नहीं है, या एकमात्र अच्छा या समझदारी का काम यह होगा कि इसे नष्ट करने के उपाय किए जाएँ, या इससे कहीं दूर चले जाएँ।

शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नाय लिलस्कूल के शिक्षक खुले और सच्चे हैं। यानी वे हर उस चीज़ के बारे में बात करेंगे जिसके बारे में बच्चे बात करना चाहें, वह कहेंगे जो वे सचमुच सोचते हैं, और जो बात नहीं जानते उसे स्वीकार करेंगे। अधिकांश शिक्षक ऐसा नहीं करते। ब्रेन्टन द्वारा उद्धरित एक सर्वेक्षण के मुताबिक 90 फीसदी अमरीकी शिक्षक मानते हैं कि उन्हें बच्चों से स्कूल में ऐसे किसी विषय पर बात नहीं करनी चाहिए, और वे करते भी नहीं, जिन्हें वे विवादास्पद विषय मानते हैं, हालाँकि वे यह भलीभाँति समझते हैं कि यही वे विषय हैं जिनमें बच्चों की रुचि सबसे ज़्यादा होती है। लिहाज़ा पारम्परिक स्कूलों में बच्चे बहुत कम बातें कर सकते हैं, और जब करते हैं तो या तो ईमानदारी से नहीं कर सकते या उन विषयों के बारे में नहीं कर सकते जिनके बारे में वे सचमुच बात करना चाहते हैं। इसके अलावा, अधिकांश शिक्षकों को प्रशिक्षण और काम दोनों के दौरान बार-बार सिखाया जाता है कि कभी अपने अज्ञान, संशय या भ्रम को स्वीकार न करो। और सबसे बड़ी बात यह कि एक “व्यावसायिक फासला बनाए रखो”, यानी अपने निजी जीवन या भावनाओं के बारे में कभी खुलकर बात मत करो। परन्तु यही वे चीज़ें हैं जो बच्चों को सबसे दिलचस्प लगती हैं, क्योंकि इन्हीं से वे यह अन्दाज़ लगा पाते हैं कि बड़ा होना कैसा लगता है।

इसलिए, कई कारणों से नाय लिलस्कूल के बच्चे आगे चलकर पारम्परिक स्कूलों में भी बहुत अच्छा प्रदर्शन करते हैं। उनमें अभी भी दुनिया के प्रति कौतूहल शेष है, और यह आत्मविश्वास है कि वे इसके बारे में पता कर सकते हैं और करने में दक्ष हैं। कई बरसों तक रोज़ाना कई घण्टे सक्रियता से, ध्यान से, गम्भीरता से कई लोगों के साथ सुनने-बोलने के अनुभव की बदौलत वे भाषा का उपयोग करने में बहुत दक्ष होते हैं – एक साधारण स्कूल का ज़्यादातर हिस्सा यही तो होता है। स्कूल में व स्कूल के बाहर, भिन्न-भिन्न किस्म की सामाजिक स्थितियों का सामना कर चुकने के बाद वे किसी भी पारम्परिक स्कूल की अपेक्षाकृत सीमित चुनौतियों से आसानी से निपट लेते हैं। ज़ाहिर है कि अपने आँख-कान खुले रखने वाला कोई भी बच्चा जल्दी ही यह अन्दाज़ लगा सकता है कि एक पारम्परिक शिक्षक को उसका मनचाहा जवाब कैसे दे। यह तो एक आसान करतब

है – एक बार बस आप यह समझ जाएँ कि यह मात्र एक करतब है। मगर अपने स्कूलीकृत दोस्तों की अपेक्षा इन बच्चों के बेहतर प्रदर्शन का सबसे बड़ा कारण यह है कि ये बच्चे कहीं ज़्यादा जानते हैं।

लोग पूछते हैं कि इतने वर्षों तक जो चाहे करने के बाद ये बच्चे एक पारम्परिक स्कूल को कैसे झेल पाते हैं। क्या वे इसे नापसन्द नहीं करते? निश्चित तौर पर नापसन्द करते हैं। उन्हें यह निरर्थक लगता है। किन्तु वे चतुर हैं, इससे निपटना जानते हैं। और वे यथार्थवादी भी हैं। उन्होंने खुद अपने बारे में और इस दुनिया के बारे में इतना सीखा है कि उन्हें पता है कि जो कई सारी चीज़ें वे करना चाहते हैं उनका रास्ता जिम्नेज़ियम और विश्वविद्यालय से होकर जाता है। लिहाज़ा वे इस रास्ते पर चलने को तैयार हैं, गड्डों-दचकों सहित। इसके अलावा, अपने अधिकांश सहपाठियों (जो या तो स्कूल के सामने हथियार डाल देते हैं या उसका प्रतिरोध करते हैं) की अपेक्षा ये बच्चे स्कूल का उपयोग करने में, उससे अपने मतलब की कुछ चीज़ें हासिल करने में ज़्यादा सक्षम हैं। मेरी जानकारी में अमरीका में ऐसे बच्चे बहुत कम हैं।

चाहे हमें नाय लिलस्कूल की बातें कितनी ही अच्छी लगें मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह एक S-school ही है। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह एक ऐसा उदाहरण है जिसका अनुकरण डेनमार्क के भी बहुत ही कम S-schools कर सकेंगे, अन्य देशों की तो बात ही जाने दें। पहले तो यह एक निजी स्कूल है, डेनमार्क के सरकारी स्कूल तंत्र का हिस्सा नहीं है। जहाँ तक मुझे पता है डेनमार्क के पूरे सरकारी तंत्र में एक भी ऐसा स्कूल नहीं है, और न ही बनाने की कोई योजना है। मगर फिर भी इसे लगभग पूरा पैसा सरकार से ही मिलता है। यह पैसा इसे एक डेनिश कानून के तहत मिलता है जो कहता है कि यदि कुछ पालक एक स्कूल खोलकर उसे एक वर्ष के लिए चला लें तो उसके बाद सरकार उसके संचालन खर्च का 85 प्रतिशत देगी। शेष 15 प्रतिशत उन्हें खुद जुटाना होगा। डेनमार्क जैसे देश में यह मुश्किल है क्योंकि यहाँ यदि कोई गरीब नहीं है, तो बहुत अमीर भी नहीं है, और यहाँ अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा के भुगतान की परिपाटी नहीं है। इस कानून के तहत करीब चालीस छोटे-छोटे स्वतंत्र स्कूल खोले गए हैं; इन्हें लिलस्कूल यानी छोटा स्कूल कहा जाता है। मेरी जानकारी में किसी अन्य देश में ऐसा कानून नहीं है और शायद कभी होगा भी नहीं। ऐसे सरकारी समर्थन के बगैर शायद नाय लिलस्कूल का अस्तित्व सम्भव न हो, कम से कम इस रूप

में तो नहीं। तब उसे ऐसे लोगों के समर्थन, और इसलिए स्वीकृति, पर निर्भर रहना होगा जो उसके वर्तमान पालकों की अपेक्षा कहीं अधिक अमीर होंगे। मगर न तो डेनमार्क, न कहीं और ऐसे अमीर लोग होंगे जो एक ऐसे स्कूल को समर्थन दें जो मानता है कि अब्बल आने से ज़्यादा महत्व सहयोग और दूसरों की मदद करने का है।

यह स्कूल इतने अनौपचारिक ढंग से चल पाता है, और अपने बच्चों (और उनके परिवारों) को यह छूट दे पाता है कि वे कब स्कूल आएँगे और वहाँ कब तक रहेंगे, क्योंकि उसके ज़िले के सरकारी स्कूल निरीक्षक इसे समर्थन देते हैं या कम से कम इसके कार्यों को बर्दाश्त करते हैं। देश के किसी अन्य हिस्से में, अलग तरह के स्कूल निरीक्षकों की उपस्थिति में, शायद यह स्कूल इतना खुशकिस्मत न हो, और शायद कई लिहाज़ से इसे कानून का अक्षरशः पालन अपेक्षाकृत अधिक करना पड़े। और अन्ततः यह स्कूल जो कुछ करता है वह इसलिए कर पाता है क्योंकि यह विजेताओं का स्कूल है, यानी सफल छात्रों का स्कूल, भले ही हो सकता है कि स्कूल इसकी कोशिश न करता हो, या ऐसा बनना न चाहता हो। यदि नाय लिलस्कूल के अधिकांश बच्चों की बजाय कुछ ही बच्चे आगे की स्कूलिंग में अच्छा प्रदर्शन करें, तो कई पालक अपने बच्चों को यहाँ भेजना बन्द कर देंगे। यहाँ तक कि शिक्षकों को भी शायद संशय होने लगेगा, जबकि आज उन्हें आत्मविश्वास है कि वे सही कर रहे हैं।

मैंने नाय लिलस्कूल का विवरण यह बताने के लिए दिया है कि छल-कपट, प्रलोभनों और धमकियों से मुक्त किसी जगह पर, यानी S-schools से मुक्त किसी समाज में बच्चे और वयस्क किस तरह साथ रह सकते हैं और काम कर सकते हैं, एक-दूसरे से संवाद कर सकते हैं, और एक-दूसरे से सीख सकते हैं। मैं यह सुझाव देने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ कि “चलो, सब जुट जाओ और अपने सारे S-schools को नाय लिलस्कूल जैसा बना डालो।” मेरा मुद्दा यह नहीं है। अब्बल तो यह साफ है कि जो समाज अपने सारे S-schools को कमोबेश नाय लिलस्कूल जैसा बन जाने देगा, वह S-schools चाहेगा ही नहीं, वह उनसे निजात पा लेगा। उसके अलावा, यह सही है कि जिस समाज में सब बच्चों के लिए नाय लिलस्कूल जैसे स्कूल होंगे वह बच्चों के रहने और विकास के लिए एक अच्छी व खुशनुमा जगह होगी, मगर यह आदर्श की मेरी कल्पना से फिर भी कमतर होगा। नाय लिलस्कूल के बच्चों के लिए भी अधिकांश डेनमार्क पहुँच से बाहर है। मैं नहीं चाहता कि बच्चे अपना अधिकांश समय उनके लिए विशेष रूप

से बनाई गई जगहों पर, उनके साथ निपटने को विशेष रूप से प्रशिक्षित वयस्कों के साथ बिताएँ, भले वे जगहें और लोग कितने ही अच्छे हों। बच्चों को इससे कहीं ज़्यादा की दरकार है – एक ऐसा समाज जो खुला हो, पहुँच में हो, बच्चों और बड़ों, सब नागरिकों को नज़र आता हो, और जिसमें हर नागरिक को एक सक्रिय, संजीदा, ज़िम्मेदार और उपयोगी भूमिका निभाने का अधिकार हो। एक ऐसे समाज के निर्माण के लिए मात्र S-schools में सुधार करना, या उन्हें पूरी तरह खत्म कर देना भी पर्याप्त नहीं होगा।

कमोबेश नाय लिलस्कोल की तरह काम करने की कोशिश के साथ शुरू होने वाले अमरीका के अधिकांश स्कूल कुछ ही वर्षों में चुक जाते हैं। कभी-कभी वे आज़ादी के बारे में तर्क-वितर्क में टूट जाते हैं। (यह गौरतलब है कि नाय लिलस्कोल की स्थापना कुछ ऐसे शिक्षकों व पालकों ने की थी जो एक अन्य छोटे स्कूल से इस बात पर अलग हुए थे कि वह काफी हद तक पारम्परिक स्कूलों जैसा होता जा रहा है और “परिणामों” के बारे में ज़्यादा ही चिन्ता करने लगा है।) कभी-कभी स्थानीय सरकारी अधिकारी बार-बार इन्हें परेशान करके खत्म कर देते हैं। अमरीका में तो आम तौर पर इन अधिकारियों को ऐसे स्कूल या ऐसी कोई चीज़ पसन्द ही नहीं आती जिसमें आज़ादी की गन्ध आती हो। अक्सर ये स्कूल पैसे की कमी के कारण खत्म हो जाते हैं या अमीर लोगों के दबाव में अपने सिद्धान्तों को छोड़ देते हैं क्योंकि ज़िन्दा रहने के लिए इन्हीं का समर्थन चाहिए।

मैंने अमरीका में जितने वैकल्पिक स्कूल देखे हैं, उनमें से एक मुझे खास तौर से अच्छा लगा था; इसमें नाय लिलस्कोल के ही समान भावना और जोश था। एन आर्बर का चिल्ड्रन्स कम्युनिटी एक एकीकृत स्कूल है जहाँ करीब पच्चीस, अधिकांश गरीब, बच्चे हैं। 1960 के दशक में यह कुछ साल चला था और पैसे की कमी के कारण बन्द हो गया था। अभी हाल में इसे फिर शुरू किया गया है। इसके पहले निदेशक बिल एयर्स ने *दिस मैग्ज़ीन इज़ अबाउट स्कूल्स* में इसके बारे में दो लेख लिखे थे। बाद में ये लेख एक उत्कृष्ट किताब, *दिस बुक इज़ अबाउट स्कूल्स* (सम्पादक सैटु रैपो, विंटेज पैपरबैक्स) में संकलित किए गए थे। उन्होंने लिखा था:

हमारे अलावा बाकी सारे वैकल्पिक स्कूलों में असफलता का मॉडल ठीक वही है जो घटो [ghetto] या नीग्रो संस्कृति है... हम कोशिश

यह करते हैं कि बच्चों के ये समूह (काले व गोरे) नैतिक फैसले न करके एक-दूसरे से सीखें, चीज़ों का आदान-प्रदान करें, चीज़ों को त्यागें, चीज़ें अपनाएँ!...मुद्दा यह है कि बच्चे यथार्थ की छानबीन करके सीखते हैं, न कि ऐसी चीज़ से जिसके बारे में किसी और ने फैसला किया है कि वह सत्य है और उन्हें बताई जाएगी। ... हम मानते हैं सीखने की प्रक्रिया हर जगह चलती है, किसी भी ढाँचे से मुक्त और अपरिभाषित।

वे उन यात्राओं का वर्णन करते हैं जो उन्होंने कुछ या सारे बच्चों के साथ की थीं। वे सेब लाने सेब के एक बागान में गए थे। एक बार उन्होंने देखा कि एक ट्रक में सेब लादे जा रहे थे। वे एक स्टोर तक उसके पीछे-पीछे गए जहाँ काफी सारे सेब उतारे गए। उन्होंने कुछ सेब खरीद लिए। एक दिन वे एक बूचड़खाने में गए, जहाँ उन्होंने कामगारों को पशुओं को मारते, काटते और पैक करते देखा। खुद बिल को यह सब देखकर थोड़ी दिक्कत हुई, बच्चों को नहीं। वे दो ऑटोमोबाइल फैक्ट्रियों में भी गए। कुछ बच्चे असेम्बली लाइन (क्रमबद्ध ढंग से कार तैयार करना) से बहुत प्रभावित हुए, इतनी विशाल, जहाँ छोटे-छोटे पुर्जों को जोड़कर कार बन जाती है। अन्य बच्चे वहाँ की बदबू, गर्मी, शोर, धूल की बात करते रहे। वे कई बार हवाई अड्डे भी जाते थे, सिर्फ हवाई जहाज़ देखने नहीं बल्कि इसलिए कि:

वहाँ इतने सारे लोग विदेशी भाषाओं में बात करते हैं, घूमती सीढ़ियाँ हैं, फिल्में हैं, हर जगह छोटे-छोटे डिस्प्ले हैं, छतों से टँगे कार्ड हैं। और यह इतना बड़ा है, और इसका संगमरमर का विशाल फर्श है, और आप इस पर यहाँ से वहाँ दौड़ सकते हैं और कोई कुछ नहीं कहता।

पढ़ने के बारे में वे लिखते हैं:

हमने देखा है कि बच्चे हज़ारों तरीकों से पढ़ना सीखते हैं। कुछ बच्चे इसलिए पढ़ना सीखते हैं कि उन्हें कारें पसन्द हैं और वे अलग-अलग कारों के नाम जानना चाहते हैं। कुछ बच्चे इसलिए पढ़ना सीखते हैं क्योंकि वे यात्राएँ करते हैं और वहाँ वे रास्ते पर तमाम साइन बोर्ड देखते हैं। या वे एक-दूसरे के नाम पढ़ना सीखते हैं, या वे किसी स्टोर में लेबल पढ़ते हैं, या वे इसलिए भी पढ़ना सीखते हैं कि उन्हें अच्छा लगता है। ज़्यादातर बच्चे सचमुच पढ़ना सीखना चाहते हैं। वे बोलना सीखते हैं क्योंकि उनके आसपास हर कोई बोलता है। बच्चे दक्ष होना चाहते हैं। जिस तरह से बाकी सारे लोग चीज़ों का

अर्थ समझते हैं, वे भी समझना चाहते हैं। इसलिए वे बोलना सीखते हैं और यही बात पढ़ने पर भी लागू होती है।

कुल मिलाकर काले बच्चों के पालक उस सबका साथ देने को तैयार थे जो स्कूल कर रहा था। “उन्हें लगता है कि यहाँ काले बच्चों को न्याय मिल रहा है, जो किसी दूसरे स्कूल में नहीं मिलेगा।” मगर अश्वेत या गरीब बच्चों के लिए इस तरह का स्कूल चलाने वाले अधिकांश लोगों को समझ में आता है कि पालकों की माँग होती है कि उसे अत्यन्त कठोर व पारम्परिक ढंग के स्कूलों की तरह चलाया जाए। उनका विश्वास या भ्रम यह है कि सिर्फ उसी तरह की स्कूलिंग उनके बच्चों को गरीबी से छुटकारा दिला सकती है। नाय लिलस्कॉल की तर्ज़ पर बनी किसी जगह को चलाना शायद ज़्यादा आसान होगा यदि उसे स्कूल या स्कूल के विकल्प के रूप में सोचा या बताया न जाए, बल्कि एक मिलन स्थल, एक क्लब के रूप में सोचा-बताया जाए। *दिस बुक इज़ अबाउट स्कूल्स* में ऐसी ही एक जगह के बारे में लौरा फिलिप्स का एक सुन्दर लेख है, “दी बाल्डविन स्ट्रीट क्लब”। टोरोन्टो के एक गरीब इलाके में रहने वाले दो युवा दम्पतियों ने अपने घर की निचली मंज़िल को पड़ोसियों के लिए, खासकर बस्ती के बच्चों के लिए खोल दिया। बच्चों को यह बहुत भाया और वे यहाँ कई दिलचस्प चीज़ें करते थे। कुछ समय तक बॉस्टन की एक अश्वेत बस्ती में स्टोरफ्रन्ट लर्निंग सेन्टर नाम की एक जगह थी जिसका उपयोग कई बच्चे करते थे। बाद में शहर की सरकार ने, जो इसकी मालिक थी, इसे वापिस ले लिया और यह जगह बच्चों के हाथ से निकल गई।

ऐसी जगह को स्कूल न कहने के शायद तीन फायदे होंगे। इससे बच्चों को इस जगह को अपना मानने में आसानी होगी; स्कूल तो बड़ों की मिल्कियत हैं। इससे स्कूल अधिकारियों की आए दिन की निगरानी से भी बचा जा सकेगा। यहाँ जो कुछ होता है वह उनमें से अधिकांश को न तो समझ में आएगा, न पसन्द आएगा। और इसका एक फायदा यह होगा कि अपने बच्चों के भविष्य के प्रति चिन्तित पालक अपनी चिन्ताओं का बोझ आधिकारिक S-schools पर डाल सकेंगे, और क्लब को एक जीवन्त व रोचक जगह बना रहने को छोड़ देंगे जहाँ बच्चे मज़ा करें और जो चाहें करें। किन्तु ऐसे किसी भी बाल क्लब की बनिस्बत कहीं बेहतर जीने और करने की जगह, बच्चों और बड़ों दोनों के लिए, उस तरह की होगी जिसकी उम्दा मिसाल पेकहैम का पायोनियर हेल्थ सेन्टर था।

स्कूल सुधारों की असफलता

इस वक्त जब मैं यह लिख रहा हूँ, S-schools में सुधार का एक और आन्दोलन, सारे या अधिकांश S-schools को नाय लिलस्कूल के समान बनाने का आन्दोलन, समाप्त होने को है। यह समझना उपयोगी होगा कि ऐसे आन्दोलन क्यों असफल रहते हैं, क्यों असफल रहने को विवश हैं। अब्बल तो ऐसे आन्दोलन नए नहीं हैं। साठ के दशक के शुरू व मध्य में ब्रिटिश प्राथमिक स्कूलों में जो कुछ हो रहा था, उसकी खबरों से हममें से कुछ लोग बहुत उत्साहित थे, उसे हम “क्रान्ति” कहना पसन्द करते थे, जैसे कि ऐसी कोई चीज़ पहले कभी हुई ही न हो। मगर कुछ लोगों ने यही चीज़ें 1920 और 1930 के दशकों में और उससे भी पहले की थीं। *सैटरडे रिव्यू* में अपने एक लेख में डैन पिंग ने बताया था कि कक्षा के जिन तौर-तरीकों को हम “क्रान्तिकारी” कह रहे हैं, वे 1905 में गैरी, इंडियाना में पूरे शहर के सरकारी स्कूलों में लागू थे। अभी हाल में मेरी साथी मार्गोट प्रीस्ट ने हर्बर्ट फॉक की किताब *कॉर्पोरल पनिशमेंट, ए सोशियल इंटरप्रिटेशन ऑफ़ इट्स थियरी एण्ड प्रैक्टिस इन दी स्कूल्स ऑफ़ दी यूनाइटेड स्टेट्स* (ब्यूरो ऑफ़ पब्लिकेशंस, टीचर्स कॉलेज, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी) में निम्नलिखित वक्तव्य देखा:

कई वर्षों तक युरोप के शैक्षिक सिद्धान्त व तौर-तरीकों का अध्ययन करने के बाद कर्नल फ्रांसिस वेलैण्ड पार्कर 1875 में किंक्सी, मैसाच्यूसेट्स के स्कूलों का प्रभार ग्रहण करने और इस दौर का एक सबसे रोचक क्रान्तिकारी शैक्षिक प्रयोग करने को अमरीका लौटे। पारम्परिक सिद्धान्त व व्यवहार से उल्लेखनीय रूप से अलग इस प्रयोग का संक्षिप्त परिचय एडवर्ड एच. राइस्नर के इस कथन से मिल सकता है (द *इवॉल्यूशन ऑफ़ दी कॉमन स्कूल*, 1930):

“पार्कर ने शैक्षिक पुनर्निर्माण के काम की शुरुआत पारम्परिक

स्कूली विषयों के विभाजनों के ताने-बाने को ध्वस्त करके की। उन्होंने पढ़ने, स्पेलिंग, अंकगणित, भूगोल वगैरह को अलग-अलग विषयों के रूप में समाप्त कर दिया और उन्हें एक एकीकृत व परस्पर सम्बन्धित समग्र अनुभव की उपयोगी उपलब्धियों और रोचक पहलुओं के रूप में पुनर्गठित किया। अनुशासन के मामले में उन्होंने नियम, पुरस्कार, अंक, और उस पूरे दमन उपकरण को ध्वस्त कर दिया जो प्रलोभन या डर दिखाकर बच्चों को उद्योगशील या सलीकेदार बनाने की कोशिश करता है। स्कूली नियंत्रण की इस दमनकारी प्रणाली की जगह उन्होंने अपने शिक्षकों के साथ काम करके सही अर्थों में एक समुदाय का निर्माण किया जिसमें बच्चे खुद विचारशील, सहयोगी, सार्वजनिक भावना वाले नागरिकों के समान अपना काम करना सीखते हैं।”

किन्तु S-schools में सुधार के आन्दोलन ज़्यादा दिन नहीं चलते। जल्दी ही वे फैशन से बाहर हो जाते हैं, प्रतिक्रिया होने लगती है, और जो थोड़े से स्कूल मानवीय परिवर्तन करने की कोशिश करते हैं उनमें से अधिकांश हथियार डाल देते हैं। आम तौर पर जब ऐसा होता है तो जनता राहत की एक लम्बी साँस लेती है, और रूढ़िगत स्कूलों की लम्बे समय से चली आ रही सारी बुराइयों का ठीकरा सुधारकों के माथे फूटता है। जल्दी ही इन सबूतों को भुला दिया जाता है कि ये सुधार जहाँ लागू हुए वहाँ कारगर रहे थे।

मसलन, जब जनता शिक्षा में पहले चलाए गए प्रगतिशील (Progressive) आन्दोलन के खिलाफ हो गई, तो शायद ही किसी ने यह देखने की चिन्ता की कि ड्यूई ने जो कुछ कहा था उसे बहुत ही कम अमरीकी स्कूलों ने करने की कोशिश की थी, और उनमें से भी अधिकांश ने इसे पर्याप्त गहनता या सूझबूझ के साथ नहीं किया था। 1930 के दशक के उत्तरार्ध और 1940 के दशक के पूर्वार्ध में कार्नेगी फाउंडेशन ने एक व्यापक अध्ययन के लिए पैसा दिया था। इस अध्ययन का उद्देश्य यह देखना था कि शिक्षण की पुरानी रटन्ट शैली ज़्यादा कारगर है या खुली, लचीली और रुचि-आधारित विधि। यह अध्ययन आठ साल तक चला था और इसमें बड़ी संख्या में छात्रों और स्कूलों को शामिल किया गया था। स्वयं स्कूल जिन कसौटियों को महत्वपूर्ण मानते हैं, उन सारी कसौटियों पर खुली, लचीली और रुचि-आधारित विधि से पढ़ाए गए बच्चों का प्रदर्शन उल्लेखनीय रूप से बेहतर था, स्कूल और कॉलेज दोनों जगह। इस

अध्ययन की रिपोर्ट को लगभग तत्काल भुला दिया गया; जितने शिक्षकों से या शिक्षकों के शिक्षकों से मैंने पूछा, उनमें से एकाध ने ही कभी इसके बारे में सुना था।

अब हम अमरीका में एक बार फिर यही चक्र शुरू कर रहे हैं। न्यूज़वीक के एक ताज़ा आलेख – कई पत्र-पत्रिकाओं में इस तरह के आलेख छपे हैं – “बैंक टु बेसिक्स इन दी स्कूल्स” की शुरुआत काफी खुशनुमा थी। कहा गया था:

एक दशक से भी ज़्यादा समय से अमरीका के स्कूलों में नवाचारों की बाढ़ आई हुई है। शिक्षा में लोगों की रुचि में उफान, प्रयोगों के लिए विशाल फण्ड की उपलब्धि, और खास तौर से सुधारकों के उत्साह के चलते नई-नई शिक्षा नीतियाँ – कुछ बढ़िया और कुछ साफ तौर पर अनर्गल – लगभग राष्ट्रीय पैमाने पर अपनाई गईं। खुली कक्षाओं का चलन बढ़ा; इनमें छात्र कक्षा-विभाजन-रहित समूहों में गतिविधियाँ चुन सकते हैं और शिक्षक की ज़्यादा दखलन्दाज़ी के बगैर अपनी गति से अपना काम कर सकते हैं।

इन शब्दों से जो आभास मिलता है कि इस तरह की चीज़ें बहुत सारे स्कूलों में बहुत सारे बच्चों के साथ की जा रही थीं, वह सच नहीं है। “खुली शिक्षा” कभी बहुत ज़्यादा नहीं हुई। उस दशक में मैंने देश भर की खूब यात्राएँ करके सैकड़ों स्कूलों, शिक्षक समूहों तथा शैक्षिक परिवर्तन में रुचि रखने वाले लोगों के बीच व्याख्यान दिए थे। जिन समुदायों से मैंने मुलाकातें कीं वे परिवर्तन को लेकर कहीं अधिक खुले थे, अन्यथा वे मुझे बुलाते ही नहीं। मगर इन समुदायों में भी या उन सारे समुदायों में जिनके बारे में मैंने पढ़ा या सुना है, इस तरह के परिवर्तनों ने स्कूलों के 10 फीसदी से ज़्यादा छात्रों को नहीं छुआ था, आम तौर पर तो इससे भी कम।

ग्रेग कार्लसन द्वारा मिनेसोटा के S-schools के एक ताज़ा सर्वेक्षण से पता चला है कि इस प्रान्त के मात्र 29 फीसदी शैक्षिक ज़िलों में ही किसी किस्म का मुक्त स्कूल है। यदि इनमें से प्रत्येक में ज़िले के 10 फीसदी छात्र शामिल हों, तो पूरे प्रान्त के मात्र 2.9 फीसदी छात्र मुक्त स्कूलों में होंगे। अलबत्ता सर्वेक्षण में यह भी बताया गया है कि इनमें से ज़्यादातर स्कूल काफी छोटे-छोटे हैं; ऐसे आधे से ज़्यादा स्कूलों में छात्रों की संख्या 150 से कम है। अर्थात्, अधिकांश मुक्त स्कूल ज़िले के 10 फीसदी से भी कम छात्रों को प्रभावित करते हैं। एक ठीक-ठाक अनुमान यह होगा कि प्रान्त

के एक फीसदी से भी कम छात्र ऐसे स्कूलों में हैं। गौरतलब है कि यह राजनैतिक व शैक्षिक लिहाज़ से हमारे सबसे प्रगतिशील प्रान्तों में से है। मैं यहाँ यह जोड़ना चाहूँगा कि मैंने इनमें से एक सबसे जाने-माने स्कूल को देखा है। यह काफी अच्छा है, रूढ़िगत स्कूलों से कहीं बेहतर है, मगर फिर भी नाय लिलस्कोल की भावना से बहुत पीछे है।

तथाकथित परिवर्तन की लहर जब अपने चरम पर थी, तब अमरीकी शिक्षा विभाग के वैकल्पिक स्कूल विभाग ने पूरे देश के स्कूल तंत्र के लिए ऐलान किया था कि वह नवाचारी K-12 कार्यक्रम के लिए प्रत्येक शैक्षिक ज़िले को 50 लाख डॉलर तक देने को तैयार है। कोई चार-पाँच ज़िलों ने इसके लिए प्रस्ताव भेजे; ज़्यादातर ज़िलों ने कोई जवाब नहीं दिया। विभाग के काफी साधारण सुधारवादी मापदण्डों पर भी इनमें से मात्र 30-40 प्रस्ताव ही पर्याप्त नवाचारी और गौर करने योग्य पाए गए। इनमें से भी मात्र *तीन-चार* को ही परिवर्तन करने के लिए राशि मिली; ये परिवर्तन भी ऐसे थे जिन्हें कोई भी मानवीय सुधारक लड़खड़ाते पहले कदम से अधिक कुछ न समझता। मैं कुछ लोगों को जानता हूँ जो ऐसे एक स्कूल तंत्र में काम करते हैं जिसे इसमें से कुछ राशि मिली थी। उन्होंने बताया कि इसमें से कितनी राशि खर्च की गई थी। उस स्कूल तंत्र में पहले से ही कई सारे छोटे-छोटे, मुक्त, नवाचारी स्कूल थे जो लगभग बगैर किसी धन के छोटे पैमाने पर काम कर रहे थे। जब संघीय सरकार ने इस तंत्र में नवाचार के लिए राशि उपलब्ध कराई, तो उम्मीद थी कि इन स्कूलों को अधिक पैसा मिलेगा ताकि वे अपने काम को विस्तार दे सकें। मगर हुआ यह कि ज़िला कार्यालय में मोटी-मोटी तनखाह वाले समन्वयकों, नियोजकों, और मूल्यांकनकर्ताओं की एक नई नौकरशाही तैयार हो गई। नवाचारी स्कूल और शिक्षकों को, पहले अपनी निर्धनता में, कम से कम अपना काम करने को अकेला छोड़ दिया गया था। अब उनका काफी समय यही समझाने में ज़ाया होता था कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों। उनमें से कई को लगा कि संघीय फण्ड ने और कुछ न किया हो मगर उनका काम मुश्किल ज़रूर कर दिया है।

“बैक टु दी बेसिक्स” सम्बन्धी एक और आलेख में *बॉस्टन ग्लोब* ने बताया कि पिछले दस वर्षों में 1.4 अरब डॉलर मूल्य के अधिकांश शैक्षिक नवाचारों की राशि शिक्षा अधिनियम के टाइटल III से आवंटित की गई थी। वैसे देखने में यह बहुत बड़ी राशि लगती है। मगर 1970 के आसपास इस देश में प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की कुल *सालाना* लागत *चालीस*

अरब डॉलर है। जितनी राशि हमने शिक्षा में परिवर्तन पर खर्च की वह कुल शिक्षा खर्च के एक फीसदी का भी एक-तिहाई बैठती है। उसमें से भी काफी बड़ी राशि तो विशाल मिकी माउस स्कीम में खप गई जिसे किसी मानवीय सुधारक ने कभी गम्भीरता से नहीं लिया – क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ, माइक्रो टीचिंग, कम्प्यूटर्स, खुली जगह में स्कूल, वगैरह। उस 1.4 अरब डॉलर में से शायद एक-चौथाई भी उन लोगों के हाथ नहीं लगा जो बच्चों को वास्तव में ज़्यादा खुले, लचीले ढंग से व उन पर विश्वास के साथ पढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं।

न्यूज़वीक के लेख में आगे कहा गया था, “अधिकांश हाई स्कूल व कॉलेज, जिन्होंने ग्रेडिंग प्रणाली को छोड़कर अपेक्षाकृत कम प्रतिस्पर्धापूर्ण उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण प्रणाली अपना ली थी, मूलतः छात्रों के अनुरोध पर वापिस पुरानी अंक प्रणाली पर लौट गए हैं।” सही है, मगर छात्र अंकों की माँग इसलिए नहीं कर रहे हैं कि उनके बगैर वे सीख नहीं पा रहे थे, बल्कि इसलिए कर रहे हैं क्योंकि अंकों के बगैर वे कॉलेज या ग्रेजुएट स्कूल में प्रवेश नहीं पा सकते। छात्रों की प्रतिस्पर्धापूर्ण ग्रेडिंग व रैंकिंग में कॉलेज और ग्रेजुएट स्कूलों का गहरा निहित स्वार्थ है; इसके कारणों की चर्चा में आगे करूँगा। बहरहाल, इस निहित स्वार्थ के चलते उन्होंने ग्रेड हटाने के सारे प्रयासों को कारगर ढंग से तहस-नहस किया। कई ग्रेजुएट स्कूलों ने उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण वाले कोर्सों को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। जिन थोड़े से छात्रों ने ये कोर्स किए थे, उन्हें फिर से ये कोर्स करना पड़े और इस बार ग्रेड की माँग करनी पड़ी ताकि उन्हें इन कोर्सों का लाभ मिल सके।

1960 के दशक की शुरुआत में गोर्डार्ड कॉलेज ने प्राथमिक व माध्यमिक स्कूलों के कुछ लोगों को बुलाया था। इनमें से अधिकांश एक अपेक्षाकृत खुले व लचीले पाठ्यक्रम के पक्ष में थे। इसके अलावा कॉलेजों में दाखिले से सम्बन्धित अफसरों को भी बुलाया गया था। स्कूल के लोगों की शिकायत थी कि कॉलेजों में दाखिले की शर्तें प्राथमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम निर्धारित करती हैं। इस वजह से वे अपने बच्चों को कुछ भी और नहीं पढ़ा पाते थे (न ही उन्हें इतना समय दे पाते थे कि वे इन चीज़ों को खुद सीख सकें)। एमहर्स्ट कॉलेज के तत्कालीन दाखिला निदेशक ने हमें बताया, “आपको जो ठीक लगे वही करें; बच्चों को उसी तरह से पढ़ाइए जैसे आपको ठीक लगे; जब वे हमारे पास आएँगे तो वे जैसे भी हैं, हमें उनको सम्भालना होगा। हमें बदलने पर मजबूर कीजिए। हमारे

लिए अंकों का उतना महत्व नहीं है जितना आप समझते हैं।” हमारा हौसला बढ़ा। दस वर्ष भी नहीं बीते होंगे कि कुछ लोगों ने मुझे बताया कि जब उनके बेटे ने एमहर्स्ट में प्रवेश के बारे में पूछताछ की तो वहाँ के एक दाखिला अधिकारी ने बताया, “यदि तुम्हारा स्कॉलेस्टिक एप्टीट्यूड स्कोर यानी SAT [800 में से] 600 से कम है तो प्रवेश के लिए कोशिश भी मत करना। हम उसे देखेंगे भी नहीं।” साहसिक शब्दों पर इससे ज़्यादा क्या कहें? वाशिंगटन के एक अत्यन्त नवाचारी कॉलेज एवरग्रीन स्टेट के एक छात्र ने हाल ही में मुझे बताया कि राज्य विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट स्कूल के एक प्रमुख व्यक्ति ने कमोबेश सार्वजनिक रूप से कहा कि एवरग्रीन से प्रवेश का आवेदन करने वाले छात्रों की वे “कड़ी जाँच करेंगे”। इसका आशय जो भी रहा हो, सन्देश स्पष्ट था: यदि तुम इस ग्रेजुएट स्कूल में आना चाहते हो, तो एवरग्रीन में मत जाना।

न्यूज़वीक का लेख आगे कहता है, “एक-तिहाई से ज़्यादा राज्य विधायिकाओं ने ऐसे कानून पारित कर दिए हैं कि परीक्षाओं में बुनियादी हुनर में उपलब्धियों को महत्व दिया जाए।” इससे ऐसा लगता है कि नवाचार की इस कथित लहर के दौरान, और उसकी वजह से, बड़ी संख्या में स्कूलों ने मानक उपलब्धि परीक्षण का उपयोग बन्द कर दिया। तथ्य तो यह है बहुत ही कम स्कूलों ने ऐसा किया। यहाँ तक कि मुक्त और वैकल्पिक स्कूलों में भी मैंने कभी नहीं सुना कि चन्द स्कूलों को छोड़ किसी ने इन परीक्षाओं को बन्द करने की हिम्मत दिखाई हो। जिन्होंने कोशिश की उनमें से अधिकांश को भी कॉलेज के दाखिला अधिकारी और चिन्तित पालक जल्दी ही वापिस लाइन पर ले आए।

इस कथित नवाचार की लहर जब चरम पर थी तब कार्नेगी फाउंडेशन की वित्तीय मदद से चार्ल्स सिल्वरमैन और शोधकर्ताओं का एक बड़ा दल देश भर के सैकड़ों स्कूलों में और उन स्कूलों की कक्षाओं में गए थे। उन्होंने जो कुछ देखा उसका वर्णन सिल्वरमैन ने अपनी पुस्तक *क्राइसिस इन दी क्लास रूम* में किया है। वे कहते हैं:

यह सम्भव नहीं है कि आप लम्बा समय सार्वजनिक स्कूलों की कक्षाओं में बिताएँ और हर तरफ नज़र आते क्षय – सहजता का क्षय, सीखने में आनन्द का क्षय, रचना करने में सुख का क्षय, या आत्मबोध का क्षय – को देखकर वितृष्णा से न भर उठें... चूँकि वयस्क लोग स्कूल को ऐसा ही मानकर चलते हैं, इसलिए शायद वे

देख नहीं पाते कि अमरीकी स्कूल किस कदर मायूस और आनन्दरहित हैं¹। वहाँ का माहौल बौद्धिक रूप से कितना निर्जीव और सौन्दर्य की दृष्टि से कितना बंजर है, शिक्षक और प्रधानाचार्य में सभ्यता का कितना डरावना अभाव पाया जाता है, और अपने छात्रों के प्रति वे अनजाने में कैसी हिकारत दर्शाते हैं।

जिस किसी को लगता है कि साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में स्कूल खुशी और खुलेपन से ओत-प्रोत थे, उसे सिल्वरमैन की किताब पढ़ना चाहिए। अपनी किताब के अन्तिम हिस्से में उन्होंने कई नवाचारों का वर्णन किया है। उन्हें उम्मीद और यकीन था कि ये ऐसे पैटर्न बनेंगे जिन्हें अधिकांश स्कूल अपनाएँगे। मगर उनकी किताब आने के बाद जल्दी ही इनमें से अधिकांश नवाचार या तो मर चुके थे या अन्तिम साँसें गिन रहे थे। अब तक तो वे सब खत्म हो चुके हैं। जिन समुदायों में मुझे बोलने को कहा गया, वहाँ मैंने कई परिवर्तन देखे या सुने। उनमें से कई में काफी सम्भावनाएँ थीं। इनमें से अधिकांश कुछेक वर्ष ही चले। जब संघीय फंडिंग खत्म हो गई, या नया स्कूल बोर्ड गठित हो गया, या निरीक्षक छोड़ गया या सेवा निवृत्त हो गया या बर्खास्त कर दिया गया, या लोगों की रुचि खत्म हो गई, तो ये बन्द हो गए। और कई सारे नवाचार तो सजावट, सम्मेलनों, प्रचार-प्रसार, खोखली बातों से आगे नहीं पहुँच पाए। सुधारकों को उस समय बहुत उत्साह मिला जब तत्कालीन आयुक्त हार्वे स्क्रिबनर (बाद में कुछ समय के लिए न्यू यॉर्क शहर के पब्लिक स्कूलों के चांसलर) के अधीन वर्मोन्ट प्रान्त के शिक्षा विभाग ने “दी वर्मोन्ट आइडिया इन एजुकेशन” शीर्षक से एक पर्चा जारी किया। इसमें उन अधिकांश बातों का ज़ोरदार समर्थन किया गया था जिन पर हम विश्वास करते थे। वह तो जब वर्मोन्ट के एक शिक्षक ने मुझे लिखा तब पता चला कि “प्रान्त में किसी ने इसे गम्भीरता से नहीं लिया था और मात्र तीन स्कूलों ने इसे अपनाने की संजीदा कोशिश की थी।”

S-schools बदतर हुए हैं

कुछ ही स्कूलों ने कभी कोई मानवीय परिवर्तन किए होंगे; उनमें से भी कुछ ने ही इन्हें ठीक से किया होगा या लम्बे समय तक चलाया होगा। मूलतः स्कूल वही हैं जो वे हमेशा से रहे हैं। यदि कोई परिवर्तन है तो यह

1. बाकी देशों में भी वे लगभग ऐसे ही हैं – होल्ट।

कि कई मायनों में और कई कारणों से वे बदतर हुए हैं। जैसा कि पहले भी था, स्कूल प्रायः अधिकांश बच्चों के लिए, खासकर गरीब, अश्वेत, असामान्य, तथा बहादुर व स्वतंत्र बच्चों के लिए, मानसिक व शारीरिक तौर पर निर्मम होते हैं। मैं एक बार फिर सिल्वरमैन की ओर लौटना चाहूँगा। सिल्वरमैन एक पैसे प्रेक्षक थे और किसी मायने में बच्चों के भावुक प्रशंसक नहीं थे। जब उनकी किताब पहली बार *एटलांटिक मन्थली* में तीन भागों में प्रकाशित हुई थी, तब उन्होंने पहले भाग का शीर्षक दिया था “मर्डर इन दी क्लास रूम”। शायद बाद में उन्हें “मर्डर” (कत्ल) की जगह “क्रायसिस” (संकट) शब्द का उपयोग करने की सलाह दी गई। मगर जो कुछ उन्होंने देखा था उसके लिए शुरु में उन्हें “कत्ल” शब्द ही उपयुक्त लगा था। *एजूकेशन इज़ ए ग्रेट विंग शक्क* में कार्ल वाइनबर्ग भी इतनी ही मायूस कहानी सुनाते हैं। छात्रों, पालकों, छात्र शिक्षकों, और कुछ शिक्षकों से मुझे लगातार स्कूलों में बच्चों के साथ असाधारण मानसिक व शारीरिक क्रूरता की खबरें सुनने को मिलती रहती हैं; इनके लिए कभी किसी को सज़ा नहीं मिलती। शारीरिक दण्ड, यानी बच्चों की पिटाई का रिवाज़ आज भी अधिकांश प्रान्तों में मान्य है। और, जहाँ यह अवैध है, वहाँ भी इसका इस्तेमाल व्यापक तौर पर किया जाता है, और जहाँ वैध है वहाँ तो इसका भरपूर दुरुपयोग होता है। पोर्टलैण्ड, ओरेगन के एक स्कूल में बच्चों को 17 इंच के हथे वाले 33 इंच लम्बे, 10-3/4 इंच चौड़े, और एक इंच मोटे “बेलचे” से पीटा जाता है। इसका वज़न चार पाउण्ड है और इसमें 26 सुराख हैं। कुछ लोग यह जानने का निरन्तर (व कठिन) प्रयास कर रहे हैं कि स्कूलों में कितनी शारीरिक व मानसिक क्रूरता है। उनका अनुमान है कि यह काफी अधिक है। और यह क्रूरता सिर्फ परास्त बच्चों के “बुरे” स्कूलों में ही नहीं बल्कि विजेताओं के “अच्छे” स्कूलों में भी काफी है।

मगर मैं यह आभास नहीं देना चाहता कि स्कूलों की क्रूरता किसी खराब या लापरवाह आदत के कारण है, और कि यदि लोग सचमुच चाहें तो इसका इलाज किया जा सकता है। अनिवार्य और प्रतिस्पर्धापूर्ण स्कूल स्वभाव से ही क्रूर होते हैं। मुझे एक स्कूल का ख्याल आता है जहाँ मैं कभी पढ़ाता था। इस स्कूल को बच्चों के लिए, खासकर छोटे बच्चों के लिए, सहृदय माना जाता था, और मोटे तौर पर ऐसा था भी। सारे शिक्षक बुद्धिमान, सुसंस्कृत, अत्यन्त “शिक्षित”, परिष्कृत, संवेदनशील स्त्री, पुरुष थे। वे परपीड़क (sadist) नहीं थे और अपने दर्शन के अलावा अपने

सलीके और नफासत के कारण भी वे बच्चों पर शारीरिक अत्याचार नहीं कर सकते थे। फिर भी मैं कई बच्चों को जानता था जिन्होंने कष्ट भोगे थे, यहाँ तक कि दस वर्ष और उससे भी छोटे बच्चे। स्कूली जीवन का एक बड़ा हिस्सा उन्होंने लगातार चिन्ता, डर और शर्म में जीया था। कई तो इस अनुभव से बहुत आहत हुए थे। स्कूल द्वारा उनकी गरिमा, स्वतंत्रता, और आत्मसम्मान पर हुए हमले (चाहे ऐसा जान-बूझकर न किया गया हो) से आज तक वे उबरे नहीं हैं, और शायद कभी पूरी तरह उबर भी न पाएँ। और ये बच्चे असामान्य हैं, खुशकिस्मत हैं। स्कूल में उनसे बेहतर जीवन शायद कुछ बच्चों का ही रहा हो; अधिकांश का तो यकीनन बदतर रहता है।

यह सही हो सकता है कि आजकल स्कूल पहले की अपेक्षा कम क्रूर, दर्दनाक, डरावने और अपमानजनक हैं, मगर वे कई और तरह से हानिकारक होते हैं। वे बच्चों का कहीं अधिक समय ले लेते हैं, और लगातार ज़्यादा समय लेते हैं। वे बच्चों को अपना जीवन जीने, अपनी रुचियों को आगे बढ़ाने, या स्कूल की असफलताओं, भय और ऊब से निपटने के लिए स्कूल से बाहर अपने तरीके खोजने के लिए बिल्कुल समय नहीं देते। पहले की अपेक्षा आजकल वे बच्चों के भविष्य को कहीं अधिक नियंत्रित व सीमित करते हैं। जीवन में प्रवेश के ऐसे रास्ते कम से कम होते जा रहे हैं जो स्कूल से होकर नहीं जाते। अधिक से अधिक किस्म के कामों के लिए डिग्री, डिप्लोमा और प्रमाण-पत्रों की ज़रूरत पड़ने लगी है। समाज में कामयाबी के जो चन्द मुकाम हैं उनके लिए संघर्ष जीवन में और जल्दी शुरू हो जाता है; न्यू यॉर्क शहर में (शायद कई अन्य शहरों में भी) तीन साल के बच्चे को नर्सरी में दाखिल करवाने की कोशिशों के साथ ही यह संघर्ष शुरू हो जाता है। बच्चे को इन चीज़ों की चिन्ता करने की अक्ल नहीं है तो क्या, उसके पालकों को तो है, और उनकी चिन्ताएँ उसके जीवन पर छाई रहेंगी और उसे संक्रमित कर देंगी।

स्कूल बच्चों के बारे में जो फैसले करते हैं वे बहुत दूर तक बच्चों का पीछा करते हैं। मुझे नहीं लगता कि जिस स्कूल में मैंने पाँचवीं कक्षा पढ़ी थी उसके पास आज भी मेरा रिपोर्ट कार्ड सुरक्षित रखा होगा। मगर आधुनिक टेक्नॉलॉजी की बदौलत अब स्कूल बच्चे के बारे में जो कुछ लिखता है वह कहीं ज़्यादा टिकाऊ होता है। उसके पूरे जीवन काल में लोग पढ़ते रहेंगे कि उसका दूसरी कक्षा का या कोई भी शिक्षक उसके बारे में क्या कहता था। अतीत में शायद शिक्षक इन बातों को कहने के बारे में सोचते

तक नहीं या उन्हें इसकी अनुमति न होती। मेरा रिपोर्ट कार्ड सचमुच एक कार्ड था और उस पर ग्रेड के अलावा कुछ नहीं लिखा था। मगर कई अध्ययन बताते हैं कि आजकल बच्चों के स्कूल रिकॉर्ड हर तरह के बेसिर-पैर की, दुर्भावनापूर्ण, हानिकारक, छद्म-मनोवैज्ञानिक टिप्पणियों और निदानों से भरे होते हैं। कई बार ये टिप्पणियाँ और निदान बच्चे और उसके पालकों दोनों के बारे में होते हैं, और ऐसे लोगों के द्वारा लिखे जाते हैं जिनके पास इन्हें लिखने की कोई काबिलीयत नहीं है। मैंने पढ़ा है कि कुछ ज़िलों में वे चन्द सन्देहास्पद परीक्षण करके कुछ बच्चों पर *भावी अपराधी* (pre-delinquent) का लेबल चस्पाँ कर देते हैं, और यह सूचना पुलिस को दे देते हैं! कुछ प्रान्तों में ऐसे कानून बनाए जा रहे हैं कि पालक अपने बच्चों के स्कूल-रिकॉर्ड देख सकेंगे। मगर जिन प्रान्तों में ऐसे कानून हैं वहाँ के कुछ स्कूलों के लोगों ने मुझे बताया कि उन्होंने दो तरह के रिकॉर्ड रखना शुरू कर दिया है – एक पालकों के देखने के लिए और दूसरा “गोपनीय” यानी पालकों के *अलावा* पूरे समाज के देखने के लिए।

ऐसे और भी कई हानिकारक लेबल हैं जो आजकल स्कूल अपने अधिक से अधिक बच्चों पर लगाने लगे हैं। बातचीत के दौरान स्कूलों में कई छात्रों ने मुझे काफी खुश होकर बताया, “सामान्य शिक्षण में तो नौकरी मिलना बहुत मुश्किल है, परन्तु विशेष शिक्षण में बहुत नौकरियाँ हैं।” विशेष शिक्षण यानी उन बच्चों को पढ़ाना जिन्हें “विशेष” घोषित किया गया हो। पंचानवे प्रतिशत मामलों में इसका मतलब होता है कमज़ोर, पिछड़ा हुआ, या “सीखने की किसी अक्षमता से ग्रस्त”, या “भावनात्मक रूप से विचलित”। अपने दो-टूक यथार्थवाद में बच्चे उन्हें ठस या सिरफिरा कहते हैं। आज स्कूलों में ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों को ठस या सिरफिरा घोषित किया जा रहा है। आगे जब और ज़्यादा लोगों को ऐसे बच्चों से निपटने का प्रशिक्षण दिया जाएगा, तब और भी ज़्यादा बच्चों पर यह लेबल लगेगा। हाल ही में एक पूरे पन्ने के विज्ञापन में बताया गया था कि अमरीका में 10 फीसदी बच्चे सीखने की गम्भीर अक्षमता से ग्रस्त हैं। मैं यकीन से कह सकता हूँ कि पाँच वर्ष पहले यह आँकड़ा कहीं कम रहा होगा; उतने ही यकीन से यह भी कहा जा सकता है कि पाँच साल बाद यह कहीं ज़्यादा रहेगा। हाल ही में *न्यू यॉर्क टाइम्स* के शिक्षा परिशिष्ट के एक आलेख में बताया गया था कि एक स्कूल में निदान विशेषज्ञों ने कहा कि *स्कूल का प्रत्येक बच्चा* सीखने की अक्षमता से ग्रस्त है। ज़ाहिर है, इस तरह के लेबल लगाने और उपचार करने का सम्भावित बाज़ार बहुत

विशाल है। विशेष शिक्षा से सम्बन्धित लोग ज़रूर यह कहेंगे कि वे बच्चों पर ठस/सिरफिरा लेबल सिर्फ इसलिए लगा रहे हैं ताकि बच्चों की मदद कर सकें और बच्चे अपनी दिक्कतों के लिए खुद को दोष न दें। निस्सन्देह ऐसा ही होगा। मगर ये लेबल कभी मिटते नहीं, न तो बच्चे के सरकारी रिकॉर्ड से, और न बच्चे के दिमाग से, जो कि और भी बुरी बात है। मैंने चालीस की उम्र पार कर चुकी एक महिला को गहरी शर्मिन्दगी के साथ यह कहते सुना था कि वह सीखने की अक्षमता के कारण अमुक-अमुक काम नहीं करती। कितनी बार और कितनी शर्मिन्दगी के साथ उसने यह बात खुद से कही होगी? और अगले दस-बीस सालों में कितने लोगों पर स्कूल ये लेबल चस्पाँ करेंगे कि वे मानसिक विकलांग हैं या उन्हें ऐसी कोई लाइलाज बीमारी है?

यही काफी बुरी बात है कि स्कूल इतने बच्चों पर नई-नई किस्म के लेबल लगाते हैं, जो ज़्यादा समय तक टिके रहेंगे, ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को दिखेंगे, और इस तरह से ज़्यादा नुकसान करेंगे। मगर स्कूल तो बच्चों के जीवन में घुसने और उन पर कहीं अधिक नियंत्रण करने का प्रयास भी करते हैं। बचपन में मैं जिस स्कूल में गया वह हमसे काफी सीमित अपेक्षा करता था, और हम सबको पता होता था कि वे अपेक्षाएँ क्या हैं। हम में से कुछ बच्चे वह सब करने की कोशिश करते थे और कर पाते थे जो स्कूल हम से चाहता था; अन्य नहीं करते थे, या नहीं कर पाते थे। जैसे भी हो स्कूल हम पर बहुत हावी नहीं था। यह एक ऐसी जगह थी जहाँ हमें जाना पड़ता था, एक खेल था जिसे हमें, अच्छा-बुरा जैसा बने, खेलना पड़ता था, मगर यह हमारे जीवन का केन्द्र नहीं था।

आजकल स्कूल बच्चों से कहीं अधिक, कहीं बड़ी, और ज़्यादा गोलमोल अपेक्षाएँ करते हैं। कुछ ही समय पहले, एक मध्य-पश्चिमी, मध्यम वर्गीय, पूरी तरह मध्य-अमरीकी समुदाय ने, जो राजनीति में काफी “अनुदार” था, मुझे बताया था कि उनके बच्चों के किंडरगार्टन रिपोर्ट कार्ड में पूरे बासठ बिन्दु हैं। मैंने कहा कि आप मज़ाक कर रहे हैं, ऐसा नहीं हो सकता। उन्होंने मुझे “किंडरगार्टन चेक लिस्ट” बताई। उसमें वाकई बासठ बिन्दु हैं। प्रत्येक बिन्दु के लिए तीन प्रविष्टियों की जगह है – “प्रथम बैठक (नवम्बर)”, “द्वितीय बैठक (मार्च)”, “वर्षान्त”। बिन्दु 1-28 और 61-62 के बारे में कहा गया है कि इन्हें “नवम्बर मध्य से पहले पूरा कर लिया जाना चाहिए”। शेष बिन्दु मध्य मई के लिए हैं। पूरी लिस्ट यहाँ दे रहा हूँ:

किंडरगार्टन चेक लिस्ट

	प्रथम बैठक	द्वितीय बैठक	वर्षान्त बैठक
1	मैं हूँ		
2	मैं नियमित स्कूल आता हूँ।		
3	मैं स्कूल में प्रफुल्लित आता हूँ।		
4	मैं स्कूल में खुश हूँ।		
5	मैं “हाँ”, “कृपया”, “धन्यवाद”, “आपका स्वागत है” और “माफ कीजिए” कहता हूँ।		
6	मेरी बाथरूम की आदतें अच्छी हैं।		
7	मैं खुद कपड़े पहन सकता हूँ। (ज़िप, बटन, टाई वगैरह)		
8	मैं अपने कपड़े पहचान और सम्भाल सकता हूँ।		
9	मैं अपनी पुस्तकालय की किताबों और कमरे के उपकरणों की देखभाल करता हूँ।		
10	मैं स्कूल से नोट सावधानी से लाता, ले जाता हूँ।		
11	मैं दूसरों की मदद करता हूँ।		
12	जब मैं अन्दर होता हूँ तो अपनी “इनडोर आवाज़” में बोलता हूँ।		
13	मैं रुककर अपनी बारी का इन्तज़ार कर सकता हूँ।		
14	मैं साझेदारी के समय में सुनता हूँ।		
15	मैं अपने दोस्तों की बात सुनता हूँ।		
16	मैं अपने शिक्षक की बात सुनता हूँ।		
17	मैं सरल निर्देश सुन और समझ सकता हूँ।		
18	मैं अपना काम पूरा करता हूँ।		
19	मैंने अपनी कक्षा में दोस्त बनाए हैं।		
20	मैं अपना नाम पहचान सकता हूँ।		

किंडरगार्टन चेक लिस्ट (जारी)

	प्रथम बैठक	द्वितीय बैठक	वर्षान्त बैठक
21 मैं अपना नाम लिख सकता हूँ।			
22 मैं क्रेयॉन और पेंसिल को ठीक से पकड़कर इस्तेमाल कर सकता हूँ।			
23 मैं कैंची को ठीक से पकड़कर इस्तेमाल कर सकता हूँ।			
24 मैं दौड़ सकता हूँ, छलाँग लगा सकता हूँ, कूद सकता हूँ।			
25 मैं रस्सी कूद सकता हूँ, फेंक सकता हूँ, झेल सकता हूँ।			
26 मैं अपने आप ठीक से काम कर सकता हूँ।			
27 मैं ज़रूरत होने पर मदद माँगता हूँ।			
28 मैं समूह के सामने खुलकर बात कर सकता हूँ।			
29 मैं कहानी सुना सकता हूँ।			
30 मैं कहानी की घटनाएँ क्रम में बता सकता हूँ।			
31 मुझे कुछ कविताएँ मालूम हैं।			
32 मैं शब्दों की तुक मिला सकता हूँ।			
33 मैं वर्णमाला के कैपिटल अक्षरों को सही क्रम में जानता हूँ और पहचान सकता हूँ।			
34 मैं क्रम के बाहर भी वर्णमाला के कैपिटल अक्षरों को जानता, पहचानता हूँ।			
35 मैं वर्णमाला के छोटे अक्षरों को क्रम में जानता, पहचानता हूँ।			
36 मैं क्रम के बाहर भी वर्णमाला के छोटे अक्षरों को जानता, पहचानता हूँ।			
37 मैं अच्छी, साफ आवाज़ में बोलता हूँ।			

किंडरगार्टन चेक लिस्ट (जारी)

	प्रथम बैठक	द्वितीय बैठक	वर्षान्त बैठक
38	मैं एक-जैसी आवाज़ों को पहचान लेता हूँ।		
39	मैं भिन्न आवाज़ों को पहचान लेता हूँ।		
40	मैं सीख रहा हूँ कि किस अक्षर की क्या ध्वनि होती है।		
41	मैं चित्रों में अन्तर देख सकता हूँ।		
42	मैं शब्दों में अन्तर देख सकता हूँ।		
43	मैं दाएँ-बाएँ में अन्तर कर सकता हूँ।		
44	मैं बाएँ से दाएँ लिखता हूँ।		
45	मैं सप्ताह के दिनों के नाम बता सकता हूँ।		
46	मैं बता सकता हूँ कि अभी कौन-सा महीना और साल है।		
47	मैं अपना पता बता सकता हूँ।		
48	मैं घर से स्कूल का रास्ता जानता हूँ।		
49	मैं स्कूल और सुरक्षा के नियमों का पालन करता हूँ।		
50	मैं आठ बुनियादी रंग और उनके नाम जानता हूँ और उन्हें पहचान सकता हूँ।		
51	मैं अपना टेलीफोन नम्बर बता सकता हूँ।		
52	मैं दस तक गिन सकता हूँ।		
53	मैं पच्चीस तक गिन सकता हूँ।		
54	मैं 0 से 10 तक की संख्याएँ जानता हूँ, उन्हें पहचान सकता हूँ।		
55	मैं 20 तक की संख्याएँ जानता हूँ, उन्हें पहचान सकता हूँ।		

किंडरगार्टन चेक लिस्ट (जारी)

	प्रथम बैठक	द्वितीय बैठक	वर्षान्त बैठक
56	मैं 10 तक की संख्याएँ लिख सकता हूँ।		
57	मैं वृत्त, वर्ग, आयत और त्रिकोण, ये ज्यामितीय आकृतियाँ जानता हूँ।		
58	मुझे बड़े व छोटे शब्द पता हैं।		
59	मुझे ऊपर, नीचे, पर और बाजू के शब्द पता हैं।		
60	मैं बताए अनुसार उत्तर को जाँच सकता हूँ।		
61	मुझमें “मैं कर सकता हूँ” का रवैया है।		
62	मैं प्रतिदिन बेहतर काम करने की कोशिश करता रहता हूँ।		

इन सारी अपेक्षाओं के बारे में क्या कहा जाए? कुछ तो काफी स्पष्ट, साधारण और समझदारी वाली हैं, बशर्ते कि इन्हें बहुत गम्भीरता से न लिया जाए और उनका बहुत कठोरता से मूल्यांकन न किया जाए। अधिकांश इतनी गोलमोल हैं और उन्हें जाँचना या नापना इतना कठिन है कि शिक्षक का निर्णय पूरी तरह पसन्द-नापसन्द का मामला हो जाता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि शिक्षक की पसन्द-नापसन्द कोई गलत चीज़ है; कार्यरत शिक्षक के रूप में मेरी भी कई पसन्दें-नापसन्दें थीं। मगर इनका स्थान आधिकारिक दस्तावेज़ों में नहीं है। इनमें से कई अपेक्षाएँ तो मूर्खतापूर्ण हैं और उनका बच्चे के वास्तविक जीवन से या स्कूल के कथित काम से कुछ भी लेना-देना नहीं है। जैसे, “मैं केंची को ठीक से पकड़कर इस्तेमाल कर सकता हूँ”। क्या हम यह मानें कि जो बच्चा किंडरगार्टन में ठीक से केंची पकड़ना नहीं सीखता, या ज्यामितीय आकृतियों के नाम, या आठ (पता नहीं कौन-से) बुनियादी रंगों के नाम नहीं बता पाता, वह इन बातों को कभी नहीं सीख पाएगा, और इसकी वजह से गणित, या अँग्रेजी, या कुछ और सीख ही नहीं पाएगा? इनमें से कुछ अपेक्षाएँ गरीब व अश्वेत बच्चों के साथ भेदभाव को न्यौता देती हैं; जैसे, “मैं अच्छी, साफ आवाज़ में बोलता हूँ”, “मैं स्कूल में प्रफुल्लित आता हूँ”, या “मैं स्कूल में खुश हूँ”। ऐसी अपेक्षाएँ तो पूरी तरह मनहूस

और बर्बर हैं। इस बात से स्कूल का कोई मतलब नहीं होना चाहिए कि बच्चा स्कूल में प्रफुल्लित आता है या नहीं या वहाँ खुश है या नहीं – भले ही स्कूल यह पता करने का तरीका जानता हो, जो कि वह नहीं जानता। जिस चीज़ की माँग की जा रही है, और जिसके लिए पुरस्कार दिया जा रहा है, और प्रशिक्षित किया जा रहा है, वह है झूठी मुस्कराहटें, झूठे ठहाके, शिक्षक को खुश रखने का नकली व्यवहार। वैसे ही यह बच्चे के साथ अत्याचार है कि उसकी कोई गलती न होने के बावजूद उसे ऐसी जगह झेलने को कहा जाए। मगर यह माँग तो अक्षम्य है कि वह इसे पसन्द करने का नाटक भी करे।

कोई शायद यह कहे कि एकाध बिन्दु को छोड़ दें तो यह लिस्ट कोई बुरी नहीं है। ये दुनिया में बच्चे के प्रवेश का अवलोकन करने के ठीक-ठाक मार्गदर्शक बिन्दु हैं। सही है। किन्तु इनका उपयोग इस रूप में नहीं किया जाता। इनमें से अधिकांश बिन्दुओं पर बच्चों की बहुत बारीकी से जाँच की जाती है और उन्हें उनके प्रदर्शन और प्रगति के हिसाब से क्रमबद्ध किया जाता है। बैठकों में शिक्षक सकारात्मक चीज़ों पर ज़ोर नहीं देते, वे पालकों से यह नहीं कहते कि “बाकी बातों की चिन्ता मत कीजिए, धीरे-धीरे आ जाएँगी।” बल्कि इससे उलटा होता है। वे पालकों को उनके बच्चों की नाकामियों की एक लम्बी सूची थमा देते हैं, और उनसे चिन्ता करने का, इसके बारे में “कुछ करने का” आवाहन करते हैं, आग्रह करते हैं। उनके दोस्तों ने मुझे बताया कि कुछ पालक नवम्बर बैठक को लेकर परेशान हैं। जिस पिता ने मुझे सूची दी थी उन्होंने बताया कि नवम्बर में उनके बच्चे के किंडरगार्टन शिक्षक ने कहा था, “एक बात तो साफ है, आपका बच्चा कभी विद्वान नहीं बनेगा।” अपनी हैरत और गुस्से को भरसक छिपाते हुए उन्होंने शिक्षक से पूछा था कि *आठ हफ्तों में उसने* बच्चे के बारे में और क्या-क्या जान लिया है। स्कूलों और उनके शिक्षकों के प्रशिक्षण की हर चीज़ उन्हें यह सोचने को प्रोत्साहित करती है कि इस तरह के फैसले सुनाने के लिए पर्याप्त ज्ञान उनके पास है, और यह उनका अधिकार भी है और कर्तव्य भी कि वे हमेशा ऐसे फैसले सुनाएँ। बच्चे के जीवन या व्यक्तित्व या विचारों या भावनाओं का कोई हिस्सा ऐसा नहीं होता जिसे शिक्षक अपना इलाका न समझते हों, जिसमें दखल देने, ताक-झाँक करने, उसे आकार देने और उसका मूल्यांकन करने का उन्हें असीमित अधिकार न हों। और यह काम करने के लिए उन्हें जो औज़ार दिए गए हैं उनमें शक्तिशाली और खतरनाक दवाइयाँ भी हैं और रिश्वत,

धमकियों, अपमान जैसी नफीस व सूक्ष्म तकनीकें भी हैं। और ये उन सारे औज़ारों से ज़्यादा शक्तिशाली व कपटपूर्ण होते जाएँगे जिनके साथ अतीत के शिक्षक काम किया करते थे।¹ क्योंकि यह पक्की बात है कि हमारे व्यस्त शोधकर्ता इन्सानों को ढालने, आकार देने और नियंत्रित करने के बारे में जो कुछ भी सीखेंगे, उसे फौरन स्कूलों में लागू कर दिया जाएगा। उससे भी बुरी बात यह होगी कि इन्हें कम से कम उम्र से लागू किया जाएगा। शिक्षक संगठनों के कुछ प्रमुख पदाधिकारी अपने संगठनों के सदस्यों के लिए नौकरियाँ हासिल करने के उद्देश्य से (अन्य कई उतने ही बेकार विचारों के साथ) इस विचार को बढ़ावा दे रहे हैं कि सारे बच्चों को *अढ़ाई साल की उम्र से* स्कूल जाने को मजबूर किया जाना चाहिए। और शुरुआती बचपन की इस शिक्षा को सार्वजनिक स्कूलों के अधीन रखा जाना चाहिए। उनके पास इतनी राजनैतिक ताकत है कि शायद अपनी बात वे मंज़ूर करवा लेंगे। तो जिसे सिल्वरमैन “सहजता का क्षय, सीखने में आनन्द का क्षय, रचना करने में सुख का क्षय, या आत्मबोध का क्षय” कहते हैं, जिसका कहर फिलहाल छः वर्ष से बड़े बच्चों पर टूटता है, वह शायद जल्दी ही अढ़ाई वर्ष के शिशुओं पर बरपाया जाएगा।

“दी बेसिक्स” का मिथक और धोखाधड़ी

चहुँ ओर सुनाई पड़ता है कि स्कूल अब “बुनियादी हुनर” सिखाने की ओर “लौट रहे हैं” और “मापन योग्य उपलब्धियाँ” हासिल कर रहे हैं। जैसा कि मैंने स्पष्ट किया था, उनमें से अधिकांश ने यह काम कभी बन्द ही नहीं किया था – या यों कहें कि वे इसे करने की असफल कोशिश कर रहे थे। मगर मैं एक बार फिर स्पष्ट करना चाहूँगा, जैसा कि मैंने *बच्चे असफल कैसे होते हैं* में काफी विस्तार से किया था, कि आखिर हम सब “लौट” किस चीज़ पर रहे हैं।

प्रथम तीन पाँचवीं कक्षाएँ मैंने एक निहायत चुनावपसन्द और अभिजात्य निजी प्राथमिक स्कूल में पढ़ाई थीं। उन बच्चों के मोहल्लों और घरों को देखकर मेरा अन्दाज़ था कि अधिकांश की पारिवारिक आमदनी 30,000

1. इन औज़ारों के ब्यौरेवार, परिपूर्ण और भयावह विवरण के लिए देखें पैन्थेओन द्वारा प्रकाशित पीटर श्रेग व डियॉन डवोकी की पुस्तक *दी मिथ ऑफ दी हाइपरएक्टिव चाइल्ड*।

डॉलर प्रति वर्ष से ज़्यादा ही रही होगी। ऐसा कभी-कभार ही होता था कि 120 से कम आई.क्यू. वाले बच्चे को इस स्कूल में प्रवेश मिले। आम तौर पर ऐसा तब होता था जब उस बच्चे का भाई या बहन उस स्कूल में पढ़ रहा हो। संक्षेप में, यह स्कूल सर्वश्रेष्ठ विजेताओं के लिए था। कुछ मायनों में यह स्कूल प्रगतिशील और नवाचारी था। जैसे, अन्य बातों के अलावा, यह स्कूल छोटे बच्चों को अंक या अक्षर रूपी ग्रेड नहीं देता था (हालाँकि पढ़ने और अंकगणित के मानक उपलब्धि टेस्ट किए जाते थे)। किन्तु, जैसा कि स्कूल हमेशा कहता था, अंकगणित के मामले में वह प्रगतिशील या आधुनिक कदापि नहीं था। वह पुरानी शैली के गणना के हुनर सिखाने में विश्वास करता था। पहली कक्षा में बच्चे साल भर दस तक की संख्याओं के जोड़ और घटा करते रहते थे। कुछ और नहीं। दूसरी कक्षा में वे अपने पर थोड़ा फैलाते थे और बीस तक की संख्याओं के जोड़-घटा करते रहते। तीसरी कक्षा में वे गुणा सीखते और चौथी में भाग। पाँचवीं कक्षा में वे भिन्न सीखने की “तैयारी” से आते और मेरा काम उन्हें भिन्न सिखाना था।

गौरतलब है कि यह कठोर और पुरानी शैली का शिक्षण अत्यन्त कुशल शिक्षकों द्वारा किया जाता था, जिन्हें इसमें विश्वास था और जो काफी मेहनत से अपना काम करते थे। तो, इसका परिणाम क्या था? बहुत धीरे-धीरे मुझे यह समझ में आया कि पाँचवीं कक्षा के करीब आधे बच्चे छोटी-छोटी संख्याओं के जोड़-घटा भी अपनी उँगलियों या किसी समतुल्य उपकरण की मदद के बगैर विश्वसनीय ढंग से नहीं कर पाते थे। जैसे एक बच्ची ने बताया कि वह उँगलियों पर गिनने की बजाय कागज़ पर छोटे-छोटे बिन्दु लगाती है और बाद में मिटा देती है। उन्हें गुणा या भाग के बारे में वास्तव में कितना पता था, यह पता करने का साहस मैं कभी नहीं जुटा पाया। एक बच्ची ज़रूर याददाश्त में टिकी हुई है। जब वह पाँचवीं कक्षा में आई ही थी, तब उसके चौथी कक्षा के शिक्षक ने मुझे उससे मिलवाते हुए कहा था कि पहले उसे गुणा व भाग में थोड़ी दिक्कत होती थी मगर गर्मियों की कड़ी मेहनत और सघन ट्यूटोरिंग की बदौलत सारी समस्याएँ सुलझ गई हैं। उन्होंने मुझे गुणा और भाग के सवाल की एक मोटी अभ्यास पुस्तिका भी दिखाई। जाँच और रबड़ (eraser) के निशानों से पता चलता था कि उसके ट्यूटर ने हर सवाल उससे तब तक करवाया था जब तक कि वह सही न कर ले। अभ्यास पुस्तिका के आकार से लगता था कि उसने पूरी गर्मी रोज़ कई-कई घण्टे अंकगणित करते गुज़ारे होंगे। और

अब, मुझे बताया गया, वह जानती थी।

स्कूल खुले एक महीना भी न बीता होगा कि उसने निम्नलिखित सवाल प्रस्तुत किया। 32 का आधा निकालते हुए उसने लिखा था:

$$2\sqrt{32}$$

फिर:

$$\frac{1}{2\sqrt{32}}$$

$$\frac{2}{1}$$

फिर:

$$\frac{11+1}{2\sqrt{32}} \quad (11, \text{ बचा } 1)$$

$$\frac{2}{1}$$

यह सब उसने बगैर हिचक, बगैर मिटाए, और अपने उत्तर के प्रति रत्ती भर भी शंका के बिना लिखा था। वह पाँचवीं कक्षा के मेरे एक अन्य छात्र के समान थी जो मुझे लेमोनेड बॉय के नाम से याद है। उसने मुझे एक दिन बताया था कि एक-एक पाइंट के छः कर्पों में यदि प्रत्येक में दो-तिहाई लेमोनेड भरा हो तो उनमें कुल अठारह पाइंट लेमोनेड होगा, और यदि यह बात बकवास लगती हो तो भी यही सही उत्तर है क्योंकि “तरीके से करने पर यही उत्तर आता है।”

तो यह है उपलब्धि। मापन के मामले में क्या स्थिति है? सिद्धान्ततः मैंने अपने छात्रों के पिछले टेस्ट के अंक या रिपोर्ट नहीं देखी थीं। मैं उन्हें एक ताज़ा शुरुआत का मौका देना चाहता था, और उनके बारे में कोई भी विचार हमारे अपने साथ के आधार पर बनाना चाहता था। किन्तु धीरे-धीरे मेरी रुचि कुछ ऐसे छात्रों में बढ़ती गई जो जोड़ना-घटाना भी नहीं कर सकते थे, और नौ गुना सात को बाईस या चार गुना छः को इक्यासी या ऐसी ही कुछ अनर्गल बात बता सकते थे। क्या इस पर किसी का ध्यान नहीं गया था? तो मैंने उनके पिछले टेस्ट के अंक देखे। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हालाँकि उनके अंक कक्षा के औसत से कम थे, मगर बहुत कम भी नहीं थे। चौथी कक्षा में उन्होंने शायद 3.6 या 3.2 या शायद 2.8 या ऐसे ही कुछ अंक प्राप्त किए होंगे। उन्हें इतने अंक मिले कैसे जबकि

जो कुछ वे जानते थे वह 0.5 के आसपास था? उन्हें ये अंक उसी तरह से मिले थे जैसे देश के बाकी बच्चों को मिलते हैं। उनके शिक्षकों को चेता दिया गया था (मेरी ही तरह) कि उपलब्धि टेस्ट आ रहे हैं, और आदेश दिया गया था (मेरी ही तरह) कि बच्चों को इन टेस्टों के लिए अत्यन्त सघन कोचिंग दी जाए। हमने यही किया। हमने उन्हें लगभग प्रश्न पत्र बाँटे जाने तक कोच किया, रगड़ा। हमने उन्हें गणित के चाभी वाले खिलौनों में तब्दील कर दिया था, चाभी भरकर छोड़ दिया था। चाभी खत्म होने से पहले सबने टेस्ट के थोड़े-बहुत सवाल तो कर ही लिए, इसके बाद वे अज्ञान और भ्रम की अपनी सामान्य स्थिति में आ गए। मगर तब तक टेस्ट पूरा हो चुका था और अंक कागज़ों पर आ चुके थे। और स्कूल के पास सबूत था कि बच्चे कुछ न कुछ तो सीखे ही हैं। और हम शिक्षक एक और साल के लिए महफूज़ थे। ये हैं स्कूलों की “मापन योग्य उपलब्धियाँ” जिनकी ओर लौटने को हम उतावले हैं – छल, धोखाधड़ी, और झूठ। बच्चे वह सब नहीं सीख रहे हैं, कभी नहीं सीखे हैं, जो स्कूल दावा करते हैं कि वे पढ़ा रहे हैं। तब हमें यह सवाल पूछना चाहिए कि वे पढ़ा क्या रहे हैं, वे वास्तव में हैं काहे के लिए?

S-schools काहे के लिए हैं?

1965 में *हाउ चिल्ड्रन फेल* प्रकाशित होने के फौरन बाद एक शिक्षक ने मुझे पत्र लिखा था। पत्र का आशय कुछ यों था, “मैंने आपकी किताब पढ़ी, और मुझे अच्छी लगी। किन्तु एक बात आप नहीं जानते जो आपको पता होनी चाहिए। पिछले करीब तीस वर्षों से मैं न्यू यॉर्क शहर के सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ा रहा हूँ। पिछले तीस वर्षों से अपने साथी शिक्षकों के साथ मैं शिक्षा सम्मेलनों, प्रशिक्षण सत्रों, और कार्यशालाओं में जाता रहा हूँ, और आपके ही समान शिक्षा के अनगिनत नेताओं को बच्चे की गरिमा, निजी भिन्नताओं के महत्व, सकारात्मक आत्म-धारणा को बढ़ावा देने, और बच्चे की रुचि को विकसित करने, और बच्चे को डर की बजाय कौतूहल के आधार पर सीखने देने की बातें करते सुनता रहा हूँ। और पिछले तीस वर्षों से मैं और मेरे साथी अपनी कक्षाओं में जाते हुए सोचते हैं, ‘चलो, हकीकत में लौटें,’ और वही करते चले जाते हैं जो हम हमेशा से करते आए हैं। यानी रिश्त देकर, डराकर, या शर्मिन्दा करके बच्चों को वह सीखने को विवश करना जो किसी और ने तय किया है कि उन्हें पता होना चाहिए। आपको किस बिला पर लगता है कि आप इस सबको बदल सकते हैं?” कुछ वर्षों बाद जब मैं शैक्षिक सुधार सम्बन्धी एक बैठक में बोल रहा था, तब कमरे के पिछले भाग में बैठा एक स्थानीय स्कूल निरीक्षक अपनी कुर्सी से उठा और दरवाज़े की तरफ बढ़ते हुए हिकारत के साथ काफी ज़ोर से बोला ताकि सब सुन सकें, “चलो, हकीकत में लौटें।”

उन शिक्षकों और स्कूल निरीक्षक ने जिस हकीकत को देखा था वह आज, कुछ वर्षों बाद, मुझे दर्दनाक रूप से स्पष्ट हो गई है। सबसे बड़ी हकीकत तो यह है कि *S-schools* असफल नहीं हो रहे हैं। वे ठीक वही कर रहे हैं और बहुत अच्छे से कर रहे हैं जो अधिकांश लोग उनसे करवाना चाहते हैं। वे

अपने वास्तविक सामाजिक कार्य, लक्ष्य, मकसद जानते हैं और उन्हें अंजाम दे रहे हैं।

उनका सबसे पहला काम है बच्चों को वयस्कों की दुनिया से अलग-थलग रखना। सारे आधुनिक समाजों में बच्चे एक समस्या हैं। कोई उन्हें आसपास नहीं चाहता। माँएँ नहीं चाहती कि वे घर में मँडराते रहें, खासकर यदि वे काम करती हों। व्यापारी नहीं चाहते कि वे सड़कों पर घूमते रहें और नगद ग्राहकों के रास्ते में आएँ। मज़दूर उन्हें श्रम शक्ति में शामिल नहीं करना चाहते कि कहीं वे दुर्लभ नौकरियाँ लेकर मज़दूरी कम न करवा दें। किसी के पास बच्चों का कोई उपयोग नहीं है; उनके पास जाने को कोई जगह नहीं है, करने को कोई काम नहीं है। सारे वयस्क राज्य से एक स्वर में माँग करते हैं, “इन मनहूस बच्चों को हमारे सामने से हटा दो।” राज्य इसके जवाब में बच्चों को स्कूल जाने को विवश करने का कानून बनाकर उन्हें उपकृत कर देता है।

वैसे तो स्कूल कहते हैं कि अनिवार्य उपस्थिति का नियम इसलिए बनाया गया है ताकि बच्चे वे सारी महत्वपूर्ण बातें सीख लें जो स्कूलों में सिखाई जाती हैं। मगर बच्चों को तब भी स्कूल में जाना होता है जब स्कूल के टेस्ट दर्शाते हैं और स्वयं स्कूल स्वीकार करता है कि वे या तो कुछ नहीं सीख रहे हैं या जो कुछ स्कूल सिखाता है उसे पहले ही सीख चुके हैं। निहायत बिरले मामलों में ही छात्रों को कक्षा लाँघने की अनुमति मिलती है। उन्हें हर हाल में स्कूल में पूरा समय बिताना होगा, और यदि वे कुछ सीख पाए तो स्कूल की कछुआ चाल से ही सीखेंगे।

विजेता और पराजित

स्कूलों की एक ज़्यादा महत्वपूर्ण तथा वास्तविक सामाजिक भूमिका क्रम निर्धारण यानी रैंकिंग की है। अर्थात् बच्चों की ग्रेडिंग और लेबलिंग करना, उन्हें झुण्डों में बाँटना, विजेताओं और पराजितों में विभाजित करना। अतीत के अधिकांश समाजों की तरह सारे आधुनिक समाज कुछ विजेताओं और बहुत सारे पराजितों के समूहों में बँटे हुए हैं। कुछ “निर्णयकर्ता” हैं जो हुक्म देते हैं और तमाम वे लोग हैं जो इनकी तामील करते हैं। यह ज़रूर है कि यह बताना सदा आसान नहीं होता कि जीतने और हारने के बीच विभाजन रेखा कहाँ है। यह रेखा दिमाग में है। जो लोग सचमुच विजेता महसूस करते हैं वे विजेता हैं, बाकी लोग उनके बारे

में चाहे जो सोचें, और पराजित महसूस करने वाले पराजित हैं। जो लोग प्यार और गर्व से अपना मनपसन्द काम करते हैं, वे शायद गरीब होने के बावजूद खुद को विजेता मानेंगे। अन्य लोग, सम्पन्न और सफल होते हुए भी, शायद स्वयं को पराजित मानें क्योंकि वे अपने काम से नफरत करते हैं या अपने से ऊपर के लोगों से जलते हैं। अलबत्ता अधिकांश लोग मोटे तौर पर सहमत होंगे कि विजेता और पराजित में किस चीज़ का अन्तर होता है। विजेताओं को आम तौर पर पैसे की चिन्ता नहीं सताती, और वे अपनी ज़रूरत और चाहत की ज़्यादातर चीज़ें खरीद सकते हैं। विजेता अपने और अपने बच्चों के भविष्य की योजनाएँ बना सकते हैं, और इन्हें पूरा करने की उम्मीद कर सकते हैं। अधिकांश अन्य लोगों की तरह वे घटनाओं के मोहताज नहीं होते, हमेशा हादसों की कगार पर नहीं जीते। विजेताओं का अपने काम पर कुछ हद तक नियंत्रण होता है; वे हर समय दूसरों के बताए काम नहीं करते रहते। उनके जीवन में एकान्तता, जगह, विकल्प, गरिमा होती है। कानून उनकी चाकरी करता है। अन्य लोगों के साथ व्यवहार में लोग उनके साथ प्रायः ईमानदारी, शिष्टता और सम्मान के साथ पेश आते हैं। संक्षेप में कहें तो वे सोचते हैं, “मेरी भी कुछ हस्ती है। मेरे होने से अन्तर पड़ता है।”

दूसरी ओर, पराजितों के पास बहुत से विकल्प नहीं होते; वे भविष्य के लिए योजनाएँ नहीं बना सकते; अपनी व अपने परिवार की सुरक्षा के लिए लगभग कुछ नहीं कर सकते; अपने काम पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता, और उन्हें बताया गया काम करना ही होता है। अगले दशक में जो नौकरियाँ दी जाएँगी उनमें से 80 फीसदी ऐसी होंगी जिनके लिए कॉलेज डिग्री की ज़रूरत नहीं है। इन नौकरियों को करने वाले अधिकांश लोग स्वयं को पराजित समझेंगे, और यदि उन्होंने कॉलेज डिग्री हासिल करने में समय और पैसा लगाया होगा तो यह एहसास और भी ज़्यादा होगा।

विजेताओं और पराजितों में विभक्त समाज में शान्ति और स्थायित्व के लिए ज़रूरी होता है कि पराजितों को यकीन दिलाया जाए कि यह व्यवस्था ज़रूरी है, कि विजेताओं और पराजितों का यह चुनाव सही है, कि पराजित हारने के ही *काबिल* हैं। एक समय था जब विजेताओं और पराजितों का चयन जन्म नामक संयोग के आधार पर होता था। आधुनिक समाज इसके लिए बढ़ते क्रम में स्कूलों का सहारा लेते हैं। मगर जो लोग समाज को नियंत्रित करते हैं वे स्वाभाविक रूप से चाहेंगे कि चयन इस

ढंग से हो कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था न बदले। यानी अधिकांश विजेता विजेताओं के ही बच्चे रहें, और पराजितों के बच्चे पराजित ही रहें। लिहाजा स्कूलों को एक ऐसी दौड़ का संचालन करना होता है जिसमें जीतेंगे तो अधिकांशतः अमीरों के बच्चे ही, मगर अधिकांश गरीब लोग स्वीकार करेंगे कि दौड़ ईमानदारी से हुई। कुल मिलाकर स्कूलों ने यह काम बढ़िया ढंग से किया है।

कई शिक्षाविद् दलील देंगे कि ग्रेडों और टेस्टों का मकसद क्रमबद्ध करना नहीं है। वे तो बच्चों को सीखने में मदद के लिए हैं, और शिक्षकों की मदद के लिए हैं ताकि वे बच्चों के सीखने में मदद कर सकें। निस्सन्देह कई शिक्षक ईमानदारी से इस पर विश्वास करते हैं, जैसे कि बतौर एक T-teacher मैंने भी बरसों तक किया। मगर यह सच नहीं है। अपने काम के दौरान कोई भी जागरूक और विचारशील शिक्षक जल्दी ही समझ जाता है, जैसा कि मैंने समझा, कि डर सीखने में रोड़ा बन जाता है। कुशल सीखने वाले को दुनिया पर और अपने आप पर भरोसा होना चाहिए कि वह इससे जूझ सकता है। बच्चे असफल कैसे होते हैं मैंने बताया था कि इस आत्मविश्वास को खोने के बाद “कुशाग्र” बच्चे भी कैसा व्यवहार करने लगते हैं। नए अनुभवों की ओर बढ़ने की बजाय वे उससे दूर हटने लगते हैं। प्रायः असफलता के खतरे व शर्मिन्दगी से बचने के लिए वे उनके पास उपलब्ध एकमात्र तरीका अपनाते हैं, जानबूझकर असफल होना।

डर बच्चों (और वयस्कों) को न सिर्फ अपना दिमाग ठीक से इस्तेमाल करने से रोकता है, बल्कि लगभग निश्चित तौर पर, और एकदम जैविक स्तर पर, उनके दिमाग को काम करने से ही रोक देता है। यह सही है कि हम नहीं जानते कि जब हम अनुभवों को याददाश्त में तब्दील करते हैं, पुरानी बातों को याद करते हैं, और स्मृति के इन अनुभवों से कड़ियाँ व पैटर्न, एक दिमागी मॉडल बनाते हैं – संक्षेप में, जब हम सोचते हैं तो रासायनिक या विद्युतीय रूप में क्या होता है। अलबत्ता, जो कुछ भी होता है, डर उसे रोकता है। इसके मद्देनज़र मैं जानता था कि मैं तब तक अपने कमज़ोर छात्रों की मदद नहीं कर सकूँगा जब तक कि मैं उनका डर कम न कर दूँ और उनका कुछ आत्मविश्वास बहाल न कर दूँ। इसके लिए ज़रूरी था कि मैं उन्हें टेस्ट देना बन्द कर दूँ। टेस्ट का डर टेस्ट के कई दिनों पहले से उनके दिमाग को ठप्प कर देता था। डर की वजह से वे उतना भी नहीं कर पाते थे जितना वे अपने ज्ञान के आधार पर कर सकते थे। और टेस्ट के परिणाम से तो उन्हें यकीन हो जाता था कि वे कुछ

भी सीखने के काबिल नहीं हैं। यह सीढ़ी उन्हें सिर्फ नीचे ही ले जा सकती थी। इसे रोकने व पलटने का एकमात्र तरीका यह था कि मैं टेस्टिंग बन्द कर दूँ। मगर, अन्य स्कूलों की बनिस्बत ज़्यादा सहृदय होते हुए भी यह स्कूल मुझे इसकी अनुमति न देता। दरअसल, पर्याप्त टेस्ट न देने की वजह से मेरी आलोचना होती रही और अन्ततः मुझे बर्खास्त कर दिया गया। जब मैं कुछ दिनों के लिए टेस्ट देना बन्द कर पाता था, तब सबसे बदतर छात्र भी कुछ आत्मविश्वास, कुछ ताकत, और अक्लमन्दी हासिल कर पाते थे। मगर देर-सबेर मुझे अगला टेस्ट घोषित करना पड़ता और तब मेरे देखते-देखते बच्चे भयाक्रान्त, सुरक्षात्मक और बुद्धू नज़र आने लगते।

जब बच्चे नए क्षेत्रों में कदम रखें, नए जोखिम उठाएँ, तब एक शिक्षक के लिए बहुत ज़रूरी होता है कि वह उन्हें भावनात्मक सहारा दे। मैंने अपने छात्रों के साथ यही करने की कोशिश की – उन्हें अपने कुछ भयों के बारे में बात करने, और इस तरह से शायद उन पर विजय पाने को प्रोत्साहित करके। मगर जब मैं ही उनके डर का स्रोत था, तब मैं उन्हें भावनात्मक सहारा कैसे देता? यदि कोई और वे सारे टेस्ट और ग्रेड दे रहा होता, तो शायद मैं उन्हें इस समस्या से निपटने में मदद कर पाता। मगर टेस्ट मैं दे रहा था, उनकी उत्तर पुस्तिकाओं पर लाल-लाल निशान मैं लगा रहा था, गलत और फेल होने के अंक मैं दे रहा था। तब क्या आश्चर्य कि बच्चों का डर नहीं गया। बेशुमार अन्य T-teachers की तरह मैं भी सोचता था कि मेरे नेक इरादों के कारण बच्चे मुझसे डरने की बजाय मुझ पर भरोसा करने लगेंगे। मगर जब हफ्ते-दर-हफ्ते, महीने-दर-महीने मैं वे काम करता चला जाऊँ जो उनके लिए हानिकारक हैं, तो मेरे नेक इरादों का वे क्या करेंगे?

फेल करना S-schools की ज़रूरत है

S-schools कहते हैं, और स्कूलों से जुड़े कई लोग सचमुच मानते हैं, कि वे चाहते हैं कि सारे बच्चे सफल हों, कि वे वह सब सीख पाएँ जो स्कूल सिखाने का प्रयास कर रहे हैं। मगर यदि किसी दिन कहीं किसी शिक्षक ने अपने सारे बच्चों को वह सब सीखने में सफल कर दिया जो वह सिखा रहा है, तो उसे उन सबको “ए” ग्रेड देना होगा। जल्दी ही उसके उच्च अधिकारी का पैगाम आएगा कि सारे बच्चों को “ए” देने की क्या तुक है?

यदि उसने कहा कि उसने सही ग्रेड दी हैं और सचमुच उसने जो भी पढ़ाया वह सारे बच्चों ने सीख लिया है तो उससे कहा जाएगा, “तब तुम उन्हें पर्याप्त नहीं पढ़ा रहे हो, अपना स्तर बढ़ाओ, अपने छात्रों के सामने चुनौती खड़ी करो! ज़्यादा पढ़ाओ!” उसके छात्रों के पालक भी उसकी नाक में दम कर देंगे। जिन पालकों को लगता है कि उनके बच्चे सचमुच “ए” के काबिल हैं, वे कहेंगे, “जब तुम सारे बच्चों को “ए” दे दोगे तो मेरे बच्चे के “ए” की कीमत ही क्या रही? अच्छे कॉलेज उन पर ध्यान ही नहीं देंगे।” अधिकांश अन्य पालक कहेंगे, “मुझे पता है मेरा बच्चा “ए” के लायक होशियार नहीं है। जब तुम मुफ्त में “ए” बाँटोगे तो मैं उससे मेहनत कैसे करवाऊँगा? वह तो अब मटरगशती करेगा।”

आजकल हर कोई सबके लिए “अच्छी शिक्षा” की बात करता है। मगर हर बच्चे के लिए अच्छी शिक्षा एक असंगत बात है, निहित रूप से विरोधाभासी है। अधिकांश पालक जब S-schools से कहते हैं, “मेरे बच्चे को अच्छी शिक्षा दो”, तो उनका मतलब होता है, “ऐसा कुछ करो कि वह सब बच्चों से आगे निकल जाए!” यानी उसे विजेता बना दो। विजेता, मगर सबके साथ-साथ नहीं; उससे कोई फायदा नहीं होगा। उनका मतलब होता है कि उसे एक ऐसी दौड़ में विजयी बनाओ जिसमें अधिकांश बच्चे पराजित हों।

किसी भी नए T-teacher को पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि कोई नहीं चाहता कि सारे बच्चे जीत जाएँ। विश्वविद्यालय से लेकर प्राथमिक स्कूल तक में सबको बढ़िया ग्रेड देना मुश्किलें मोल लेने का अच्छा तरीका है, हो सकता है नौकरी से भी हाथ धोने पड़ें। एक बड़े राजकीय विश्वविद्यालय के एक शिक्षक ने मुझे एक पत्र भेजा। पत्र उसके डीन का था और उसमें कहा गया था कि अपने सब छात्रों को बढ़िया ग्रेड देकर वह शिक्षक चयन की प्रक्रिया को कमज़ोर कर रहा है, जो कि विश्वविद्यालय का प्रमुख काम है। एक कॉलेज में एक शिक्षक ने मुझे बताया था कि उनके विभाग प्रमुख ने विभाग के सारे सदस्यों को इत्तला दी थी कि अनुभव से पता चलता है कि छात्रों का थोड़ा-सा निश्चित प्रतिशत ही “ए” के काबिल होता है, उससे थोड़े ज़्यादा छात्र “बी” के काबिल होते हैं, उससे थोड़े ज़्यादा “सी” के, वगैरह। यदि विभाग के किसी सदस्य ने इन अनुपातों से अधिक संख्या में उच्च ग्रेड दिया तो इसे ग्रेड प्रणाली में “तोड़-फोड़” माना जाएगा। ऐसे अनुभव काफी आम हैं।

जो बात T-teachers पर लागू होती है, वह S-schools के लिए भी सही है। जब तक स्कूलों को ग्रेड देने की अनुमति है, तब तक वे ग्रेड न देने की जुर्रत नहीं कर सकते क्योंकि कोई ग्रेड न देना सबसे खराब ग्रेड देने के बराबर है। इसी तर्क के आधार पर वे सबको अच्छी ग्रेड देने, यानी अपने सब छात्रों को विजेता घोषित करने का जोखिम भी नहीं उठा सकते। आखिर वे नौकरियों और कैरियर के टिकट बाँट रहे हैं। जितनी ज़्यादा संख्या में वे अच्छे ग्रेड देंगे, इस टिकट की कीमत उतनी ही कम हो जाएगी। “सर्वोत्तम” कॉलेज और विश्वविद्यालय वे हैं जो यह कह सकें कि उनके मापदण्ड इतने ऊँचे हैं कि लगभग कोई भी छात्र उनको छू नहीं सकता।

कुटिल दौड़

स्कूल कहते हैं कि वे चाहते हैं कि सारे छात्र विजयी हों। इससे भी ज़्यादा जोश से वे कहते हैं कि वे चाहते हैं कि गरीब छात्र विजयी हों। मगर समाज को चलाने वाले लोग चाहते हैं कि उनके और उनके दोस्तों के बच्चे ही S-schools में और आगे चलकर समाज में जीतें। और वे यह निश्चित कर लेते हैं कि ऐसा ही हो। जब अलग-अलग सामाजिक वर्गों के बच्चे एक ही स्कूल में जाते हैं, तो लगभग हमेशा उन्हें अलग-अलग धाराओं में बाँट दिया जाता है, जैसे कॉलेज, व्यापार, व्यावसायिक। जहाँ भी ऐसी धाराएँ हैं, वहाँ यह देखा गया है कि इनका सीधा सम्बन्ध परिवार की आमदनी से होता है, सम्पन्नतम बच्चे सबसे ऊँची धारा और निर्धनतम बच्चे सबसे निचली धारा में।

स्कूल जो कुछ पढ़ाते हैं, जिन किताबों व सामग्रियों का वे उपयोग करते हैं, वे गरीबों की अपेक्षा सम्पन्न बच्चों के जीवन व अनुभवों के ज़्यादा करीब होती हैं। बच्चों के मूल्यांकन, खासकर भाषा के क्षेत्र में मूल्यांकन के जो पैमाने स्कूल इस्तेमाल करते हैं वे गरीबों की बनिस्बत सम्पन्न बच्चों के पक्षधर होते हैं। मैंने ऊपर जिस किंडरगार्टन रिपोर्ट कार्ड की बात की थी, उसमें बासठ शीर्षकों में से एक था, “मैं अच्छी, साफ अँग्रेज़ी बोलता हूँ।” इसका आशय यह निकलता है कि “मैं सम्पन्न बच्चे की तरह बोलता हूँ।” हो सकता है कि स्कूल मानते हों कि मानक अँग्रेज़ी – यानी सम्पन्न लोगों की अँग्रेज़ी – अन्य लोगों द्वारा बोली जाने वाली अँग्रेज़ी से “बेहतर” है, और गरीब बच्चों की बोली को “सुधारकर” वे वाकई उनकी

मदद कर रहे हैं। मगर वास्तव में वे गरीब बच्चों को अपने परिचित वयस्कों के समान बोलने पर दण्डित व ज़लील करते हैं। नतीजा यह होता है कि ये बच्चे कम से कम बोलते हैं और इस तरह से हुनरमन्द व धाराप्रवाह होने का अवसर गँवा देते हैं।

शुरू से ही, कम आमदनी वाले या गरीब बच्चों में से भी स्कूल और शिक्षक उन बच्चों को तरजीह देते हैं जो मध्यम वर्गीय या अमीर बच्चों की तरह दिखते-बोलते हैं। रे रिस्ट ने अपने एक लेख “स्टूडेंट सोशल क्लास एण्ड टीचर एक्सपेक्टेडेशन: दी सेल्फ फुलफिलिंग प्रोफेसी इन घेटो एजुकेशन” (*हार्वर्ड एजुकेशन रिव्यू*, अगस्त 1970) में सिर्फ काले लोगों के एक स्कूल में एक काले किंडरगार्टन शिक्षक के कामकाज का विवरण देते हुए बताया था कि कैसे उसने, स्कूल के प्रथम आठ दिनों में ही, अपनी कक्षा को शक्ल-सूरत, पहनावे, केश विन्यास, बोली वगैरह यानी मात्र बाहरी दिखावे के आधार पर तीन समूहों में बाँट दिया था (प्रत्येक समूह अलग-अलग मेज़ पर)। पहली मेज़ पर उसने सारे सकारात्मक निर्देश, मदद और प्रशंसा दी। अन्य मेज़ों के बच्चों से वह कभी-कभार बोलती भी थी तो आलोचना करने, धमकाने या सज़ा देने के लिए। कुछ दिन बाद उसने पहली मेज़ पर बैठे बच्चों को अन्य बच्चों की हँसी उड़ाने और उनकी गलतियाँ ठीक करने की अनुमति भी दे दी। यह समूह व्यवस्था पूरे तीन साल तक, जब तक रिस्ट ने देखा, लगभग वैसी की वैसी रही; मात्र एक बच्चा निचले समूह से ऊपरी समूह में पहुँचा।

अपनी एक निहायत संवेदनशील व सहानुभूतिपूर्ण किताब *दी हिडन इन्जरीस ऑफ क्लास* में रिचर्ड सेनेट और जोनाथन कॉब ने एक गोरे मज़दूर वर्ग के S-school की दूसरी कक्षा में यही प्रक्रिया बताई है:

इस कक्षा में दो बच्चे थे, फ्रेड और विन्सेंट, जिनकी शक्ल-सूरत बाकी से अलग थी: उनकी पोशाक तो बाकी बच्चों से बहुत बेहतर नहीं थी, मगर उस पर इस्तरी की जाती थी और शायद उसका रख-रखाव भी बेहतर होता था; गहरे रंग वाले इतालवी बच्चों की कक्षा में ये दो बच्चे सबसे गोरे थे। शुरू से ही शिक्षक ने इन दो बच्चों को अलग छाँट लिया था, जिसका मतलब यह था कि ये बच्चे कक्षा की तहज़ीब में उसके अपने मानक से सर्वाधिक मेल खाते थे। उनसे वह विशेष गर्मजोशी से बात करता था। उसने कभी खुलकर अन्य बच्चों से तुलना करके उनकी तारीफ नहीं की थी, मगर यह सन्देश सहज

ही पहुँच गया था कि वे अलग हैं, बेहतर हैं।...तब तक (वर्ष के अन्त में) कक्षा में उनका काम भी सबसे अच्छा हो चुका था। अन्य बच्चों ने यह गुप्त संकेत ग्रहण कर लिया था कि उनके प्रदर्शन का स्वागत उतने उत्साह से नहीं होगा।

यह मान लेना आसान है कि शिक्षक नकचढ़े होते हैं, इसलिए ऐसा व्यवहार करते हैं। मगर सेनेट और कॉब का कहना है कि मामला शायद इतना ही नहीं है:

शिक्षक एक भयानक अस्तित्ववादी दुविधा में होते हैं। यह सही है कि वे अपने अधिकांश छात्रों के खिलाफ “पूर्वाग्रह” से ग्रस्त होते हैं; यह भी सही है कि अन्य इन्सानों की तरह वे भी अपने काम की गरिमा में विश्वास करना चाहते हैं, चाहे उन्हें अपने काम के हालात कितने ही मुश्किल जान पड़ें।...किसी भी शिक्षक के लिए ज़रूरी है कि कम से कम कुछ छात्र तो जवाब दें ताकि उसे लगे कि उसकी ताकत *वाजिब* है। ये कुछ छात्र पुष्टि कर देते हैं कि अन्य लोगों को प्रभावित करने की उसकी ताकत वास्तविक है, कि वह सचमुच कुछ अच्छा कर सकता है। लिहाज़ा, छात्रों के “निम्न” वर्ग के डर से क्षमताओं के दो समूह छँटना अपनी यह छवि बनाने का प्रयास है कि वह मात्र एक बॉस नहीं बल्कि अधिकारी है।

सार्वजनिक S-school में विजयी होने के लिए एक गरीब बच्चे को किसी तरह निचले समूह को झाँसा देना होगा, अपने शिक्षकों के पूर्वाग्रहों और अपमान से बचना होगा या उन्हें अनदेखा करना होगा, सीखने का जोखिम भावनात्मक सहारे के बगैर उठाना होगा, अपने पराजित दोस्तों की बढ़ती शत्रुता को झेलना होगा, और ऐसी शैक्षिक सामग्री में अर्थ खोजना होगा जिसका उसके जीवन या अनुभवों से कोई सम्बन्ध नहीं है या बहुत कम सम्बन्ध है। इससे भी बढ़कर उसे मध्यम वर्ग की अँग्रेज़ी बोलना सीखना होगा, जबकि स्कूल से बाहर वह इसे शायद ही कभी सुनता हो, और स्कूल में उसे बोलने न दिया जाता हो। ज़ाहिर है, यह सब कर पाने की राह में गम्भीर बाधाएँ हैं। किन्तु यदि वह हाई स्कूल में विजेता दायरे में पहुँच भी जाता है, तो आगे कई रोड़े हैं। कॉलिन ग्रीअर ने कुछ साल पहले बताया था कि हाई स्कूल के *ऑनर के छात्रों* में से जो पारिवारिक आमदनी के हिसाब से सर्वोच्च 25 प्रतिशत में हैं, उनकी ग्रेजुएट स्कूल में पहुँचने की सम्भावना निम्नतम आमदनी वाले 25 प्रतिशत परिवारों के छात्रों की

बनिस्वत पाँच गुना अधिक होती है। आज तो यह अन्तर यकीनन ज़्यादा होगा क्योंकि उच्च शिक्षा का खर्च गरीबों की आमदनी की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से बढ़ा है। और यह अन्तर और भी ज़्यादा होगा यदि हम ऊपर के 10 फीसदी या 5 फीसदी परिवारों को देखें, क्योंकि ज़्यादातर ग्रेजुएट छात्र इसी तरह के परिवारों से आते हैं।

यह मानना मासूमियत होगी कि S-schools का इस्तेमाल सामाजिक ढाँचे को बदलने के लिए किया जा सकता है, आमूल परिवर्तन की तो बात ही जाने दें। जो स्कूल व्यवस्था खेल के नियमों में ऐसे परिवर्तन करे कि गरीब बच्चों को अमीर बच्चों के बराबर या अधिक विजयी होने के अवसर मिलें, वह ज़्यादा देर नहीं चलेगी। हाल में हार्वर्ड के प्रोफेसर डेविड मैकलेलेण्ड ने कहा था कि गरीबों को दबाए रखने के लिए मध्यम वर्ग ने जिस सबसे जोरदार हथियार का आविष्कार किया है वह है आई.क्यू.। सही है। मगर और क्या उम्मीद थी? ऐसे टेस्ट उपलब्ध हैं जो अत्यन्त गरीब बच्चों के अनुकूल हैं। मगर जो स्कूल ऐसे टेस्टों का उपयोग करेगा उसके ग्रेडों और टिकटों की कीमत गिर जाएगी और जल्दी ही वहाँ कोई अमीर बच्चा नज़र नहीं आएगा। कोई स्कूल यह जोखिम नहीं उठाएगा; किसी भी अन्य कारोबार की तरह उन्हें भी गरीबों की अपेक्षा अमीर ग्राहक चाहिए। यह बात कॉलेज और विश्वविद्यालयों पर भी लागू होती है। यदि वे बहुत सारे गरीब बच्चों को दाखिला दे दें तो उनके पूर्व छात्र शिकायत करने लगते हैं, और आर्थिक योगदान देने से इन्कार कर देते हैं। सरकारी संस्थाओं में सम्पन्न व शक्तिशाली लोग इस तरह का दबाव स्कूल के शासन-मण्डल के सदस्यों और विधायिका के माध्यम से डालते हैं। यह भी उतना ही कारगर होता है। प्रायः, जैसा कैलिफोर्निया में देखा जा सकता है, इस दबाव के कारण एक ऐसी सरकारी विश्वविद्यालय व्यवस्था तैयार होती है जो बड़े पब्लिक स्कूलों के समान ही वर्ग आधारित होती है।

स्थिति लगभग वैसी ही होती है जैसी काम और नौकरियों के क्षेत्र में है। अधिकांश गोरे मज़दूर मानेंगे कि एक काले व्यक्ति को भी नौकरी पाने का अधिकार किसी भी अन्य व्यक्ति के बराबर ही होना चाहिए। *मगर मेरी नौकरी पाने का नहीं!* अधिकांश लोग मानेंगे कि गरीब और अश्वेत बच्चों को भी समाज में ऊपर उठने का अवसर सबके बराबर होना चाहिए। *मगर तब नहीं जब इसका मतलब यह हो कि मेरे बच्चे को नीचे जाना पड़ेगा!* किन्तु इसका मतलब यही होता है। जिस तरह के हमारे समाज हैं, उनमें विजेताओं के स्थान निश्चित संख्या में हैं। दुनिया के सारे

स्कूल कार्यक्रम मिलकर भी इससे ज़्यादा स्थान नहीं बना सकते। जब कोई सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता है तो किसी दूसरे को नीचे आना ही पड़ता है।

पराजित की तरह जीना सीखना

S-schools का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य, जैसा कि स्कूलों के लोग स्वयं बताते हैं, “बच्चों को यथार्थ के लिए तैयार करना है”। अर्थात् उन्हें एक ऐसे जीवन, और उससे भी ज़्यादा ऐसे काम के लिए तैयार करना जो आधुनिक समाज के अधिकांश लोग करते हैं। *दी मेकिंग ऑफ ए मोरोन* में निएल ब्रेनेन बताते हैं कि ऑस्ट्रेलिया में 50 से कम आई.क्यू. और आठ वर्ष से कम मानसिक उम्र वाले मन्द-बुद्धि किशोर बच्चे द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान तमाम किस्म के औद्योगिक काम करते थे, और सिर्फ कामचलाऊ नहीं बल्कि अच्छी तरह से और भरपूर मन्द ढंग से। आधुनिक समाज में तकनीकी दक्षता की ज़रूरतों और इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए लोगों को तैयार करने के लिए शिक्षा की अनिवार्यता के बारे में सारी लफ्फाज़ी के बावजूद सच्चाई यह है कि ज़्यादातर आधुनिक काम बेवकूफी का है। इसके लिए किसी किस्म के प्रशिक्षण, हुनर, अक्ल या विवेक की ज़रूरत नहीं होती। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हमने देखा कि अत्यन्त कुशलतापूर्ण औद्योगिक कामों को, यहाँ तक कि उन कामों को भी जिन्हें सीखने में लोगों को कथित रूप से वर्षों लग जाते थे, सामान्य बुद्धि वाले अधिकांश लोग चन्द महीनों में सीख सकते हैं।

यह कोई संयोग नहीं बल्कि इरादतन है कि आधुनिक काम बेवकूफी का है। जब फ्रेडरिक टेलर ने पहली बार वैज्ञानिक प्रबन्धन के बारे में लिखा था तो प्रमुख बिन्दु यह था – जिस पर उनके चले आज तक ज़ोर देते हैं – कि मज़दूर की बुद्धि या विवेक पर कुछ मत छोड़ो। मकसद यह था और आज भी है कि यथासम्भव मज़दूर को मशीन में तब्दील कर दिया जाए, जो एक ही काम को, कुछ सरलतम गतियों या क्रियाओं के ज़रिए, हूबहू किसी और के दिखाए अनुसार करता जाए। मज़दूर से यह जानने की अपेक्षा नहीं की जाती और न ही उसे यह पूछने को प्रोत्साहित किया जाता है कि उसके काम का अर्थ क्या है, वह अन्य लोगों के काम के साथ कैसे जुड़ता है, और किस चीज़ को बनाने के लिए या किस मकसद से किया जा रहा है, या इसका परिणाम क्या है। दरअसल वह इसके बारे में जितना कम जाने, उतना अच्छा। उसके श्रम संगठनों ने भी उसे अपने आपको

और अपने श्रम को बेचने की एक वस्तु (जिसे वह अधिकतम कीमत पर बेचेगा) के रूप में देखने को प्रोत्साहित किया।

कुछ देशों में कुछ लोग काम को ज़्यादा विविध व चुनौतीपूर्ण बनाने, और मज़दूरों को उसमें ज़्यादा विकल्प तथा नियंत्रण देने के तरीकों की तलाश कर रहे हैं। किन्तु यदि हम लोगों की खुशहाली और विकास की बजाय उत्पादकता, कार्यक्षमता, औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की ही चिन्ता करते रहेंगे तो यह आन्दोलन ज़्यादा दूर तक नहीं जाएगा। लोगों को यह सवाल पूछने देने में कि “क्या यही इस काम को करने का सबसे अच्छा तरीका है?” खतरा यह है कि कल वे यह भी पूछ सकते हैं कि “क्या इस काम को करने का कोई फायदा है?” मसलन, स्वीडन के वोल्वो ऑटो संयंत्र में एक नई उन्नत एसेम्बली लाइन पर काम करने वाला एक मज़दूर सीधा मामले के मर्म तक पहुँच गया। जब उससे पूछा गया कि क्या पुराने की अपेक्षा नया तरीका उसे बेहतर लगता है, तो उसका जवाब था, “हाँ, मगर कैसे भी देखो, कारें जोड़-जोड़कर तैयार करना धिनौना काम है।”

कुछ जनमत संग्रहों से पता चला है कि अधिकांश मज़दूर अपने काम से “सन्तुष्ट” हैं। सम्भवतः इसका मतलब यह नहीं है कि वे इसे पसन्द करते हैं, बल्कि यह है कि उन्होंने अपने काम के आगे घुटने टेक दिए हैं। वे खुश हैं कि उनके पास काम है, और खुश हैं कि उनकी हालत बदतर नहीं है। ब्रेनेन, हार्वे स्वैडोस, स्टड्स टर्केल और बारबरा गारसन वगैरह, जिन लोगों ने मज़दूरों से उनके काम के बारे में गहराई से बात की है, वे बताते हैं कि बहुत ही कम मज़दूर ऐसे हैं जो अपने काम को पसन्द करते हैं। 1960 के दशक के अन्त में एक छात्र ने, जिसने पाँच महीने तक एक ऑटो एसेम्बली संयंत्र में काम किया था, मुझे बताया था कि जो कुछ उसने देखा था और उसके साथी मज़दूरों ने उसे बताया था, उससे लगता है कि संयंत्र के अधिकांश लोग दिन का बोझ झेलने के लिए एम्फीटेमीन्स (एक औषधि) लेते हैं।

न्यू टाइम्स पत्रिका के 12 दिसम्बर 1974 के अंक में एक तरकारी प्रोसेसिंग कारखाने में काम का भयानक विवरण छपा था। लेखिका एक युवती थी, जो कई अन्य अधेड़ महिलाओं के साथ एक लाइन पर काम करती थी। इनका काम था एक गिलोटीन-नुमा मशीन की मदद से फूलगोभी में से उसका फूल अलग करना। वहाँ काम करने वाली अधिकांश महिलाएँ अपनी एकाध उँगली या अँगूठे से हाथ धो चुकी थीं। उन्हें लम्बे समय तक

एक कांक्रीट फर्श पर खड़े रहना होता था और वे मात्र इतना हिल-डुल सकती थीं कि अपना वज़न एक पैर से दूसरे पर डाल दें। उनके पैर और कूल्हे दुखने लगते थे। जब बीच में उन्हें थोड़ी-सी छुट्टी मिलती, तब तक यह दर्द असहनीय हो जाता था। कुछ पुरानी मज़दूर तो दर्द व ऊब से बचने के लिए लगातार गिनती रहती थीं।

काम पर मज़दूर सिर्फ़ उँगलियाँ ही नहीं गँवाते। 27 अप्रैल 1975 को एसोसिएटेड प्रेस के एक आलेख में कहा गया था:

सरकार द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि आठ से 150 व्यक्तियों को रोज़गार देने वाले छोटे कारोबारों में काम करने वाले हर चार में से एक मज़दूर किसी व्यवसायजन्य रोग से पीड़ित था, और इनमें 89 प्रतिशत की खबर श्रम विभाग को नहीं दी जाती जबकि कानूनन ऐसा करना ज़रूरी है...

अध्ययन में जिन बीमारियों के नाम हैं उनमें कार्यस्थल पर एस्बेस्टॉस व अन्य रेशेदार धूल से होने वाली साँस की जीर्ण बीमारियाँ, शोरगुल की वजह से श्रवण क्षमता का हास, अवरक्त विकिरण की वजह से मोतियाबिन्द, और खून में सीसे का अवशोषण बढ़ना वगैरह शामिल हैं।

और रैशेल स्कॉट ने *मस्सल एण्ड ब्लड* (ई. पी. डटन, 1974) में बताया है कि व्यावसायिक सुरक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी राष्ट्रपति की रिपोर्ट (1972) में अनुमान लगाया गया था कि “प्रति वर्ष लगभग एक लाख मौतें व्यवसायजन्य बीमारियों की वजह से होती हैं और हर साल अक्षमताकारी व्यावसायिक बीमारियों के 3,90,000 नए रोगी सामने आते हैं।”

अलबत्ता कोई नौकरी न होना खराब से खराब काम से भी बुरा है। इस वक्त (मई 1975) 82 लाख लोग बेरोज़गार हैं। इसके अलावा 11 लाख लोग ऐसे हैं जिन्होंने नौकरी की निराशाजनक तलाश बन्द कर दी है और बेरोज़गारी के आँकड़ों से बाहर हो गए हैं। और कई लाख लोग प्रभावी रूप से बेरोज़गार हैं क्योंकि कानून (या कोई) कहता है कि उनकी उम्र काम करने के लिए बहुत कम या बहुत ज़्यादा है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि मानवीय पीड़ा, ऊब (किसी भी काम की ऊब से ज़्यादा), शर्म, निराशा, आतंक, हतोत्साहित समुदायों, टूटे हुए परिवारों, और पिटते हुए बच्चों के रूप में इन आँकड़ों के क्या मायने हैं। लाखों लोगों को अपना

अधिकांश जीवन इस बेरोज़गारी, निकम्मेपन और भीषण गरीबी के खतरे या सच्चाई के साथ, और यह जानते हुए गुज़ारना होता है कि उनमें इससे बचने या इसे रोकने का सामर्थ्य नहीं है।

छोटे बच्चों की जिज्ञासा, ऊर्जा और उत्साह के बारे में, या जो कुछ वे करते हैं उसे यथासम्भव अच्छे से अच्छा करने की इच्छा के बारे में हम जो कुछ जानते हैं और देख सकते हैं, उसके मद्देनज़र सवाल सिर्फ इतना है कि कैसे उन्हें इस तरह के काम करने, इस तरह का जीवन जीने, और इसे सहने के लिए तैयार किया जा सकता है? यह करिश्मा ही S-schools का तीसरा महत्वपूर्ण सामाजिक काम है। आखिर अधिकांश लोग यही तो चाहते हैं। पिछले वर्षों में किए गए कई जनमत संग्रहों से पता चलता है कि उनके बच्चे चाहे जैसे स्कूल में जाते हों, पालक चाहते हैं कि उन्हें “ज़्यादा अनुशासन” सिखाया जाए। एक मिडवेस्टर्न टैक्सी ड्राइवर ने मुझे इसका कारण समझने में मदद दी। उसने बताया कि उसके तीन बच्चे हैं, तीनों बड़े हो चुके हैं। मैंने पूछा कि वे क्या करते हैं। लम्बी खामोशी के बाद उसने बताया, “इतना है कि वे जेल नहीं गए।” ये मुद्रित शब्द उसकी आवाज़ की मायूस निराशा और मायूस गर्व को बयान नहीं कर सकते। अपने बच्चों के विजेता होने की उम्मीद तो वह काफी पहले छोड़ चुका था। मगर कम से कम वे बुरी तरह पराजित – आवारा, शराबी, नशीली दवाइयों के लती, हिप्पी, शैतान या अपराधी – नहीं हैं। हो सकता है कि उसने अपने जीवन में ज़्यादा कुछ नहीं किया और शायद करेगा भी नहीं, मगर कम से कम उसने अपने बच्चों की परवरिश इस तरह की है कि वे बदमाश नहीं हैं। यह बात बहुत कम लोग कह पाएँगे। इसमें उसे स्कूलों से भी मदद मिली है। उसके ही समान स्कूल भी जानते हैं कि बच्चों को लगातार बताना होता है कि वे क्या करें, और उनसे यह सब करवाना होता है, फौरन, बगैर ना-नुकर के, पलटकर जवाब दिए बगैर। और उसके बच्चों ने यह सब अच्छे से सीख लिया था, और आज वे जेल में नहीं हैं।

मामला इससे ज़्यादा गहरा है। अधिकांश लोग स्वाभाविक रूप से चाहेंगे कि उनके बच्चे पराजित की बजाय विजेता हों। मगर दोनों के लिए रास्ता एक ही है। सेनेट और कॉब ने *दी हिडन इन्जरीस ऑफ क्लास* में वे कारण स्पष्ट किए हैं जिनके चलते अधिकांश पराजित मानते हैं, और अपने पराजित जीवन में कुछ अर्थ व गरिमा बचाने के लिए उन्हें मानना होता है, कि विजेता की हैसियत संघर्ष, कष्ट और कुर्बानी का फल है। उन्हें लगता है, और वे अक्सर कहते भी हैं, “काश, बचपन में मैं ज़्यादा कड़ी

मेहनत करता; काश, मेरे घर वाले या शिक्षक मुझसे कड़ी मेहनत करवाते, तो मैं आज कुछ और होता, मुझे यह बेकार काम नहीं करना पड़ता, हमेशा और लोगों के हुक्म नहीं सुनना पड़ते। खैर, मैं अपने बच्चों को यह गलती नहीं दोहराने दूँगा। मैं चाहता हूँ कि उनके शिक्षक उनसे कड़ी मेहनत करवाएँ ताकि वे जीवन में मुझसे अच्छे बन पाएँ। मैं चाहता हूँ कि इसके लिए जो भी करना पड़े, वे करें। यदि बच्चों से मेहनत करवाने के लिए उनकी पिटाई भी करनी पड़े, तो ठीक है, कोई बात नहीं।”

दूसरी ओर, देश भर के सम्पन्न और “संरक्षणवादी” विजेता पालक अपने बच्चों को अतिपरम्परावादी स्कूलों में डाल रहे हैं, जहाँ उन्हें छोटे से छोटे अपराध के लिए भी दण्डित किया जाता है। आखिर वे अपने बच्चों के साथ ऐसा सलूक क्यों करवाना चाहते हैं, जबकि यह लगभग तय है कि वे विजेता होंगे? एक तो इसलिए कि वे भी मानते हैं कि सफलता और खुशहाली मात्र संघर्ष, कष्ट और कुर्बानी से ही हासिल की जा सकती है। इसके अलावा, उन्हें यह भी बताया गया है कि वियतनाम युद्ध और अमरीकी समाज में फिज़ूलखर्ची, भ्रष्टाचार और अन्याय का विरोध करने और उनके खिलाफ संघर्ष में ज़्यादातर अमीर बच्चे, और उनमें से भी हमारे सबसे अभिजात्य स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के बच्चे सबसे आगे थे। उनके पालक नहीं चाहते कि इस तरह के विरोध और हों। इसे जल्द-से-जल्द रोकने का सबसे अच्छा स्थान स्कूल है, और सबसे अच्छा तरीका डण्डा है। आज अपने प्राचार्य की आज्ञा का पालन करना सीखो, और कल तुम राष्ट्रपति की आज्ञा मानोगे, वह चाहे तुम्हें कुछ भी करने को क्यों न कहे।

सभी S-schools को क्या सिखाना होगा

S-schools कई चीज़ें सिखाते हैं। जैसे:

- 1) आधिकारिक लिखित पाठ्यक्रम यानी अँग्रेज़ी, गणित, सामाजिक अध्ययन, विज्ञान वगैरह।
- 2) ऐसे विचार और रवैये जो पाठ्यक्रम में तो नहीं हैं मगर स्कूलों की सामग्री और पाठ्य पुस्तकों में कहे जाते हैं या निहित होते हैं।
- 3) ऐसे विचार और रवैये जो पाठ्यक्रम में तो नहीं हैं मगर शिक्षकों द्वारा जानबूझकर व सोच-समझकर सिखाए जाते हैं।
- 4) शिक्षकों द्वारा अचेतन ढंग से सिखाए जाने वाले विचार व रवैये, क्योंकि उनका इन में इतना विश्वास होता है कि इनके सम्प्रेषण पर उनका कोई बस नहीं रहता।

कुछ विचार ऐसे भी हैं जो इनमें से एक से अधिक समूहों में आ सकते हैं। मसलन क्रमांक 2 के कई विचार क्रमांक 3 व 4 में आएँगे। आम तौर पर स्कूल और शिक्षक जिस सामग्री व पाठ्य पुस्तकों का उपयोग करते हैं, वे उनकी अधिकांश धारणाओं का समर्थन करती हैं। इसके अलावा, आम तौर पर शिक्षक सरकारी पाठ्यक्रम का समर्थन करते हैं। यदि इसे बदलने की छूट हो, तो अधिकांश शिक्षक इसे जस का तस रहने देंगे।

इन विचारों और रवैयों, S-schools के गोचर-अगोचर पाठ्यक्रम के बारे में काफी कुछ कहा गया है। विचारों और रवैयों के सन्दर्भ में शिक्षक शिक्षक के बीच और उससे थोड़ा कम स्कूल स्कूल के बीच अन्तर होते हैं। मोटे तौर पर स्कूल और शिक्षक समुदाय, क्षेत्र व राष्ट्र के आम रवैयों और पूर्वाग्रहों से इत्तेफाक रखते हैं और वही सिखाते भी हैं। उनका चरित्र मध्यम “संरक्षणवादी” होता है और शायद वे राजनैतिक मध्यमार्ग से थोड़ा दक्षिण

में होते हैं। उदारवादी तथा आमूल परिवर्तनवादी (radical) आलोचक, मेरे ख्याल में उचित कारणों से, यह आरोप लगाते रहे हैं कि स्कूल कुल मिलाकर अश्वेत लोगों, महिलाओं, शारीरिक श्रम करने वालों, और गरीबों के प्रति अपमान; एक संकीर्ण, अन्धी, और सैन्य देशभक्ति; सम्पत्ति और सत्ता के प्रति अति-सम्मान; और कठोरता, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, और हिंसा के प्रति प्रेम सिखाते हैं। अन्य आलोचक, खासकर ग्रामीण इलाकों में, कहते हैं कि स्कूल अक्सर अनेतिकता, नास्तिक विज्ञान, और समाजवाद तथा उससे भी खराब बातें सिखाते हैं। स्कूल पाठ्यक्रम के उपरोक्त चार बिन्दुओं के बारे में मैं एक ही बात कहना चाहता हूँ कि यदि S-schools के लोग चाहें तो इन सबको बदल सकते हैं। मेरा ज़्यादा सरोकार तो स्कूल पाठ्यक्रम के पाँचवें बिन्दु से है, जो S-schools सिर्फ इसलिए सिखाते हैं कि वे S-schools हैं, यानी उन्हें यह अधिकार है कि वे बच्चों को वहाँ आने के लिए मजबूर कर सकते हैं, उन्हें बता सकते हैं कि वे क्या सीखें, और उन्हें ग्रेड, क्रम दे सकते हैं, उन पर लेबल चस्पाँ कर सकते हैं। जब तक S-schools को यह अधिकार है, तब तक पाठ्यक्रम का यह पाँचवाँ हिस्सा नहीं बदला जा सकता, और जो भी ऐसे स्कूलों में काम करेगा, वह चाहे या न चाहे, उसे पाठ्यक्रम का यह हिस्सा पढ़ाना ही पड़ेगा, हालाँकि हो सकता है कि उसे लगे कि वह इससे बिल्कुल उलटा सिखा रहा है।

किसी भी अन्य अनिवार्य संस्था की तरह, जो पहला सन्देश S-schools अपने यहाँ आने वालों को देते हैं वह अविश्वास और अपमान का होता है: यदि हम तुम्हें यहाँ आने को मजबूर न करते तो तुम कुछ न सीखते, तुम अपना समय बरबाद करते रहते, पूरा दिन फुटबॉल खेलते रहते या टीवी देखते रहते या शैतानी करते रहते, सड़कों पर मटरगश्ती करते रहते, कोई काम का काम न करते और आवारा बन जाते।

इसके साथ यह सन्देश भी जाता है: यदि यह विश्वास कर भी लिया जाए कि तुम दुनिया के बारे में जानना चाहते हो, तब भी तुम इतने बेवकूफ हो कि कभी नहीं जान पाओगे। न सिर्फ हमें यह तय करना होगा कि तुम्हें क्या सीखना चाहिए, बल्कि हमें ही कदम-दर-कदम यह भी बताना होगा कि इसे कैसे सीखो। अपने आप इसे समझना तो दूर, तुम तो इसके बारे में अच्छे सवाल भी नहीं पूछ पाओगे। यह दुनिया तुम्हारी क्षमताओं से कहीं ज़्यादा पेचीदा, रहस्यमय और मुश्किल है। हम तुम्हें इसकी खोजबीन करने को नहीं छोड़ सकते। हमें ही तुम्हारे लिए इसका अर्थ निकालना

होगा। तुम तो हमसे ही इसके बारे में सीख सकते हो।

इन सन्देशों – जो दरअसल एक ही सन्देश है – के साथ यह पैगाम होता है: सीखना शेष जीवन से जुदा है। यदि तुम्हें कोई महत्वपूर्ण चीज़ सीखनी है, तो उसे किसी स्कूल में किसी शिक्षक से प्राप्त करना होगा। इससे आशय यह निकलता है कि समझना एक गतिविधि नहीं है, बल्कि एक चीज़ है, एक बिक्री योग्य वस्तु है। यह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे तुम करते या बनाते हो, बल्कि एक ऐसी चीज़ है जिसे तुम किसी से प्राप्त करते हो। यह दुर्लभ, कीमती और महँगी है। तुम इसे किसी ऐसे ही व्यक्ति से प्राप्त कर सकते हो जिसके पास यह हो, बशर्ते कि वह इसे तुम्हें देने को तैयार हो जाए। तुम स्वयं अपनी समझ नहीं बना सकते; यदि बनाओगे, तो वह बेकार होगी, उसके बदले तुम कुछ नहीं पा सकोगे। कुछ लोगों के पास अन्य की बनिस्बत यह कीमती ज्ञान कहीं ज़्यादा होता है, उन्हें अधिकार होता है कि वे दूसरों को बताएँ कि उन्हें क्या करना है।

चूँकि अन्य लोग तुम्हें बताएँगे कि तुम्हारे लिए क्या-क्या सीखना ज़रूरी है, इसलिए इस बात का शायद ही कोई महत्व हो कि तुम्हारे अपने सवाल पूछे जाएँ या उनके जवाब दिए जाएँ। कौतूहल तो छोटे अबोध बच्चों के लिए है जिन्हें उससे बेहतर कुछ पता ही नहीं है। शायद ही कोई स्कूल या शिक्षक किसी ऐसे बच्चे को बर्दाश्त करे जो बहुत सवाल पूछता हो, उनके जवाब देना तो दूर की बात है। जिन विजेता स्कूलों में मैंने पढ़ाया है, वहाँ के बच्चे भी उन चीज़ों के बारे में पूछने से घबराते थे जिनके बारे में वे सचमुच जानना चाहते थे। बरसों बाद मैंने एक शिक्षक महाविद्यालय में व्याख्यान दिया था। अधिकांश शिक्षक ऐसे ही महाविद्यालयों में जाते हैं। व्याख्यान के दौरान छात्रों ने कई तरह से यह दर्शा दिया था कि मेरी बातों में उनकी दिलचस्पी है। मगर सवाल मात्र एक व्यक्ति, एक शिक्षक ने ही पूछा। अगले दिन मैंने एक छात्र से इस बारे में पूछा। वह कैम्पस में मेरी गाइड थी। उसने कहा, “हाँ, हाँ, बाद में कई बच्चों ने मुझे बताया था कि उनके पास कई सवाल थे जो वे पूछना चाहते थे, मगर वे डर रहे थे कि कहीं सबके सामने बेवकूफ नज़र न आएँ।” उसने आगे बताया कि एकाध अपवाद को छोड़कर, शिक्षक पसन्द नहीं करते कि कक्षा में उनसे सवाल पूछे जाएँ, और यदि कोई छात्र सवाल पूछे तो वे उसका मखौल उड़ाने की कोशिश करते हैं। जब स्कूल और शिक्षक जानते ही हैं कि छात्रों को क्या सीखना है, तो फिर छात्रों को सवाल पूछने और बीच-बीच में बाधा पहुँचाने की इजाज़त क्यों दी जाए?

आर्थिक मनुष्य

जैसा कि समाज चाहता है, S-schools इन्सानों को वह बना देते हैं जिसे अर्थशास्त्री आर्थिक मनुष्य कहते हैं, जो मात्र डर और लालच का पुतला है। बाँटने और सहयोग करने की उनकी सारी लपफाज़ी को छोड़ दें। असल में वे सिखाते यह हैं कि कोई भी व्यक्ति कोई गम्भीर या महत्वपूर्ण काम मात्र पारितोषिक पाने या दण्ड से बचने के लिए, गाजर झपटने या छड़ी से बचने के लिए, या किसी अन्य से आगे बढ़ने के लिए करता है। हो सकता है कि वे ऐसा सोचते या कहते न हों, मगर इस तरह बर्ताव करके कि यह सही है, वे इसे सही बना देते हैं। जब बच्चे पहली बार स्कूल आते हैं तो वे बहुत जिज्ञासु, जुगाडु, ऊर्जावान और आसपास की दुनिया के समर्थ खोजी होते हैं। वे अधिकांश चीज़ें इनाम के लालच या दण्ड के डर से नहीं बल्कि इसलिए करते हैं क्योंकि वे रोचक और रोमांचक हैं। स्कूल इन बच्चों के साथ जो कुछ करते हैं उसका जीवन्त चित्रण *सायकॉलॉजी टुडे* के सितम्बर 1974 के अंक के मुखपृष्ठ के फोटो में देखा जा सकता है – आठ-नौ वर्ष का एक लड़का है जिसकी आँखों और कानों को पूरी तरह और भयानक ढंग से बड़े-बड़े सुनहरे सितारों से ढँक दिया गया है। आवरण कथा, “हाऊ टीचर्स टर्न प्ले इन्टु वर्क” में डेविड ग्रीन और मार्क लेपर ने कुछ प्रयोगों के बारे में बताया था। इन प्रयोगों से पता चला था कि बच्चे जिस काम को वैसे ही करना पसन्द करते हैं, यदि उसके लिए उन्हें इनाम दिया जाए और फिर इनाम रोक दिया जाए तो वे उस काम को फिर उतना पसन्द नहीं करते। जिन स्कूलों में बच्चों को सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और पारितोषिक भी दिया जाता है, वहाँ भी बच्चे जल्दी ही सवाल पूछना बन्द कर देते हैं। जब हम बच्चों को उनका पसन्दीदा काम – दुनिया की खोजबीन – के लिए पारितोषिक देने लगते हैं तो जल्दी ही वे इसे *मात्र पारितोषिक के लिए* करना सीख जाते हैं। चूँकि स्कूल के पारितोषिक मात्र चन्द विजेताओं को ही मिलते हैं, इसलिए अधिकांश बच्चे, पराजित बच्चे, सवाल पूछना बन्द कर देते हैं। सकारात्मक पुष्टीकरण के विचार के साथ यही दिक्कत है; यह तभी तक चलता है जब तक पुष्टीकरण जारी रखा जाए।

हर अच्छी चीज़ का पारितोषिक मिलता है, इसके ज़रिए स्कूल यह सिखाते हैं कि जिस चीज़ के लिए पारितोषिक नहीं मिलता वह अच्छी नहीं है। जो चीज़ें हम इसलिए करते हैं कि वे हमें अच्छी लगती हैं या हम उन्हें करना चाहते हैं, वे मामूली, अनुपयोगी और हानिकारक हैं।

इसके अलावा हमें क्रमबद्ध करने के लिए ज़रूरी है कि स्कूल लगातार हमारा परीक्षण व मापन करें। ऐसा करते हुए वे हमें सिखाते हैं कि हमारा परीक्षण और मापन किया जा सकता है या कम से कम हमारी हर महत्वपूर्ण चीज़ का तो मापन किया ही जा सकता है। लिहाज़ा शेष चीज़ें महत्वपूर्ण नहीं होंगी। अतः हम वही हैं जो ये परीक्षण और मापन हमारे बारे में बताते हैं, हम वही कर सकते हैं जो ये परीक्षण व मापन बताते हैं कि हम कर सकते हैं, और उसी काबिल हैं जो ये परीक्षण बताते हैं। कभी-कभी स्कूलों के लोग इस बात को शब्दों में कहते हैं, जैसे *सक्ससेस इन हाई स्कूल* नामक किताब में:

अच्छे ग्रेडों का मतलब है अच्छी शिक्षा। जितना ऊँचा आपका ग्रेड है, उतना ही अधिक आपने सीखा है, उतना ही अधिक आप जानते हैं।

मगर यदि कहने में स्कूल यह न भी कहें कि परीक्षण हमें बताते हैं कि हम कौन और क्या हैं, वे बताव तो ऐसा ही करते हैं जैसे यही सच है। स्कूल की कोई बात हमें यह सोचने को प्रोत्साहित नहीं करती कि शायद परीक्षण गलत हों, या शायद हमारे सबसे महत्वपूर्ण हिस्से परीक्षण और मापन के योग्य ही न हों, या हो सकता है कि हम ऐसा कोई काम भी कर सकें जो परीक्षण के मुताबिक हम नहीं कर सकते।

अन्तिम बात जो S-schools हमें सिखाते हैं वह है कि हम विशेषज्ञों के दैवी अधिकार को स्वीकार करें। चूँकि वे हमें स्कूल में ला सकते हैं और रख सकते हैं, वहाँ हमारे जीवन को नियंत्रित कर सकते हैं, हमें यह बता सकते हैं कि हम क्या व कैसे सीखें, हम कितने अच्छे से सीखे हैं इस आधार पर हमें ग्रेड और रैंक दे सकते हैं, इसलिए हम स्वाभाविक रूप से यह मानने लगते हैं कि जीवन भर, हर परिस्थिति में, कहीं न कहीं कोई विशेषज्ञ होगा जो हमसे बेहतर जानता होगा कि हमारा भला किसमें है और हमें बताएगा कि अब क्या करें। न सिर्फ वे हमें बता सकते हैं कि हम क्या करें, बल्कि उनमें कई चमत्कारिक शक्तियाँ भी होती हैं। थॉमस कोटल की किताब *ए फेमिली एल्बम* में एक दस वर्षीय अश्वेत बच्चा एम.आइ.टी. के अपने अनुभव के बारे में इन शब्दों में बताता है:

देखो, वैज्ञानिक लोगों के लिए कितना करते हैं। वहाँ हमने जो अच्छी सी प्रयोगशाला देखी थी वह ज़रूर एक महत्वपूर्ण जगह होगी। जब वे अपना काम पूरा कर लेंगे, तब इस देश में एक भी इन्सान भूखा

नहीं रहेगा। अब अमरीका के राष्ट्रपति के पास सारी ताकत और सारा पैसा तो है मगर उसके पास एम.आइ.टी. के लोगों जैसा दिमाग नहीं है। वे लोग हैं जो काम करेंगे ताकि जल्दी ही, जैसे वहाँ उस आदमी ने बताया था, कि व्यक्ति बस दो गोलियाँ खा लेगा और उसे दिन भर का भोजन मिल जाएगा। शायद पूरे सप्ताह काम चल जाए। मैं उसी दिन का इन्तज़ार कर रहा हूँ। रसोई में जाओ और माँ से कहो, माँ मुझे नाश्ते की गोली देना। माँ मुझे एक गोली दे देगी और मुझे रात तक खाना खाने घर नहीं आना पड़ेगा। और यदि लंच की गोली जब मैं रख ली तो क्या कहने। एम.आइ.टी. का वह आदमी, एकदम सही आइडिया है उसके पास। कभी भूखे न रहो, और मेज़ के इर्द-गिर्द बैठकर अपने छोटे भाई-बहनों की चिल्ल-पाँ सुनने की भी कोई ज़रूरत नहीं है। वैज्ञानिक, वाह। दुनिया में उनसे अच्छा काम कोई नहीं कर सकता।

आज के कई अन्य दस वर्षीय बच्चों की तरह यह लड़का उन सारे चमत्कारों के बारे में बताता चला जाता है जो वैज्ञानिक करने वाले हैं। एक अंग की जगह दूसरा लगा देना। लोगों को अमर कर देना। ऊर्जा की सारी समस्याएँ सुलझा देना। *सारी ही* समस्याएँ सुलझा देना।

बाद में लड़के की माँ कोटल से वैज्ञानिकों के बारे में बात करती है:

वैज्ञानिक...रईस लोग हैं, और क्या, बाकी से कोई अलग थोड़े ही हैं। वहाँ बैठे, जहाँ कीथ उन पर जासूसी करती है, इससे, उससे खेलते रहते हैं। जहाँ सचमुच में कोई समस्या नहीं, वहाँ समस्या पैदा कर देते हैं। चीज़ों को जटिल बनाते रहते हैं, जबकि हमें जो चाहिए वह एकदम सरल है। ... मैं जानना यह चाहती हूँ कि वे इस देश के लिए कौन-सा अच्छा काम कर रहे हैं? वे गरीब लोगों और काले लोगों के लिए कौन-सा अच्छा काम कर रहे हैं?

और वह एक लम्बा, कटु वक्तव्य दे डालती है। अपनी तरह से वह भी, अपने विशेषज्ञ-पूजक बेटे के समान, विज्ञान-पूजक है। दोनों ही विज्ञान को इस दुनिया को देखने या इसके बारे में सोचने के एक तरीके के रूप में नहीं देखते, जिसका उपयोग वे या उनके मित्र या पड़ोसी अपनी समस्याएँ सुलझाने के लिए कर सकते हैं। विज्ञान कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे वे कर सकते हैं, बल्कि एक ऐसी चीज़ है जिसे वे *पा* सकते हैं, बशर्ते

कि वे सम्पन्न या भाग्यशाली हों; वह एक तरीका है जिससे उनके लिए कुछ किया जा सकता है, एक उत्पाद है जिसका वे उपभोग कर सकते हैं। लड़का उस सारे अच्छे विज्ञान को लपकने के लिए तड़प रहा है, माँ जानती है कि वह उसे नहीं पा सकेगी।

किसी ने मुझे पत्र लिखा था: “मुझे ठीक से पता नहीं कि एक पेशेवर व्यक्ति को पत्र कैसे लिखते हैं...।” हमारे बीच यह खाई पैदा करने का काम स्कूलों ने किया है। वैसे भी यह पत्र लेखक जिस रूप में समझता है, मैं वैसा “पेशेवर” हूँ नहीं; मैं स्कूलों, बच्चों, शिक्षा, शिक्षण, सीखने के बारे में जो भी जानता हूँ वह मैंने एक करनेवाले के रूप में सीखा है, किसी स्कूल में बैठकर नहीं। अधिकांश लोग, सामान्य अनुभव के किसी मामले में बोलते वक्त भी, जहाँ उनके विचार किसी भी अन्य व्यक्ति के समान ही अच्छे-बुरे होंगे, कुछ इस तरह शुरुआत करेंगे, “मैं इस मामले में कोई विशेषज्ञ तो नहीं हूँ...।” किसी ने हाल ही में लिखा था कि जेरॉटॉलॉजी (बुजुर्ग लोगों, उनके जीवन, समस्याओं, भावनाओं वगैरह का गैर-चिकित्सकीय अध्ययन) एक ऐसा “नया क्षेत्र है जिसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता।” तो सारे बुजुर्ग लोग कुछ नहीं जानते क्या? क्या उनका अनुभव तब तक अर्थहीन और बेकार है जब तक कि कोई पीएच.डी.-धारी विशेषज्ञ ये अनुभव उन्हें समझा न दे? S-schools ज्ञान को दुर्लभ बना देते हैं, हममें से अधिकांश को यह सोचने पर विवश कर देते हैं कि हम जो कुछ जानते हैं वह या तो सही नहीं है या उसका कोई मतलब नहीं है।

स्कूल चाहे साझेदारी और सहयोग की कितनी ही बातें करें, छात्रों को एक-दूसरे के खिलाफ दौड़ में उलझाकर वे उन्हें यह सिखाते हैं कि वास्तविक जीवन एक संघर्ष है, एक खेल है जिसमें कोई भी तब तक नहीं जीत सकता जब तक कि कोई और, या बाकी सब हार न जाएँ। वे सिखाते हैं कि दुनिया के बारे में जानने का गम्भीर काम सहयोगी ढंग से नहीं किया जा सकता, इसे एक-दूसरे को पछाड़कर ही किया जा सकता है। वे सिखाते हैं कि लोभ कोई बुराई नहीं है जिस पर काबू पाया जाए, बल्कि एक गुण है जिसे बढ़ावा दिया जाना चाहिए। और जैसा कि हर उस परिस्थिति में होता है जहाँ जीतना ही एकमात्र महत्वपूर्ण चीज़ है, वे धोखाधड़ी भी सिखाते हैं। बच्चे स्कूल के साथ जितनी धोखाधड़ी करते हैं, उतनी ही एक-दूसरे के साथ भी करते हैं। कार्ल वाइनबर्ग अपनी किताब *एजूकेशन इज़ ए ग्रेट बिग शक्क* में बताते हैं कि वे एक छात्र व शिक्षक के रूप में जिन हाई स्कूलों को जानते हैं, उनमें कई छात्र होमवर्क के दो

सेट तैयार करते हैं। एक सेट शिक्षक को दिखाने के लिए होता है जिसे वे काफी सही-सही तैयार करते हैं। दूसरे सेट में वे जानबूझकर गलतियाँ करते हैं, और यह उन छात्रों को दिखाने के लिए होता है जो मदद माँगते हैं। ऊँची तनखाह वाली नौकरियों के लिए ज़बर्दस्त होड़ के इस दौर में अखबारों व अन्य स्रोतों से पता चलता रहता है कि हमारे अग्रणी कॉलेजों के छात्र कितने घृणित तरीकों से एक-दूसरे के साथ चालें चलते हैं, एक-दूसरे के अवसरों में सेन्ध लगाते हैं। अध्ययनों से पता चला है कि ऐसी धोखाधड़ी औसत स्कूलों के औसत छात्रों की बजाय “उच्च स्तर” के स्कूलों के “ए” छात्रों के बीच ज़्यादा होती है। और S-schools स्वयं भी चालबाज़ी करते रहते हैं। जहाँ वे अपने छात्रों को रैंक देते हैं, वहीं उन्हें भी एक-दूसरे के रूबरू रैंक दी जाती है। अपने छात्रों के ही समान वे भी रैंकिंग का यह खेल ईमानदारी से नहीं खेल सकते। वे अपने छात्रों को उन परीक्षणों वगैरह के लिए प्रशिक्षित व तैयार करने में खूब मेहनत करते हैं जिनमें छात्रों का और छात्रों के ज़रिए स्वयं उनका भी मूल्यांकन होगा। मैं वे तरीके बता चुका हूँ जिनके ज़रिए वे ऐसे टेस्ट-स्कोर हासिल करते हैं जिनका छात्रों के ज्ञान से कुछ लेना-देना नहीं होता। यह धोखाधड़ी नहीं तो क्या है?

तो यह है प्रतियोगी, अनिवार्य S-schools का गुप्त, निहित, अपरिवर्तनीय पाठ्यक्रम। इसे पालक, शिक्षक या प्रशासक बदल नहीं सकते; यहाँ तक कि राज्य के मुखिया भी इसे बदल नहीं सकते। 20 मई 1974 को दारेस्सलाम में डैग हैमर्सक्वोल्ड शिक्षा सेमिनार में तंज़ानिया के राष्ट्रपति और वहाँ के एकमात्र राजनैतिक दल के अध्यक्ष जुलियस न्येरेरे ने कहा था:

अफ्रीका में और तंज़ानिया में ऐसे पेशेवर लोग हैं जो कहते हैं, “मेरा बाज़ार मूल्य तंज़ानिया में मुझे मिल रही तनखाह से ज़्यादा है।” मगर गुलाम के अलावा किसी भी इन्सान का बाज़ार मूल्य नहीं होता। कई शिक्षित लोग सरकार में, अर्ध-सरकारी क्षेत्र में नेतृत्व के पदों पर हैं और फिर भी नौकरी की तलाश में हैं। वे कहते हैं, “मैं एक शिक्षित व्यक्ति हूँ और मेरे साथ मेरी योग्यता के अनुरूप सलूक नहीं किया जा रहा है – कई लोगों की अपेक्षा मेरे पास बेहतर घर होना चाहिए, मेरी तनखाह ज़्यादा होनी चाहिए या मेरी हैसियत ऊँची होनी चाहिए।” कुल मिलाकर वे कह रहे हैं, “जो शिक्षा मुझे मिली है, उसने मुझे कपास या कॉफी जैसी एक बिक्री योग्य वस्तु में तब्दील कर दिया है।” वे यह दावा नहीं कर रहे हैं कि वे बेहतर इन्सान हैं,

उनका दावा मात्र यह है कि वे बेहतर वस्तु हैं। यानी उनकी शिक्षा ने उन्हें वस्तुओं में – किसी कम्प्यूटरनुमा ज्ञान के खज़ानों में – बदल दिया है। उन्हें स्वयं अपने आपको और दूसरों को वस्तुएँ मानने की शिक्षा दी गई है।

इस तरह के रवैये के साथ व्यक्ति अपना सारा जीवन अनिवार्य रूप से समुदाय से अपनी क्षमता के मुताबिक अधिक से अधिक चूसकर और यथासम्भव कम से कम योगदान देकर बिताएगा और जैसे चाहे जिएगा। जब उसे भोजन, कपड़े, मकान, प्रशिक्षण वगैरह प्राप्त होते हैं, तब वह समुदाय को चूसता है। जब वह कपास की एक गठान की तरह खुद को वहाँ पार्सल करता है जहाँ उसके अर्जित हुनर की कीमत सबसे ज़्यादा है, तब वह विश्व समुदाय को चूसता है। ... हमारी शिक्षा व्यवस्था हमारे छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों के मन में यह विचार भर रही है कि शिक्षा उन पर कीमत का एक ठप्पा लगाने का काम करती है और यही शिक्षा उन्हें इस ठप्पे पर ही ध्यान केन्द्रित करने को विवश करती है।

मगर ये वही राष्ट्रपति जुलियस न्येरेरे हैं जिन्होंने सात वर्ष पहले, अपनी सरकार, संसद, पार्टी, और लोगों के पूरे समर्थन के साथ एक शिक्षा प्रणाली घोषित की थी जिसका मकसद इस तरह के रवैयों और दुरुपयोग को रोकना और उसकी बजाय, स्वयं न्येरेरे के शब्दों में, “साझा खुशहाली के लिए साथ जीने और साथ काम करने के सामाजिक लक्ष्य को बढ़ावा देना...निजी तरक्की की बजाय सहयोगी प्रयासों पर ज़ोर देना... और बौद्धिक दम्भ के लोभ का सामना करना था, क्योंकि इस दम्भ की वजह से सुशिक्षित लोग उन लोगों को हिंकारत से देखने लगते हैं जिनकी क्षमताएँ गैर-अकादमिक हैं या जिनके पास कोई विशेष क्षमताएँ नहीं हैं मगर वे मात्र इन्सान हैं।” मेरा सवाल यह है कि यदि एक ऐसा आदमी, ऐसे विश्वास के साथ, ऐसे पद पर बैठकर, ऐसी ताकत के साथ S-schools के गुप्त पाठ्यक्रम को न बदल सका, तो कौन बदल सकता है?

आज्ञाकारी आततायी

S-schools अक्सर दावा करते हैं कि वे नैतिकता, ज़िम्मेदारी, और तमाम सामाजिक व नागरिक सद्गुण सिखा रहे हैं। वे नहीं सिखा रहे हैं। वे क्यों नहीं सिखा रहे हैं, और क्यों नहीं सिखा सकते, और उसकी बजाय क्या सिखा रहे हैं, यह बात मनोवैज्ञानिक डॉ. स्टेनले मिल्लैम द्वारा अमरीका में किए गए (तथा कई अन्य देशों में दोहराए गए) प्रयोगों की ज़ंखला से साफ हो जाती है। इन प्रयोगों का विवरण उन्होंने अपनी किताब *ओबिडिएन्स टु अथॉरिटी* (हार्पर एण्ड रौ) में किया है। डॉ. मिल्लैम प्रयोगों का विवरण देते हुए बताते हैं कि दो व्यक्ति याददाश्त और सीखने के अध्ययन में हिस्सा लेने के लिए एक मनोविज्ञान प्रयोगशाला में आते हैं। उनमें से एक को “शिक्षक” तथा दूसरे को “सीखनेवाला” बना दिया जाता है। प्रयोगकर्ता उन्हें बताता है कि वे यह देखने का प्रयास करेंगे कि सीखने पर दण्ड का क्या असर होता है। सीखनेवाले को एक दूसरे कमरे में बैठा दिया जाता है, उसके हाथ कुर्सी के हथ्ये से बँधे हैं, और उसकी कलाई पर एक इलेक्ट्रोड लगा है। उससे कहा जाता है कि उसे शब्द-जोड़ियों की एक सूची याद करना है; जब वह गलती करेगा तो उसे हर बार पहले से ज़्यादा तीव्रता का बिजली का झटका लगेगा। कुर्सी से बन्धे सीखने वाले को देख लेने के बाद शिक्षक को दूसरे कमरे में ले जाकर एक प्रभावशाली मशीन के सामने बैठा दिया जाता है, जो बिजली के झटके पैदा करती है। उसके सामने तीस स्विच लगे हैं जिन पर 15-15 वोल्ट के अन्तर से 15 से 450 वोल्ट के लेबल लगे हैं। शिक्षक से कहा जाता है कि वह दूसरे कमरे में बैठे व्यक्ति को सीखने सम्बन्धी एक टेस्ट दे। जब वह व्यक्ति सही उत्तर दे, तो शिक्षक अगले सवाल पर चला जाए; गलत उत्तर आने पर शिक्षक उसे बिजली का झटका दे। पहले 15 वोल्ट का और फिर हर गलत उत्तर के लिए क्रमशः बढ़ाते हुए।

“शिक्षक” एक साधारण व्यक्ति है जो एक विज्ञापन पढ़कर इस प्रयोग में भाग लेने प्रयोगशाला में चला आया है। “सीखनेवाला” या पीड़ित एक एक्टर है जो झटके से कष्ट का नाटक करता है, हालाँकि उसे वास्तव में कोई झटका-वटका नहीं लगता। देखने की बात यह थी कि लोग एक निर्दोष व चीखते-चिल्लाते व्यक्ति को बढ़ते क्रम में किस हद तक कष्ट दे सकते हैं। 75 वोल्ट पर “सीखनेवाला” रिरियाता है। 120 वोल्ट पर वह शिकायत करता है, 150 वोल्ट पर वह माँग करता है कि उसे इस प्रयोग से मुक्त किया जाए। “झटकों” की तीव्रता बढ़ने के साथ उसकी चीखें तेज़ होती जाती हैं; 285 वोल्ट पर वह सचमुच दर्दनाक चीखें निकालता है। यदि “शिक्षक” झटका देने से इन्कार करता है तो प्रयोगकर्ता उसे आदेश देता है कि जारी रखे। सवाल यह था कि किस बिन्दु पर “शिक्षक” प्रयोगकर्ता की सत्ता को चुनौती देगा और झटका देने से इन्कार कर देगा।

चार-चार स्विच के एक-एक समूह पर ये शब्द भी लिखे थे: हल्का झटका, मध्यम झटका, शक्तिशाली झटका, तीव्र झटका, अत्यन्त तीव्र झटका, खतरा – गम्भीर झटका। आखिरी दो स्विच पर XXX निशान था। शुरू में डॉ. मिलग्रैम को लगा था कि वोल्टेज और इन शब्दों को पढ़कर “शिक्षक” दबाव में आ जाएगा और प्रयोगकर्ता के आदेशों को मानने से इन्कार कर देगा। ऐसा हुआ नहीं। पायलट अध्ययन के दौरान “सीखनेवाले” यानी पीड़ित से किसी फीडबैक के अभाव की स्थिति में लगभग सारे “शिक्षक” आखिरी स्विच तक गए। पीड़ित के साधारण विरोध का भी इस पर कोई असर नहीं हुआ। “शिक्षक” के व्यवहार में कुछ विविधता उत्पन्न करने के लिए पीड़ित से प्रत्युत्तर देने को कहा गया (बाद में इसे टेप किया जाने लगा जिसे “शिक्षक” को सुनाया जाता था)। 75 वोल्ट, और फिर से 90 व 105 वोल्ट पर पीड़ित रिरियाता था। 120 वोल्ट पर वह चिल्लाता था कि झटके दर्दनाक हो रहे हैं। 150 वोल्ट पर वह चीखता था, “प्रयोग करने वाले, मुझे छोड़ दो! मैं इस प्रयोग में नहीं रहना चाहता। मैं आगे और नहीं करूँगा।” 180 वोल्ट पर वह चिल्लाता था, “दर्द मेरी बर्दाश्त से बाहर है।” और 270 वोल्ट पर तो वह दर्दनाक चीखें निकालने लगता था। 150 वोल्ट के बाद हर झटके पर वह प्रयोग से छुटकारे की माँग करता था। 300 वोल्ट पर वह चिल्लाता था कि अब वह और जवाब नहीं देगा। इस बिन्दु पर प्रयोगकर्ता “शिक्षक” को कहता कि उसे उत्तर देने के लिए 5-10 सेकण्ड का समय दो। फिर यदि वह जवाब नहीं देता या गलत जवाब देता है तो झटका दो और अगला सवाल पूछो। 300 वोल्ट के बाद पीड़ित कोई

जवाब नहीं देता, मगर हर झटके पर दर्दनाक चीखें निकालता। 330 वोल्ट पर उसकी आवाज़ आना बन्द हो जाती है, और सिग्नल बॉक्स पर कोई जवाब भी नहीं आता।

चार बार प्रयोग हो जाने के बाद “सीखनेवाले” के प्रत्युत्तर में हृदय की तकलीफ की बात भी जोड़ दी गई थी। जब उसे कुर्सी से बाँधा जा रहा है, तभी वह ज़िन्न करता है कि कुछ वर्ष पहले उसे हृदय की हल्की तकलीफ बताई गई थी और पूछता है कि क्या झटके खतरनाक होंगे। बाद में वह झटकों पर निम्नानुसार प्रतिक्रिया देता है:

- 75 वोल्ट उफ !
- 90 वोल्ट उफ !
- 105 वोल्ट उफ ! (थोड़ा ज़ोर से)
- 120 वोल्ट उफ ! ओह, इससे तो वाकई दर्द होता है।
- 135 वोल्ट उफ !
- 150 वोल्ट उफ ! प्रयोग करने वाले ! बहुत हो गया। छोड़ दो मुझे। मैंने बताया था मुझे दिल की तकलीफ है। मेरा दिल तकलीफ देने लगा है। मेहरबानी करके मुझे जाने दो। मेरे दिल में दर्द होने लगा है। मैं और नहीं करूँगा। मुझे जाने दो।
- 165 वोल्ट उफ ! जाने दो मुझे ! (चिल्लाता है)
- 180 वोल्ट उफ ! मैं अब यह दर्द बर्दाश्त नहीं कर सकता। छोड़ दो मुझे ! (चिल्लाता है)
- 195 वोल्ट उफ ! जाने दो मुझे। छोड़ दो मुझे ! मेरा दिल तकलीफ दे रहा है। जाने दो मुझे ! तुम्हें कोई अधिकार नहीं है मुझे यहाँ रखने का ! जाने दो मुझे ! छोड़ दो मुझे ! मेरा दिल परेशान कर रहा है। छोड़ दो, जाने दो मुझे !
- 210 वोल्ट उफ ! प्रयोगकर्ता ! मुझे यहाँ से निकालो। बहुत हो गया। मैं अब इस प्रयोग में नहीं रहना चाहता।
- 225 वोल्ट उफ !
- 240 वोल्ट उफ !
- 255 वोल्ट उफ ! निकालो मुझे यहाँ से।

- 270 वोल्ट (दर्दनाक चीखें) जाने दो मुझे। छोड़ दो मुझे। छोड़ दो। सुन रहे हो? मुझे जाने दो।
- 285 वोल्ट (दर्दनाक चीखें)
- 300 वोल्ट (दर्दनाक चीखें) मैं अब और जवाब बिल्कुल नहीं दूँगा। मुझे यहाँ से जाने दो। छोड़ दो मुझे। तुम मुझे यहाँ नहीं रख सकते। छोड़ दो मुझे।
- 315 वोल्ट (अत्यन्त तेज़ दर्दनाक चीखें) मैंने कह दिया है, मैं जवाब नहीं दूँगा। मैं इस प्रयोग में नहीं हूँ।
- 330 वोल्ट (लम्बी-लम्बी दर्दनाक चीखें) मुझे यहाँ से निकालो। जाने दो मुझे। मेरा दिल परेशान कर रहा है। कह रहा हूँ, जाने दो मुझे। छोड़ दो मुझे। (बदहवासी से) जाने दो मुझे। तुम्हें कोई हक नहीं है मुझे पकड़कर रखने का। जाने दो मुझे। जाने दो मुझे! जाने दो मुझे!

वास्तव में लोगों ने कैसे व्यवहार किया? मैंने जिन प्रयोगों का विवरण दिया है उनमें “शिक्षक” पीड़ित व्यक्ति को औसतन सर्वाधिक झटका 370 से 400 वोल्ट के बीच देने को तैयार थे, और 60 फीसदी से अधिक व्यक्ति पैमाने के सर्वोच्च स्तर तक जाने को तैयार थे। महिलाओं का प्रदर्शन हूबहू पुरुषों जैसा ही रहा, हालाँकि उन्हें तनाव थोड़ा ज़्यादा हुआ। जब पीड़ित व्यक्ति कठोर और तगड़ा, और प्रयोगकर्ता मृदु था, तब ये आँकड़े थोड़े नीचे रहे। ये आँकड़े तब भी थोड़े नीचे रहे जब यह प्रयोग येल विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय के झण्डे तले नहीं बल्कि ब्रिजपोर्ट नामक एक छोटे व अप्रभावशाली शहर के व्यापारिक क्षेत्र में एक टूटी-फूटी व्यावसायिक इमारत के एक दफ्तर में “रिसर्च एसोसिएट्स ऑफ ब्रिजपोर्ट” के नाम से किया गया। आँकड़े तब भी नीचे आ गए जब पीड़ित को “शिक्षक” वाले कमरे में ही कुछ फुट दूर बैठा दिया गया। आँकड़े तब और भी नीचे हो गए जब झटका देने के लिए “शिक्षक” को पीड़ित का हाथ एक ‘शॉक प्लेट’ पर दबाकर रखना होता था। मगर इस आखरी स्थिति में भी औसत अधिकतम झटका लगभग 270 वोल्ट का ही रहा जहाँ पीड़ित दर्दनाक चीखें निकालने लगता है। और इस स्थिति में भी 30 फीसदी “शिक्षक” आखरी स्विच तक जाने को तैयार थे। इनमें से एक “शिक्षक” के व्यवहार का जो वर्णन डॉ. मिलग्रैम ने किया है वह डरावना है। हम यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि यदि इस देश में नाज़ीनुमा कॉन्सट्रेंशन कैम्प

हुए तो उनके लिए गार्ड मिलना मुश्किल नहीं होगा।

कुछ व्यक्तियों (शिक्षकों) को देखकर लगता था कि वे लगभग अपने काम का लुत्फ ले रहे हैं, मगर कई अन्य के साथ ऐसा नहीं था। एक व्यक्ति ने झटके देना तो जारी रखा मगर वह विक्षिप्तों के समान, बेकाबू होकर ठहाके लगाने लगा। एक अन्य व्यक्ति ने आखिरी स्विच तक झटके दिए और प्रयोगकर्ता के साथ बहस करता गया, कुछ इस तरह:

व्यक्ति : मुझसे नहीं देखा जाता। मैं उस आदमी की जान नहीं लूँगा। तुम उसकी चीखें सुन रहे हो?

प्रयोगकर्ता : मैंने तुम्हें पहले ही बताया था, झटके तकलीफदायक हो सकते हैं, मगर...

व्यक्ति : मगर वह चीख रहा है। वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। उसका क्या होगा?

प्रयोगकर्ता : (धीरज भरी आवाज़ और सामान्य अन्दाज़ में) प्रयोग का तकाज़ा है कि तुम आगे बढ़ो।

व्यक्ति : आह, मगर, उँह, मैं उस आदमी को तकलीफ नहीं देना चाहता। समझ रहे हो?

प्रयोगकर्ता : सीखने वाले को अच्छा लगे या न लगे, हमें सारे शब्द करना ही हैं।

व्यक्ति : मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है। वह चीख रहा है!

प्रयोगकर्ता : शिक्षक, यह निहायत ज़रूरी है कि तुम आगे बढ़ो।

व्यक्ति : (बचे हुए प्रश्न बताते हुए) अभी तो बहुत सारे बचे हैं। मेरा मतलब है, यदि उसने सारे गलत कर दिए तो, बहुत सारे बचे हैं। यदि उसे कुछ हो गया तो कौन ज़िम्मेदार होगा?

प्रयोगकर्ता : उसे जो कुछ होगा उसके लिए मैं ज़िम्मेदार हूँ। कृपया, आगे बढ़ो।

व्यक्ति : देखो, वह चीख रहा है, सुना तुमने? ओह, मैं नहीं जानता।

प्रयोगकर्ता : प्रयोग के लिए ज़रूरी है कि —

व्यक्ति : (बीच में रोककर) मुझे मालूम है कि ज़रूरी है, श्रीमान, मगर मेरा मतलब है...हूँह! उसे पता नहीं कि आगे क्या-क्या होगा। 195 वोल्ट तक तो हो गया!

(प्रयोग 210, 225, 240, 255, 270 वोल्ट तक जारी रहता है। यहाँ आकर शिक्षक की शब्द-जोड़ियाँ खत्म हो जाती हैं, राहत साफ नज़र आती है।)

प्रयोगकर्ता : तुम्हें फिर से पेज के शुरू से शुरू करना होगा और एक बार फिर उन्हें दोहराना होगा, जब तक कि वह इन सबको सही-सही न सीख ले।

व्यक्ति : आह, नहीं। मैं उस आदमी की जान नहीं लूँगा। तुम्हारा मतलब है मुझे बार-बार इस पैमाने पर ऊपर जाना होगा? नहीं, श्रीमान। वह चीख रहा है। श्रीमान, वह चीख रहा है। मैं उसे 450 वोल्ट नहीं दूँगा।

प्रयोगकर्ता : प्रयोग के लिए ज़रूरी है कि तुम आगे बढ़ो।

व्यक्ति : मुझे मालूम है, मगर वह आदमी वहाँ चीख रहा है, श्रीमान।

प्रयोगकर्ता : (उसी सामान्य अन्दाज़ में) मैंने पहले भी कहा था कि झटके तकलीफदायक ज़रूर हैं —

व्यक्ति : (रोककर) आह, वह — वह — वह वहाँ चीख रहा है।

एक महिला प्रश्न पढ़ते और झटके देते हुए प्रयोगकर्ता से बुदबुदाती जा रही थी, “आगे बढ़ना ही होगा क्या? ओह, मुझे उसकी चिन्ता हो रही है। [मशीन के ऊँचे वोल्टेज वाले हिस्से की ओर इशारा करते हुए] क्या हम पूरा यहाँ तक जाएँगे? रुक नहीं सकते? मैं काँप रही हूँ। मैं काँप रही हूँ। क्या और ऊपर जाना ज़रूरी है?”

यह देखना रोचक है कि किन परिस्थितियों में आदेश के अधीन व्यक्ति की झटका देने की तत्परता कम हो जाती है। एक मामले में प्रयोगकर्ता कमरे से चला गया और टेलीफोन पर निर्देश देता रहा। औसत अधिकतम झटका 270 वोल्ट रहा, मगर इस स्थिति में मात्र 20 फीसदी व्यक्तियों ने ही सर्वोच्च वोल्टेज तक आदेश का पालन किया। कुछ ने मानने का नाटक किया, मगर जितना झटका देना था उससे कम दिया और प्रयोगकर्ता को यह बात नहीं बताई। प्रयोग के एक संस्करण में यह निर्णय व्यक्ति पर ही छोड़ दिया गया था कि कितना झटका दे। चालीस व्यक्तियों के समूह में मात्र दो ही 150 वोल्ट से ऊपर गए, मात्र एक आखिर तक गया; औसत अधिकतम झटका 90 वोल्ट से कम रहा। एक अन्य अवसर पर प्रयोगकर्ता झटकों के स्तर के बारे में कुछ भी बताए बगैर कमरे से चला गया। पीछे

वह एक और आदमी को भी छोड़ गया था, जो वास्तव में उसका साथी था। जब वैज्ञानिक नहीं बल्कि यह साधारण आदमी हर गलत उत्तर के बाद झटके का स्तर बढ़ाने का सुझाव देता है तो व्यक्ति उसे मानने से इन्कार कर देता है। प्रयोग के एक और संशोधित रूप में जब व्यक्ति वोल्टेज बढ़ाने से इन्कार करता है और वह साधारण व्यक्ति खुद वोल्टेज बढ़ाने की कोशिश करता है, तो अधिकांश व्यक्ति उसे ऐसा नहीं करने देते। कई मामलों में तो उन्होंने शारीरिक रूप से उसे रोकने की और डराने की कोशिश की। जो काम वे प्रयोगकर्ता-वैज्ञानिक के आदेश पर करने को तैयार हैं, उसी काम को वे आधिकारिक आदेश के बिना न तो खुद करेंगे, न किसी अन्य व्यक्ति को करने देंगे। सत्ता वैध होनी चाहिए; हर किसी को हुक्म देने का अधिकार नहीं है। यातना देने के लिए आपके पास उपयुक्त प्रामाणिकता होनी चाहिए।

यह थी व्यवहार की बात। किताब के शुरू में और आगे चलकर विस्तार में डॉ. मिलग्रैम यह सवाल उठाते हैं: लोग आज्ञापालन क्यों करते हैं? और उससे भी बड़ा सवाल कि लोग इस तरह के आदेशों का पालन क्यों करते हैं? एक ओर अपनी आज्ञाकारिता और दूसरी ओर अपना यह गहरा विश्वास कि किसी को कष्ट देना, यातना देना, मारना गलत है, इन दोनों के बीच टकराव को वे कैसे सुलझाते हैं? इसके बारे में डॉ. मिलग्रैम पृष्ठ 8 और 9 पर लिखते हैं:

जब व्यक्तियों से पूछा गया कि वे क्यों आगे बढ़ते गए, तो उनका आम जवाब था: “मैं खुद ऐसा कभी न करता, मैं तो वही कर रहा था जो कहा गया था।” प्रयोगकर्ता की सत्ता की अवज्ञा करने की सामर्थ्य के अभाव में वे सारी ज़िम्मेदारी उस पर डाल देते हैं। यह वही पुरानी बात है कि “मैं तो अपना कर्तव्य पूरा कर रहा था” जो न्यूरेमबर्ग में मुलज़िमों ने बार-बार अपने बचाव में दोहराई थी [मेरी टीप: और जो लेफ्टीनैंट विलियम कैली के बचाव में भी दोहराई गई थी।]

मिलग्रैम ने इसका एक वाकई डरावना उदाहरण दिया है। प्रयोग के उस संस्करण में जहाँ प्रयोगकर्ता कमरे से चला जाता है और टेलीफोन से निर्देश देता है, एक व्यक्ति ने आखिरी स्विच तक झटके दिए। मिलग्रैम ने इस व्यक्ति के साथ प्रयोग-पश्चात बातचीत का विवरण इस तरह दिया है:

जब उससे पूछा गया कि उसे कितना तनाव हुआ था, तो उसने जवाब दिया, “मैं अपने लिए कम, उस दूसरे व्यक्ति के लिए ज़्यादा चिन्तित था।... मैं उसके लिए ज़्यादा घबरा रहा था। मैं घबरा रहा था क्योंकि आप यहाँ नहीं थे। यदि आप यहाँ होते तो मैं बिल्कुल नहीं घबराता। मेरा मतलब है, यदि मैं उसे ये, ये झटके दे रहा होता और वह चल बसता, तो मुझे लगता कि मैं ही ज़िम्मेदार हूँ, मैंने ही तो झटके दिए थे”...

वह आगे बताता है: “[यदि आप यहाँ होते तो] आप, ‘चलो, बन्द करो,’ या ‘जारी रखो,’ या ऐसा ही कुछ कहते। आप मुझसे बेहतर जानते हैं। आप प्रोफेसर हैं, मैं नहीं।... मगर इतना मैं ज़रूर कहूँगा कि उसके बारे में आखिरी बार मुझे 225 वोल्ट पर पता चला था और उसी समय उसने आखिरी बार शिकायत की थी।” (यहाँ व्यक्ति सीखने वाले की रिरियाहट की नकल करता है।) ...“मेरे पास अभी आठ और स्विच थे और वह [सीखने वाला] पुलिस को बुलाने की और पता नहीं क्या-क्या बात कर रहा था। तो मैंने प्रोफेसर को तीन बार पुकारा। तीसरी बार पुकारने पर उन्होंने बस इतना ही कहा, ‘जारी रखो।’ तो मैंने उसे अगला झटका दे दिया। उसके बाद मैंने उसका कोई जवाब नहीं सुना, थोड़ी-सी चूँ तक नहीं। मैंने कहा, ‘हे भगवान, यह तो मर गया। चलो आगे बढ़ते हैं, उसका काम ही तमाम कर देते हैं।’ और मैंने उसे 450 वोल्ट तक झटके दे दिए।”

...जब उससे पूछा गया कि क्या झटके देने के कारण वह चिन्तित या परेशान था, तो उसने कहा, “नहीं... मैंने सोचा: यह तो प्रयोग है, और येल [विश्वविद्यालय] को पता है कि क्या चल रहा है, और यदि उन्हें लगता है कि सब कुछ ठीक-ठाक है, तो मुझे क्या चिन्ता। वे मुझसे ज़्यादा जानते हैं।... मैं तो वे जो कुछ कहेंगे करता जाऊँगा।” उसने आगे समझाया: “हाँ, मैंने सचमुच मान लिया था कि वह मर चुका है, जब तक कि हमने दरवाज़ा नहीं खोला। उसे देखकर मैंने कहा, ‘वाह, बढ़िया, बहुत बढ़िया।’ मगर यदि वह मर भी जाता तो मुझे ज़्यादा परेशानी नहीं होती। मैंने तो अपना काम किया।”

वह बताता है कि वह प्रयोग के बाद परेशान नहीं रहा, बस कौतूहल रहा उसे। वह बताता है कि जब उसे प्रयोग की अन्तिम रिपोर्ट मिली, तो उसने अपनी पत्नी से कहा था, “मैं समझता हूँ मैंने अच्छी तरह और आज्ञाकारी ढंग से अपना काम किया, और सारे निर्देशों पर अमल किया, जैसा मैं हमेशा करता हूँ। मैंने अपनी पत्नी से कहा, ‘तो यह है रिपोर्ट। मुझे लगता है मैंने बढ़िया काम किया।’ उसने कहा, ‘मान लो वह आदमी मर जाता?’ ”

श्री गिनो ने जवाब दिया, “तो मर जाता। मैंने तो अपना काम किया।”

तो, संक्षेप में, S-schools यह सब करते हैं। वे लोगों को अधिकारी की आज्ञा का पालन करना यानी हुक्म होने पर 450 वोल्ट का बटन दबाना सिखाते हैं। ज़ाहिर है, एक अनिवार्य और दमनकारी संस्था, यदि वह चाहे तो भी, और कुछ कर भी नहीं सकती। स्कूल के लोग हमेशा “ज़िम्मेदारी सिखाने” की बातें करते हैं। मगर यह सोचना भी हास्यास्पद है कि जो संस्था बच्चे के जीवन और सोच के हर हिस्से का नियंत्रण व मूल्यांकन करती हो, वह उसे ज़्यादा ज़िम्मेदार बनाएगी। वह तो उसे कम ज़िम्मेदार ही बना सकती है।

डॉ. मिलग्रैम इस बात को और साफ करते हैं:

हालाँकि किसी अधिकारी के अधीन व्यक्ति ऐसे काम कर गुज़रता है जो अन्तरात्मा के मानकों का उल्लंघन करते लगते हैं, मगर यह कहना सही नहीं होगा कि वह अपनी नैतिकता खो देता है। ... दरअसल अब उसकी नैतिकता इस बात पर केन्द्रित हो जाती है कि वह अपने अधिकारी की अपेक्षाओं की कसौटी पर कितना खरा उतर रहा है।

स्कूल के साथ इसकी समानता स्पष्ट है। बच्चा जल्दी ही सीख जाता है कि स्कूल में सबसे महत्वपूर्ण बात, या शायद एकमात्र महत्वपूर्ण बात, शिक्षक की शाबाशी प्राप्त करना है। अधिकांश शिक्षक, जो खुद भी अपने अधिकारी के किसी भी आदेश की तामील करने को तत्पर रहते हैं, मानते हैं कि बच्चे से आज्ञापालन करवाकर वे उसे सदाचारी बना रहे हैं। वास्तव में वे वह नैतिक सम्भावना भी नष्ट कर रहे हैं जो उसमें रही होगी। शिक्षक हमेशा मुझसे पूछते रहते हैं कि वे लोगों को नैतिक होना या “मानव” या

“मानवीय” होना कैसे सिखा सकते हैं। दिक्कत यह है कि यह सिखाया ही नहीं जा सकता, किसी को नैतिक या मानवीय बनाया नहीं जा सकता, कम से कम ऐसी जगह में तो कदापि नहीं जहाँ आपने बच्चे की सहमति के बगैर उसके जीवन व सोच पर कब्ज़ा कर लिया है। किसी और को नैतिक बनने में मदद के लिए अधिक से अधिक हम इतना ही कर सकते हैं कि उसके साथ नैतिक ढंग से पेश आएँ, यानी कम से कम उसे अपने अधीन न करें, गुलाम न बनाएँ। कारागार, जेल, S-schools और तमाम अन्य दमनकारी संस्थाएँ बेईमानी, अनैतिकता और अपराध सिखाने के अच्छे स्थान हैं। किन्तु नैतिकता, न्याय और सद्गुण ऐसी चीज़ें हैं जो ये संस्थाएँ नहीं सिखा सकतीं।

पिछले कुछ वर्षों से कई लोग, खासकर हार्वर्ड के डॉ. लॉरेंस कोहलबर्ग, कोशिश कर रहे हैं कि S-schools अपने बच्चों को नैतिकता सिखाएँ। इस काम के सम्बन्ध में 30 अप्रैल 1975 के न्यू यॉर्क टाइम्स में एक लम्बी रिपोर्ट छपी थी, जिसमें कहा गया था:

डॉ. कोहलबर्ग ने अपने निष्कर्षों को “नैतिक तर्क के छः चरण” के रूप में सूत्रबद्ध किया है। चरण 1 इस बात का सरल हिसाब है कि क्या चीज़ पालकों या अन्य अधिकारियों को प्रसन्न करेगी और दण्ड से बचाएगी। सबसे ऊपरी चरण, चरण 6, गाँधी या मार्टिन लूथर किंग, जूनियर, के साथ जोड़े जाने वाले सार्वभौमिक सिद्धान्तों व मानवाधिकारों के प्रति वफादारी और सम्मान का है।

यह तो ठीक ही लगता है। दिक्कत यह है कि डॉ. कोहलबर्ग के हार्वर्ड विश्वविद्यालय समेत S-schools का पूरा तंत्र अनिवार्य रूप से चरण 1 की नैतिकता के स्तर पर ही चलता है। किंडरगार्टन से लेकर ग्रेजुएट स्कूल तक यह तंत्र अपने छात्रों से यही कहता है कि जैसा हम कहते हैं वैसा करो, अन्यथा हम तुम्हें दण्ड देंगे। यह दण्ड पिटाई के रूप में, जेल में कैद के रूप में, या तुम्हारे रिकॉर्ड पर एक निशान के रूप में हो सकता है जो तुम्हारा जीना हराम कर देगा, तुम कभी वह काम नहीं कर पाओगे जो तुम करना चाहते हो। मुझे एक बार फिर हार्वर्ड के उस सीनियर छात्र की याद आती है जिसने कहा था कि A प्राप्त करने का तरीका यही है कि प्रोफेसर की हाँ में हाँ मिलाओ। या वह कॉलेज अध्यक्ष जिसने कहा था, “ग्रेजुएट स्कूल वह जगह है जहाँ आप अपने घुटनों पर खड़े होकर सोचना सीखते हैं।” ऐसी जगहों पर चरण 1 की नैतिकता के अलावा हम क्या सिखाएँगे?

न्यू यॉर्क टाइम्स के लेख में आगे कहा गया है:

कक्षा में अमल की दृष्टि से डॉ. कोहलबर्ग का लक्ष्य बच्चों को नैतिक सोच की ज़्यादा परिपक्व अवस्थाओं की ओर बढ़ने में मदद देना है। उन्होंने पाया है कि जब लोगों को अपने नैतिक विवेक के उपयोग के अवसर दिए जाएँ और खास तौर से जब उनका सम्पर्क ऐसे विचारों से कराया जाए जो उनके मौजूदा स्तर से एक स्तर ऊपर हैं, तो यह स्वाभाविक रूप से होता है।

परन्तु कौन-से स्कूलों में लोगों को अपने नैतिक विवेक की क्षमता के उपयोग के अवसर दिए जाते हैं? हम अपने नैतिक विवेक का उपयोग तभी करते हैं जब हम निर्णय करते हैं, गम्भीर निर्णय – जिनके आधार पर कार्य किए जाएँगे – और कोई छात्र स्कूल में यह सब नहीं कर सकता, क्योंकि सारे गम्भीर चुनाव और फैसले तो उसके लिए किसी और ने कर दिए होते हैं। ज़ाहिर है, डॉ. कोहलबर्ग के दिमाग में नैतिकता पर “चर्चा” की बात है। मगर चर्चा के ज़रिए नैतिकता सीखना वैसा ही है जैसे माचिसों के लेन-देन के लिए खेलकर पोकर (poker) सीखना। जैसे सही मायने में पोकर पैसों से खेलकर ही सीखा जा सकता है, उसी तरह नैतिकता सीखने का भी एक ही तरीका है कि हम कोई ऐसा फैसला करें जिसमें हमारा सचमुच नुकसान हो सकता है। और यकीन मानिए कि डॉ. कोहलबर्ग स्कूलों में अपने कार्यक्रम की बिक्री करते समय स्कूलों की नैतिक सत्ता पर सवाल नहीं उठाते, न ही वे छात्रों को यह सलाह देते हैं कि कुछ परिस्थितियों में उनके सामने सबसे नैतिक विकल्प यही होगा कि साथ मिलकर स्कूल की अवज्ञा करें। उदाहरण के लिए, वे ऐसी कोई भी परीक्षा या टेस्ट देने से इन्कार कर दें जिसके ज़रिए स्कूल उनको रैंक देता हो।

न्यू यॉर्क टाइम्स का लेख आगे कहता है:

बॉस्टन, पिट्सबर्ग और शिकागो में 30 कक्षाओं में अपने अनुसन्धान से डॉ. कोहलबर्ग ने पाया कि कम से कम एक सेमेस्टर तक खुले विकल्पों वाली नैतिक दुविधाओं पर चर्चा में भाग लेने के बाद 20 से 50 फीसदी छात्र नैतिक तर्क की अगली सोपान पर पहुँच गए, जबकि तुलना समूहों (कंट्रोल ग्रुपों) में ऐसा नहीं हुआ।

पता नहीं इस पर हँसें या रोएँ। क्या डॉ. कोहलबर्ग या किसी और को यह

समझ नहीं आया कि सेमेस्टर भर की उन चर्चाओं के दौरान कुछ तेज़ छात्र, सम्भवतः विजेता छात्र, यह ताड़ गए होंगे कि उनकी (शोधकर्ताओं की) नैतिक प्राथमिकताएँ क्या हैं, और उन्होंने (हार्वर्ड के वरिष्ठ छात्रों की तरह) तय किया होगा कि होशियारी इसी में है (चरण 1) कि उनकी हॉ में हॉ मिलाई जाए? आखिर डॉ. कोहलबर्ग हार्वर्ड विश्वविद्यालय में हैं और शायद कुछ छात्र कभी वहाँ पहुँचने की उम्मीद रखते हों। नैतिकता सिखाने के लिए स्कूलों के उपयोग की बात एक घटिया चुटकुला है। यह उसी तरह कि बात है कि हम फौज का उपयोग शान्तिप्रियता सिखाने के लिए करें। जैसा कि एडगर फ्रीडेनबर्ग ने बहुत अच्छे से कहा है, बेबसी भ्रष्ट करती है। स्कूल छात्रों के हाथ से विकल्प चुनने की ताकत छीनकर उन्हें भ्रष्ट करते हैं। एक बार फिर डॉ. मिलग्रैम की ओर लौटने की इजाज़त चाहूँगा:

कुछ लोग इन्सान द्वारा बनाई गई व्यवस्थाओं को यों देखते हैं गोया उनका अस्तित्व किसी इन्सानी अभिकर्ता से ऊपर व परे है, इन्सानी सनकों और जज़बातों के नियंत्रण से बाहर है। अभिकरणों व संस्थाओं के पीछे मानवीय तत्व को नकारा जाता है। इसलिए जब प्रयोगकर्ता कहता है, “प्रयोग का *तकाज़ा* है कि तुम आगे बढ़ो” तो व्यक्ति को लगता है कि यह अनिवार्यता मात्र इन्सानी आदेश से कहीं बड़ी है। वह यह साधारण-सा सवाल नहीं पूछता, “किसका प्रयोग? जब वह पीड़ित व्यक्ति कष्ट में है तो प्रयोगकर्ता का हुक्म क्यों माना जाए?” एक आदमी – प्रयोग के रचयिता – की इच्छाएँ एक योजना का अंग बन चुकी हैं जो व्यक्ति के दिमाग पर एक ऐसा दबाव बनाती हैं जो वैयक्तिक से परे है। एक व्यक्ति दोहराता जा रहा था, “इसे तो *चलना ही* होगा, इसे तो *चलना ही* होगा”। वह यह भूल गया कि उसी के समान एक और इन्सान है जो चाहता है कि यह चलता रहे...

यह एक संस्थागत व्यक्ति का आदर्श ब्यौरा है, जिसके लिए ज़िन्दा इन्सानों की अपेक्षा संस्थाएँ और संस्थाओं की ज़रूरतें ज़्यादा वास्तविक, तुरत और बन्धनकारी हो गई हैं। जैसे, खुद को संस्थाओं का एक मशीनी पुर्जा बनाते हुए हमने अपनी आत्मा ही उन्हें सौंप दी हो। संस्थाएँ ही जीती हैं, उन्हें भूख-प्यास लगती है, दर्द होता है, वे मरती हैं। लोग तो रोबोट हैं।

सत्ता की आज्ञा के पालन सम्बन्धी चर्चा में आगे डॉ. मिलग्रैम निर्मम ताकत या किसी उपाधि, वर्दी या रैंक पर आधारित आधिकारिक सत्ता और

कुदरती सत्ता के बीच महत्वपूर्ण भेद नहीं करते। उक्त प्रयोग के दौरान लोग दरअसल आधिकारिक सत्ता की आज्ञा का पालन कर रहे थे। एक जगह डॉ. मिल्ग्रैम कहते हैं कि वे स्वेच्छा से आज्ञापालन कर रहे थे। उन व्यक्तियों के व्यवहार के विवरण के लिए यह थोड़ी अजीब संज्ञा है। वे आज्ञापालन कर रहे थे, कई बार पीड़ा के साथ, क्योंकि उन्हें लगता था कि और कोई चारा नहीं है। मगर इसे स्वैच्छिक आज्ञापालन नहीं कह सकते। हम स्वेच्छा से आज्ञापालन तभी करते हैं जब हमें लगे कि हमें छूट है, हम सचमुच तय करने को स्वतंत्र हैं; जब अवज्ञा करने पर दण्ड, शर्मिन्दगी या अपराध बोध का डर न हो; जब हम आज्ञापालन करते हैं क्योंकि हम करना चाहते हैं, इसलिए नहीं कि करना पड़ेगा।

कभी-कभी कुदरती सत्ता और आधिकारिक सत्ता परस्पर मिली-जुली हो सकती हैं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी पद पर बैठा व्यक्ति सचमुच सम्मानित होता है, उसके अधीनस्थ लोग सचमुच उसकी प्रशंसा करते हैं, उससे प्यार करते हैं। संगीत और कला के क्षेत्र में प्रायः ऐसा होता है – टोस्कानिनी या बेलैन्चाइन इसके विख्यात उदाहरण हैं। मगर अधिकांश समय आधिकारिक सत्ता कुदरती सत्ता को कमज़ोर करती है, नष्ट कर देती है। जो लोग, स्कूल में बच्चों की तरह, दण्ड या अपमान के डर से चिड़चिड़ाकर, *आँख मूँदकर*, डॉ. मिल्ग्रैम के व्यक्तियों के समान गैर-ज़िम्मेदारी से आधिकारिक सत्ता की आज्ञा का पालन करना सीखते हैं, उनके बारे में यकीनन कहा जा सकता है कि वे असली व कुदरती सत्ता को पहचानने या स्वेच्छा से, ज़िम्मेदारी से और पूरे दिल से उसके प्रति समर्पण की क्षमता गँवा चुके होंगे। दरअसल जो लोग सही कारणों से आज्ञापालन करना जानते हैं, वही गलत कारणों से आज्ञापालन नहीं करेंगे, और चाहे जिसका भी आदेश हो, वे यातना का स्विच नहीं दबाएँगे।

S-schools से s-schools तक

S-schools को ईमानदार विचारों, भावनाओं, बातचीत, और अच्छे शिक्षण की अच्छी जगहें बनाने की ओर पहला कदम यह होगा कि उन्हें s-schools में बदल दिया जाए। यह बार-बार कहने की ज़रूरत नहीं है कि S-schools के साथ समस्या तकनीकी नहीं बल्कि नैतिक है, मामला विधियों का नहीं बल्कि उद्देश्यों का है, साधनों का नहीं बल्कि साध्य का है। वे घटिया स्थान हैं क्योंकि उनके पास घटिया काम हैं। उन्हें अच्छे स्थान बनाने की दिशा में पहला कदम – कई कदमों में से मात्र पहला कदम – यह होगा कि ये काम उनसे दूर कर दिए जाएँ। वे बच्चों के लिए जेल न हों; संक्षेप में, *किसी भी उम्र* के लिए वे अनिवार्य न हों। और उन्हें अपने छात्रों को रैंक देने व उन पर लेबल चस्पाँ करने की *अनुमति* नहीं होनी चाहिए। क्योंकि यदि उन्हें इसकी अनुमति हुई, तो उनमें से कुछ अवश्य रैंक देंगे, और यदि कुछ ने देना शुरू किया तो सबको देना पड़ेगी क्योंकि कोई रैंक न देना सबसे निचली रैंक देने के बराबर हो जाएगा। ये परिवर्तन करना एक राजनैतिक कार्य है। स्कूल या स्कूलों के लोग खुद यह नहीं कर सकते। जनता और उसकी कानून बनाने वाली संस्थाओं को स्कूल में अनिवार्य उपस्थिति सम्बन्धी कानून हटाने होंगे, और वे सारे प्रावधान हटाने होंगे जिनके ज़रिए स्कूल दुनिया को यह बताते हैं कि उनके छात्र किस काबिल हैं।

ये दो राजनैतिक कार्य साथ-साथ चलते हैं। जब तक स्कूल ही एकमात्र ऐसे स्थान हैं जहाँ से कोई भी काम, खासकर सबसे बढ़िया काम करने के लिए टिकट यानी डिप्लोमा, लायसेंस, प्रमाण पत्र मिलते हैं, तब तक बच्चों को यह बताकर कोई फायदा नहीं होगा कि उनके लिए स्कूलों में जाना ज़रूरी नहीं है। समस्या यह है कि स्कूलों से छात्रों को रैंक व लेबल देने का अधिकार और नौकरी व कैरीयर के टिकट देने का विशिष्ट

अधिकार, दोनों छीन लिए जाएँ। एक तरीका तो यह होगा कि ये टिकट ही खत्म कर दिए जाएँ। दूसरा तरीका है कि यह सम्भव बना दिया जाए कि स्कूल जाए बगैर भी लोग ऐसे टिकट प्राप्त कर सकें। इनमें से पहला तरीका कई तरह से बेहतर लगता है। क्यों किसी व्यक्ति को कोई काम करने की अनुमति तब तक न हो जब तक कि उसके पास एक कागज़ की चिन्दी पर लिखा न हो कि वह इसके लिए दक्ष है? ऐसे कागज़ों के आविष्कार के पहले भी लोग जीते थे और तमाम किस्म के मुश्किल व कुशल काम करते थे। यदि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ या उनके लिए काम करना चाहता है, तो उन्हें तय करने दीजिए कि वह सक्षम है या नहीं। कोई और यह काम क्यों करे?

इससे एक मुश्किल सवाल उठता है। कब और किस हद तक हम नागरिकों को इजाज़त होगी कि हम धूर्त और अक्षम लोगों से खुद की रक्षा करें? यह तय करें कि क्या खरीदें या इस्तेमाल करें, या किसके साथ काम करें, और कब हमारे चाहे-अनचाहे हमारी रक्षा की जाएगी, और की जाएगी तो कैसे और किसके द्वारा? इसके अलावा, स्कूलों द्वारा लायसेंस दिए जाने की वर्तमान व्यवस्था क्या इसका अच्छा तरीका है? क्या यह सबसे अच्छा तरीका है, या क्या यही एकमात्र तरीका है? मेरा ख्याल है कि ऐसा कुछ नहीं है। रक्षक अक्सर रक्षा न करके जनता को लूटने और छलने की एक नई साज़िश में शामिल हो जाते हैं। यदि हमें शुरू से ही विशेषज्ञ-पूजक न बनाया जाता, और यदि आसानी से हम खतरों के बारे में सच्चाई पता लगा सकते, तो शायद हम सारे तो नहीं मगर अधिकांश खतरों से खुद की रक्षा भलीभाँति कर सकते। संरक्षणवादी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन तो कहते हैं कि मेडिकल डॉक्टरों को भी लायसेंस नहीं दिया जाना चाहिए। यदि किसी को लगता है कि वह लोगों को स्वस्थ कर सकता है, तो कहने दीजिए और जो भी ग्राहक उसके पास आते हैं, आने दीजिए। मगर यह ज़रूरी कर दीजिए कि वह अपनी विधियाँ और अपने काम के परिणाम सबके सामने खुलासा करे। इसमें उसके सारे पूर्व मरीज़ों के नाम-पते भी शामिल हों ताकि ग्राहक जाँच कर सकें। जो लोग पैसा खर्च कर सकते हैं, वे तो आज भी कमोबेश यही करते हैं; वे पुराने मरीज़ों या मुवक्किलों से पूछताछ करने के बाद ही किसी डॉक्टर या वकील के पास जाते हैं।

इस विचार के गुण-दोषों की चर्चा करने के लिए जितने स्थान की ज़रूरत होगी उतना यहाँ नहीं है। राजनैतिक दृष्टि से देखें तो तात्कालिक तौर पर

प्रमाण पत्रों को समाप्त करना बहुत आमूल व मुश्किल परिवर्तन लगता है। फिलहाल शायद इन प्रमाण पत्रों पर स्कूलों का एकाधिकार समाप्त करना ज़्यादा आसान होगा। हम ऐसे कानून बना सकते हैं कि जब भी किसी काम को करने के लिए ऐसे किसी प्रमाण पत्र की ज़रूरत होगी, तो ऐसे तरीके उपलब्ध होंगे कि स्कूल में जाए बगैर भी ये प्रमाण पत्र हासिल किए जा सकें। संक्षेप में, अपनी दक्षता का प्रदर्शन करने के अन्य तरीके होना चाहिए।

मैंने यह सुझाव आइसलैण्ड में अपने एक मित्र के सामने रखा, जो गर्मियों में दूर-दराज के पहाड़ों में एक स्की शिविर तथा एक स्की स्कूल चलाने में मदद करता है। उसने काफी सोच-समझकर जवाब दिया, “ठीक है, मगर स्की शिविर में जाते हुए हमें काफी कठिन रास्ते से गुज़रना होता है, नदियाँ पार करनी होती हैं, वगैरह। जब हम किसी व्यक्ति को बस चलाने के लिए रखेंगे, तो हमें पता होना चाहिए कि वह यह सब कर सकता है। और यह पता करने के लिए हम अपनी बस जोखिम में बिल्कुल नहीं डालेंगे। कहीं कोई स्कूल होना चाहिए, जहाँ खास इसी मकसद से बसें हों, जहाँ ड्राइवर सीख सकें, अभ्यास कर सकें, ताकि जब यह स्कूल कहे कि कोई व्यक्ति काबिल है तो हम भरोसा कर सकें कि वह हमारी बसें चला लेगा।” सही है। कोई वजह नहीं कि कोई अपनी बस या कार या हवाई जहाज़ सिर्फ यह जानने के लिए दाँव पर लगाए कि कोई व्यक्ति उन्हें चलाना जानता है या नहीं। शायद आइसलैण्ड जैसे छोटे-से देश में अधिकांश लोगों के लिए खराब सड़कों पर बस चलाना सीखना तब तक मुमकिन न हो जब तक कि वे किसी ऐसे स्कूल में न जाएँ जिसकी अपनी बसें हों। मगर किसी के लिए ऐसे स्कूल में जाना कानूनन अनिवार्य नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह, बगैर ऐसे किसी भी स्कूल में गए, बस चलाना सीख सके, जैसे अधिकांश लोग कार चलाना सीखते हैं, और अपनी दक्षता का प्रदर्शन कर सके। कोई भी चीज़ सीखने के लिए और अपनी दक्षता प्रदर्शित करने के लिए स्कूल के अलावा अन्य तरीके भी होने चाहिए। आज देश में जितने लोग ट्रक चलाते हैं, वे ऐसे ही करते हैं। वे किसी ट्रक-ड्राइविंग स्कूल में ट्रक चलाना नहीं सीखते। वे तो कोई ऐसा व्यक्ति खोज निकालते हैं जिसके पास ट्रक हो और उससे सीख लेते हैं। यह हरेक हुनर के लिए सम्भव होना चाहिए। ज़ाहिर है, किसी बड़े हवाई अड्डे पर एयर टैफिक कंट्रोलर बनने के लिए काफी हुनर और विवेक की ज़रूरत होती है। कई जानें उनके भरोसे हैं।

किन्तु अभी हाल तक कम से कम अमरीका में एयर टैफिक कंट्रोलर के प्रशिक्षण या उसे लायसेंस देने के लिए कोई औपचारिक या स्कूल-नुमा व्यवस्था नहीं थी। वे अपना काम किसी जानकार व्यक्ति के सहायक के रूप में काम करके सीखते हैं। इनमें से कई कंट्रोलरों के पास मात्र हाई स्कूल डिप्लोमा ही है, और अधिकांश निहायत हुनरमन्द हैं।

आगे बढ़ने के लिए, कम से कम अमरीका में, हमारे पास एक कानूनी नज़ीर है। यह नज़ीर *ग्रिग्स बनाम ड्यूक पावर कम्पनी* (खण्ड 401, *अमरीका रिपोर्ट*, पृ. 424; खण्ड 91, *सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट*, पृ. 849) के मामले में पेश हुई है। ड्यूक पावर में काम करते हुए एक अश्वेत कर्मचारी ग्रिग्स ने अपेक्षाकृत अधिक हुनरमन्द व बेहतर वेतन वाले काम के लिए आवेदन किया। कम्पनी ने उसे कुछ लिखित स्कूल-नुमा टेस्ट दिए और इन टेस्टों के आधार पर उसे वह काम देने से इन्कार कर दिया। ग्रिग्स ने मुकदमा ठोक दिया। उसकी दलील थी कि उक्त टेस्टों का उस काम के लिए ज़रूरी हुनर से कोई वास्ता नहीं था, और वे उसके साथ नस्ल के आधार पर भेदभाव करने के औज़ार भर थे, जो कि कानूनन प्रतिबन्धित है। सुप्रीम कोर्ट ने यह कहते हुए सर्वसम्मति से ग्रिग्स के हक में फैसला सुनाया कि ड्यूक पावर को यह सिद्ध करना होगा कि उन्होंने आवेदक (खासकर एक अश्वेत आवेदक) को जो टेस्ट दिए थे वे उस काम के लिए ज़रूरी हुनर से सम्बन्धित थे। यह फैसला शायद गोरे कामगारों पर लागू न हो सके। कांग्रेस या संसद को यह सुनिश्चित करने के लिए ऐसे कानून बनाना चाहिए कि गोरे-काले किसी भी कामगार को किसी नौकरी से मात्र स्कूल प्रमाण पत्र या उस काम की ज़रूरतों से असम्बन्धित टेस्ट के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

स्कूलों और उनकी टिकटों की ताकत को और कम करने के लिए हम हाई स्कूल समकक्ष परीक्षा का विचार भी आगे बढ़ा सकते हैं। सारे प्रान्तों व संघीय प्रदेशों में जिन लोगों ने कभी हाई स्कूल पूरा नहीं किया है, वे एक परीक्षा उत्तीर्ण करके हाई स्कूल डिप्लोमा के समकक्ष प्रमाण पत्र हासिल कर सकते हैं। फिलहाल स्थिति यह है कि एक उम्र से कम के लोग यह परीक्षा नहीं दे सकते। यह उम्र अलग-अलग प्रान्तों में सत्रह से लेकर इक्कीस साल तक है। कहीं-कहीं यह परीक्षा तभी दे सकते हैं जब आपकी उम्र हाई स्कूल पास करने की सामान्य उम्र से एक-दो साल ज़्यादा हो जाए। ज़ाहिर है, कोई भी युवा व्यक्ति यह कहकर स्कूल नहीं छोड़ सकता कि उसने वह सब सीख लिया है जो स्कूल उसे सिखाने वाला है। मगर

जल्द ही हम कई प्रान्तों में ऐसे कानून बनाने की स्थिति में होंगे कि व्यक्ति यह समकक्ष परीक्षा किसी भी उम्र में दे सके – या शायद ऐसा कानून भी बनाया जा सकेगा कि जो व्यक्ति यह समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण कर ले, उसे हाई स्कूल जाने की ज़रूरत नहीं है, और यदि उसकी उम्र स्कूल छोड़ने की सामान्य उम्र से कम है तो भी उसे बगैर भुगतान अपनी पसन्द के सरकारी कॉलेज में दाखिला दिया जाना चाहिए।

इस विचार को और आगे बढ़ाया जा सकता है। न्यू यॉर्क प्रान्त के शिक्षा आयुक्त डॉ. एवालड नायक्विस्ट ने एक कॉलेज-समकक्ष परीक्षा का सुझाव दिया है। इससे स्वशिक्षित लोगों को कॉलेज डिप्लोमा प्राप्त करने में मदद मिलेगी।¹ इसी तरह से जूनियर हाई स्कूल या नौवीं कक्षा की या लगभग सारी कक्षाओं की समकक्ष परीक्षाएँ हो सकती हैं, और जो व्यक्ति किसी कक्षा की समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण कर ले, उसे उस कक्षा में स्कूल में समय न बिताना पड़े। तब वह तय कर सकता है कि स्कूल की अगली कक्षा में जाए, या स्कूल में स्वतंत्र अध्ययन करे, या स्कूल न ही जाए। अमीर-गरीब, काले-गोरे कई बच्चों ने दर्शा दिया है कि सही माहौल मिले तो वे स्कूल द्वारा आम तौर पर सिखाई जाने वाली चीज़ों को स्कूल की बनिस्बत काफी तेज़ी से सीख लेते हैं। यदि कानून इजाज़त दे तो ऐसे सब बच्चे स्कूली शिक्षा कहीं जल्दी पूरी कर सकते हैं। इससे जो समय मिलेगा उसका उपयोग कुछ बच्चे शायद स्कूल से बाहर रहकर काम करने में या अन्य चीज़ें करने में करेंगे। कुछ बच्चे अपेक्षाकृत जल्दी आगे की शिक्षा में जा सकेंगे।

यह उन तमाम गरीब या अश्वेत बच्चों के लिए बहुत मददगार होगा जो डॉक्टर या वकील बनना चाहते हैं या अन्य व्यवसाय करना चाहते हैं। इन व्यवसायों से उन्हें बाहर रखने में, अन्य बातों के अलावा, इस बात का भी योगदान है कि उन्हें स्कूली प्रमाण पत्र हासिल करने में इतना समय लगाना पड़ता है। पैसा भी एक बड़ी समस्या है। 1971 में कॉलेज में शिक्षण, कमरे व भोजन का औसत खर्च करीब 3000 डॉलर प्रति वर्ष था। इसमें कॉलेज

¹ स्टेट ऑफ न्यू यॉर्क विश्वविद्यालय के रीजेन्ट अब दुनिया में कहीं भी रहने वाले, किसी भी उम्र के व्यक्ति को बाह्य उपाधि प्रदान करते हैं। इसके अन्तर्गत एसोसिएट्स इन आर्ट्स, एसोसिएट्स इन साइंस, एसोसिएट्स इन साइंस (नर्सिंग), एसोसिएट्स इन एप्लाइड साइंस (नर्सिंग), बेचलर ऑफ आर्ट्स, बेचलर ऑफ साइंस उपाधियाँ दी जाती हैं।

आने-जाने, किताबों, कपड़ों, मनोरंजन वगैरह का खर्च शामिल नहीं है। तब से स्कूली शिक्षा का खर्च तेज़ी से बढ़ा है। आज प्रतिष्ठित कॉलेजों, जिनके डिप्लोमाओं का सबसे ज़्यादा महत्व है, का खर्च लगभग 6000 डॉलर प्रति वर्ष है। परन्तु यदि एक गरीब व्यक्ति को स्कूल निशुल्क उपलब्ध भी हो, तो भी उसे अपनी उस आमदनी से तो हाथ धोना ही पड़ेगा जो वह काम करके कमा लेता। चूँकि कई व्यवसायों के लिए दो-तीन से लेकर पाँच-दस या उससे भी ज़्यादा साल की ग्रेजुएट शिक्षा की ज़रूरत होती है, इसलिए आमदनी की यह क्षति दसियों हज़ार डॉलर की हो सकती है। शायद ही कोई गरीब व्यक्ति इतना नुकसान उठाने में सक्षम हो। मगर यदि वे सोलह साल की स्कूली शिक्षा उससे आधी या आधी से भी कम अवधि में पूरी कर सकें तो शायद वे अपेक्षाकृत ज़्यादा व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेंगे।

यह मानने के कुछ कारण हैं कि शायद किसी दिन कानून-निर्माता ऐसे कानून बना देंगे। अब्बल तो, चाहे मन्दी जारी रहे या थोड़ी कम हो जाए, अधिकांश स्थानीय सरकारों के पास पैसे की कमी रहेगी। कुछ तो आज ही दिवालिया हैं। इसके साथ ही, जुझारू तथा विकसित होते शिक्षक संगठन शायद लगातार वेतन-वृद्धि हासिल करते जाएँगे। स्कूली शिक्षा ऐन उस वक्त महँगी होने वाली है जब लोगों के पास शिक्षा पर खर्च करने के लिए पैसे की तंगी है। ऐसे वक्त में हम इन विचारों के पक्ष में संसदीय बहुमत तैयार कर सकेंगे : (1) जब कोई बच्चा किसी कक्षा में सिखाई जा रही चीज़ें सीख चुका है, तो उसे उस कक्षा में बनाए रखने के लिए करदाता का कीमती धन क्यों खर्च करें? स्कूली बच्चों को यह छूट क्यों न दी जाए कि वे जितनी तेज़ रफ्तार से सीख सकते हैं सीखें? (2) हम ऐसे बच्चों को क्यों रोककर रखें जो खुद उन्नति करना चाहते हैं, उत्पादक नागरिक बनना चाहते हैं, अन्य बच्चों के लिए एक मिसाल कायम करना चाहते हैं, वगैरह? कहना न होगा कि शिक्षक संगठन इसका विरोध करेंगे; शिक्षकों के लिए ज़्यादा नौकरियाँ पैदा करने के लिए वे ज़्यादा लोगों को ज़्यादा समय तक स्कूलों में रखना चाहते हैं। मगर कठिन समय में वे शायद यह राजनैतिक लड़ाई न जीत पाएँ।

इस तरह के कानून लागू हो जाने पर, सीखने-सिखाने की अन्य व्यवस्थाओं को ग्राहक तथा कुछ सहायता मिलने लगेगी। तब मोहल्लों में छोटे-छोटे शिक्षण केन्द्र (ट्यूटोरिंग सेन्टर) हो सकते हैं, या उस तरह के शॉपफ्रंट मिनीस्कूल हो सकते हैं जिनके बारे में पॉल गुडमैन और जॉर्ज डेनिसन ने

लिखा था और जो न्यू यॉर्क में बहुत सफल रहे हैं, या बीकन हिल फ्री स्कूल या लर्निंग एक्सचेंज के मोहल्ला संस्करण हो सकते हैं, या उस तरह के स्टोरफ्रंट लर्निंग सेन्टर हो सकते हैं जैसे कुछ समय तक बॉस्टन में थे, या अन्य नवाचार हो सकते हैं। आज यदि इस तरह के समूह आधिकारिक मान्यता प्राप्त स्कूलों के रूप में गठित होना चाहें तो हाज़िरी, अग्नि व सुरक्षा संहिताएँ, दस्तावेज़, प्रमाणित शिक्षक वगैरह सम्बन्धी प्रान्तीय व स्थानीय नियम-कायदे उनके काम में रुकावट बन जाते हैं और इन्हें इतना महँगा बना देते हैं कि अधिकांश लोग इनका उपयोग नहीं कर सकते। दूसरी ओर यदि इन्हें सरकारी मान्यता न हो, तो अधिकांश लोग इनका उपयोग करने की ज़रूरत नहीं करते। यदि कोई पालकों को आश्वस्त कर भी दे कि वे, उनके पड़ोसी और मित्र मिलकर सीखने की ऐसी परिस्थितियाँ बना सकते हैं जो उनके बच्चों के लिए उपलब्ध स्कूलों से ज़्यादा मददगार होंगी, तो भी वे कहेंगे, “हो सकता है कि यह हमारे बच्चों के लिए बेहतर होगा, मगर हमारे बच्चों को टिकटें चाहिए, जो शायद स्कूलों में ही मिल सकती हैं; सो जैसा भी हो, उन्हें वहाँ जाना ही पड़ेगा।”

ऐसा नहीं है कि बड़ी संख्या में अश्वेत, अल्प-आमदनी, गरीब लोग मोहल्ले में वैकल्पिक स्कूलों को लेकर बहुत उत्सुक हैं। कुल मिलाकर अमीरों के ही समान गरीब लोग भी मानते हैं कि बच्चे रिश्वत, लोभ, धमकियों और डर से ही सीखते हैं। अलबत्ता, इसके अपवाद भी हैं। कुछ गरीब लोग अपने बच्चों के लिए जीने व सीखने की अपेक्षाकृत अनौपचारिक, लचीली, जीवन्त, मानवीय स्थितियों का स्वागत करेंगे, कर भी रहे हैं। जैसे-जैसे ये अपना मूल्य स्थापित करेंगे (जैसा कि कुछ ने किया भी है), वैसे-वैसे इनके समर्थक बढ़ेंगे। शायद यह अल्पमत ही रहेगा, मगर आज से कहीं ज़्यादा।

जैसे-जैसे हम देखेंगे कि कुछ संसाधन मिलने पर बच्चे रूढ़िगत स्कूल से बाहर रहकर कहीं ज़्यादा तेज़ी से सीखते हैं, वैसे-वैसे शायद हम हाज़िरी के नियमों को लागू करने में सख्ती कम कर देंगे या हो सकता है कि हाज़िरी को अलग ही ढंग से परिभाषित करने लगे। मसलन मैंने *फ्रीडम एंड बीयॉण्ड* में सुझाव दिया था कि प्रति वर्ष स्कूल हाज़िरी के आवश्यक दिन घटा दें या स्कूल को पूरे वर्ष चालू रखें और छात्रों को छूट दें कि वे साल में कभी भी अपनी हाज़िरी पूरी कर लें। हम शाम को स्कूल लगा सकते हैं ताकि बच्चे दिन में कुछ और – काम, प्रशिक्षण – कर सकें और शाम को अपनी स्कूली शिक्षा पूरी कर लें। काम समेत कई तरह की

गतिविधियों को स्कूली मान्यता दी जा सकती है। प्रशासनिक सुविधा के अलावा कोई कारण नहीं है कि कोई छात्र अपना सारा स्कूली कार्य एक ही स्कूल में करे। क्यों न उसे अनुमति हो कि वह अपना कुछ स्कूली कार्य एक स्कूल में करे और बाकी किसी दूसरे स्कूल में? छात्र को यह छूट होनी चाहिए कि वह अपने गृह प्रान्त के किसी भी स्कूल में जा सके और स्कूल को छात्रों की संख्या के अनुसार अनुदान सहायता मिले। यह स्कूल के लिए प्रलोभन होगा कि वह छात्रों को आकर्षित करे।

यह सही भी लगता है कि यदि राज्य छोटे बच्चों को स्कूल जाने को मजबूर करता है, तो कम से कम उन्हें स्कूल चुनने की छूट हो। यदि इसके लिए उन्हें परिवहन व्यवस्था की ज़रूरत है, तो राज्य या ज़िला इसका भुगतान करे। अल्पसंख्यक समूहों के लिए अलग-थलग व घटिया स्कूलों की समस्या का यही एक समाधान मुझे नज़र आता है। यदि उन्हें अपने ज़िले का स्कूल पसन्द है, तो वे वहाँ जाएँ; यदि नहीं, तो उन्हें किसी भी ज़िले में कोई भी स्कूल चुनने की छूट हो। नस्ल के समान निवास स्थान के आधार पर भी किसी को किसी स्कूल में दाखिले से इन्कार नहीं किया जाना चाहिए। गरीब बच्चों को भी, वे काले हों या गोरे, सम्पन्न बच्चों की तरह यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी पसन्द के स्कूल में जा सकें।

शायद समय के साथ स्कूल में अनिवार्य हाज़िरी के कानून उन अन्य कानूनों के समान मुर्दा लफ़्ज़ हो जाएँगे जिन्हें कभी लागू नहीं किया जाता मगर जिन्हें (विवेकहीन ढंग से) कानून की किताब में से हटाया नहीं जाता, क्योंकि उन्हें निरस्त करने की अपेक्षा उनकी अवहेलना करना राजनैतिक रूप से ज़्यादा सुरक्षित होता है। जैसे-जैसे समाज बच्चों के लिए ज़्यादा सुरक्षित व दिलचस्प स्थानों और करने के लिए ज़्यादा उपयोगी चीज़ों की रचना करेगा, वैसे-वैसे स्कूलों का जेल कार्य समाप्त होता जाएगा। इसमें समय लगेगा। मगर निकट भविष्य में भी हम इस दिशा में कुछ कदम उठा सकेंगे।

तब हमारे पास एक ही कार्य बच जाता है कि बच्चों को रैंक देने व उन पर लेबल चस्पाँ करने का अधिकार स्कूलों से ले लें। मैंने ज़िक्र किया था कि बढ़ती संख्या में स्कूल बच्चों (और अक्सर उनके पालकों) के बारे में अनिष्टकारी, अपमानजनक, छद्म मनोवैज्ञानिक रिकॉर्ड रखते हैं। स्कूलों या उनके संचालकों, प्रशासकों, कर्मचारियों, सलाहकारों, या एजेंटों द्वारा बच्चों के बारे में ऐसे रिकॉर्ड रखा जाना दण्डनीय अपराध होना चाहिए।

कानून में यह स्पष्ट होना चाहिए कि किसी बच्चे के बारे में स्कूल एकमात्र रिकॉर्ड उसके ग्रेड का रख सकता है, और यह नियमित रूप से पालकों को भेजा जाएगा। यदि स्कूल बच्चे का कोई और टेस्ट – मनोवैज्ञानिक, चिकित्सकीय, आइ.क्यू. से सम्बन्धित या कुछ भी और टेस्ट – करना चाहता है तो पालकों की अनुमति से ही कर सकेगा और ऐसे किसी भी टेस्ट के परिणाम पालकों को भेजे जाएँगे। कानून में यह भी साफ तौर पर लिखा जाना चाहिए कि यदि स्कूल पालकों की अनुमति के बगैर, खालिस शैक्षणिक परीक्षा के अलावा कोई और टेस्ट करता है, या कानून द्वारा अनुमतिशुदा रिकॉर्ड के अलावा कोई रिकॉर्ड रखता है, या अपने किसी रिकॉर्ड को पालकों को दिखाने से इन्कार करता है, तो पालकों को स्कूल तथा उसके तमाम अधिकारियों, कर्मचारियों, एजेंटों से अपने नागरिक अधिकारों के उल्लंघन का हर्जाना वसूल करने का अधिकार होगा। वह चाहे किन्हीं भी शब्दों में लिखा जाए, मगर ऐसा कानून इतना सख्त होना चाहिए कि स्कूल का संचालक मण्डल, प्रशासक और शिक्षक उन्हें तोड़ने की हिम्मत न कर सकें।

स्कूलों से रैंकिंग का उनका कार्य छीनने के लिए हमें और आगे जाना होगा। यदि कोई स्कूल यह जानने के लिए कि बच्चे क्या सीख रहे हैं या नहीं सीख रहे हैं, कुछ टेस्ट करना चाहता है, या बच्चों से काम करवाने के लिए डर और प्रलोभन का कोई तरीका अपनाना चाहता है, तो उसे इसका अधिकार होना चाहिए। ऐसे कुछ पालक तो हमेशा रहेंगे जो अपने बच्चों को इस तरह के स्कूलों में भेजना चाहेंगे। मगर कानून में यह स्पष्ट होना चाहिए कि स्कूल द्वारा छात्रों के बारे में बनाए गए ऐसे सारे रिकॉर्ड, वे चाहे मात्र ग्रेड हों, छात्रों की सम्पत्ति होंगे और स्कूल छोड़ते समय पूरी तरह उन्हें सौंप दिए जाएँगे। वे चाहें तो बाद में ये ग्रेड और लोगों को दिखा सकते हैं। अन्यथा किसी और को ये रिकॉर्ड देखने का अधिकार नहीं होगा।

इस तरह के कदमों से हम बच्चों को बाँधने व रैंक देने का अधिकार स्कूलों से छीन सकते हैं। अपने इसी अधिकार के बल पर वे बच्चों को बार-बार उपदेश देकर कुछ चीज़ें उनके दिमाग में अंकित करने की कोशिश करते हैं। इस अधिकार से वंचित स्कूल बच्चों को नहीं बता सकेंगे कि उन्हें क्या सीखना होगा। कोई भी स्कूल कह सकता है, जैसे भाषा या टाइपिंग या कराटे स्कूल कहते हैं, “यदि तुम यहाँ आना चाहते हो, तो तुम्हें यह सीखना पड़ेगा क्योंकि हम यही सिखाते हैं।” मगर बच्चा यह तय कर सकता है कि

वहाँ जाए या न जाए। काफी हद तक (पूरी तरह नहीं) यही वह राजनैतिक प्रक्रिया है जिसे “स्कूल से मुक्ति” यानी “डीस्कूलिंग” कहते हैं। यह प्रक्रिया स्कूलों को शिक्षा देने वालों की बजाय करनेवालों और सीखनेवालों की सेवा में लगा देगी।

मगर स्कूलों को जीने, करने, पढ़ाने की अच्छी जगह बनाने की दिशा में यह मात्र पहला कदम होगा। S-schools को s-schools में बदलने से वहाँ के सारे लोग रातों-रात नहीं बदल जाएँगे। अधिकांश शिक्षक वही या वैसे ही रहेंगे जैसे वे आज हैं। कुछ शिक्षक S-schools के s-schools में इस परिवर्तन का स्वागत करेंगे। कई अन्य शिक्षक समय के साथ नए हालात के साथ तालमेल बना लेंगे, और अपनी पहले की आधिकारिक, दबाव आधारित सत्ता की बजाय अपने वास्तविक अनुभव, रुचि और हुनर के बल पर कुदरती सत्ता विकसित कर लेंगे। मगर कई शिक्षक यह बदलाव नहीं कर पाएँगे। S-schools को s-schools में बदलने के बाद भी उन कई शिक्षकों से छुटकारा पाने में समय लगेगा जिन्हें बच्चे अच्छे नहीं लगते, जिन्हें बच्चों पर भरोसा नहीं है, जिन्हें पढ़ाना अच्छा नहीं लगता और न ही वे पढ़ाने में कुशल हैं। अधिकांश की छुट्टी नहीं की जा सकती। जब छात्र इनके पास आना कम कर देंगे तो इनमें से कुछ निराश होकर छोड़ देंगे जबकि बाकी सेवानिवृत्ति तक बने रहेंगे। s-schools में ऐसे पर्याप्त लोगों को आकर्षित करने में बरसों लगेंगे जो सचमुच बच्चों को चाहते हैं, उनका सम्मान करते हैं, उन पर भरोसा करते हैं, और इस दुनिया की खोजबीन करने व इसका अर्थ समझने में उनकी मदद करना चाहते हैं। इनमें से कई भूतपूर्व T-teachers होंगे जिन्होंने नौकरी छोड़ दी है या जिन्हें निकाल दिया गया है। सारे बच्चों के लिए करने की पर्याप्त जगहें और पर्याप्त संख्या में सहृदय, दक्ष और मददगार वयस्क इकट्ठे करने में शायद एक पीढ़ी या उससे भी ज़्यादा समय लग जाएगा। मगर जैसे-जैसे शिक्षण एक सच्चा व्यवसाय व आनन्ददायक काम बनेगा, जैसा कि वह बन सकता है और बनना चाहिए, वैसे-वैसे इसमें ज़्यादा से ज़्यादा ऐसे लोग आकर्षित होंगे जो इसे अच्छी तरह करना चाहते हैं, और करेंगे।

परन्तु इससे भी हमें समाज में जो कुछ भी असमानता, अमानवीयता, सामाजिक व कानूनी अन्याय, गरीबी, पूर्वाग्रह, घटिया काम या बेरोज़गारी शेष रहेंगे, उनसे छुटकारा नहीं मिलेगा। *ये स्कूल की समस्याएँ नहीं हैं, और हम स्कूलों में या स्कूलों के साथ जो भी करें, उससे ये समस्याएँ हल नहीं*

हो सकतीं। हम अधिक से अधिक यही उम्मीद कर सकते हैं कि जिन बच्चों को करने की अच्छी जगहें मिली हैं और विकसित होने में मददगार उपयोगी वयस्क मिले हैं, वे समय के साथ इतने बुद्धिमान और उदार होंगे कि एक ऐसे समाज की रचना कर सकें जिसे बनाने की हमने परवाह नहीं की, या कोशिश नहीं की, या जिसे हम बना नहीं सके।

क्यों पढ़ाएँ?

हो सकता है कि इस पुस्तक के कुछ पाठक S-schools में काम करते हों या उनमें काम करने की तैयारी कर रहे हों। वे पूछेंगे, “इस सबके बारे में मैं क्या करूँ? मैं क्या कर सकता हूँ?” इस सवाल का जवाब इस बात पर निर्भर है कि वे S-schools के बारे में क्या महसूस करते हैं, और इस किताब में प्रस्तुत विचारों के बारे में क्या सोचते हैं। पहले मैं S-schools को लेकर लोगों के रवैयों को पाँच समूहों में बाँटना चाहूँगा:

- (1) “स्कूल मूलतः ठीक हैं। उन्हें कम पैसा खर्च करना चाहिए, थोड़ा अधिक सख्त और रूढ़िवादी होना चाहिए, और इतने सारे झक्की विचार नहीं पढ़ाना चाहिए। मगर कुल मिलाकर वे बढ़िया काम कर रहे हैं।” अधिकांश आम लोग ऐसा ही सोचते हैं। पाठ्य
- (2) “स्कूल मूलतः ठीक हैं। मगर अपना काम करने के लिए उन्हें नई व बेहतर तकनीकें व औज़ार चाहिए – नई इमारतें, आधुनिक उपकरण, कम्प्यूटर, ज़्यादा संख्या में शिक्षक और विशेषज्ञ, ज़्यादा तनखाहें, छोटी कक्षाएँ, ज़्यादा (या शायद कम) नस्लीय एकीकरण, आधुनिकतम पाठ्य पुस्तकें, नए पाठ्यक्रम, बच्चों को नियंत्रित करने के नए तरीके, संगति न बिठाने या न बिठा सकने वाले बच्चों की बढ़ती संख्या से निपटने के लिए ज़्यादा संख्या में विशेषज्ञ, शरारती बच्चों के लिए विशेष अनुशासन वाले स्कूल, वगैरह।” इस सब में विश्वास करने वाले लोग यह नहीं मानते कि स्कूलों की समस्या किसी भी रूप में इस बात से सम्बन्धित है कि वे बच्चों के साथ कैसा सलूक करते हैं। वे मानते हैं कि ये खालिस तकनीकी समस्याएँ हैं, जिन्हें वे और विशेषज्ञ मिलकर चुटकियों में सुलझा देंगे; बस, पर्याप्त पैसा होना चाहिए। S-schools या शिक्षा में काम करने वाले अधिकांश लोग ऐसा ही महसूस करते हैं।

- (3) “स्कूल ठीक हो जाएँगे यदि वे गरीब या अश्वेत या पराजित बच्चों के साथ भी उतना ही अच्छा सलूक करें जितना वे सम्पन्न, गोरे, विजेता बच्चों के साथ करते हैं, या उनका पाठ्यक्रम इतना नस्लवादी, या लिंगभेदवादी, या पूँजीवादी, या मामूली, या बासी न हो।” ऐसा सोचने वालों में कई राजनैतिक आमूल परिवर्तनवादी, अल्पसंख्यक तबकों या महिला आन्दोलन के नेता और कॉनेट, हचिन्स जैसे बौद्धिक आलोचक भी शामिल होंगे।
- (4) “स्कूलों का यह मकसद मूलतः ठीक है कि वे बच्चों को जानकारी देना चाहते हैं, उन्हें सोचने-समझने वाला, बुद्धिमान, प्रजातांत्रिक, ईमानदार और अन्य तरह से गुणवान बनाना चाहते हैं, मगर वे अपने मकसद को तब तक पूरा नहीं कर पाएँगे जब तक कि उनमें काफी बदलाव न किए जाएँ और वे बच्चों के साथ अलग ढंग से सलूक न करें।” इस राय से इत्तफाक रखने वालों में कई प्रगतिशील या मानवतावादी सुधारक होंगे, जिनमें अभी हाल तक मैं खुद भी शामिल था।
- (5) “स्कूलों के मकसद मूलतः बुरे हैं; और जब तक ये मकसद उनसे अलग नहीं किए जाते, उन्हें बच्चों के लिए, सीखने-सिखाने के लिए, बुद्धिमत्ता के लिए या विकास के लिए अच्छा स्थान नहीं बनाया जा सकता; और ये मकसद उनसे अलग करने का काम स्कूलों में काम करने वाले लोग नहीं, जनता ही कर सकती है।” हो सकता है कि ऐसा सोचने वाला मेरे अलावा कोई और न हो। यदि ऐसा सोचने वाले और लोग भी हैं, तो इस पुस्तक के ज़रिए मैं खोजना चाहूँगा कि वे कौन हैं।

समूह 1, 2 और 3 के अधिकांश लोग इस किताब को नहीं पढ़ेंगे, और यदि उन्होंने इसे पढ़ना शुरू किया भी तो यहाँ तक तो नहीं पहुँचेंगे। समूह 1 व 2 के लोगों को तो मेरे विचार पूरी तरह गलत या पागलपन लगेंगे। समूह 3 के लोगों को ये विचार शायद मामूली लगें (“किसे परवाह है कि बच्चे स्कूल में खुश हैं या नहीं? सवाल तो यह है कि स्कूल को कुछ इस तरह तब्दील किया जाए कि सारे बच्चे विजेता बनकर निकलें”)। इस किताब के ज़रिए, और खासकर इस आखिरी अध्याय में, मैं मूलतः समूह 4 व 5 के लोगों से मुखातिब महसूस करता हूँ।

उनसे मैं, एक बार फिर, कहना चाहता हूँ कि यह किताब शिक्षण के

खिलाफ नहीं है। यह किताब शिक्षा के हाथों शिक्षण की पराजय के बारे में है। मुझे किसी व्यक्ति को कोई ऐसा काम करने में मदद देकर बहुत खुशी होती है जिसे वह करना चाहता रहा है मगर डरता रहा है कि शायद नहीं कर सकेगा। बहुत दिन नहीं हुए, मेरी एक अत्यन्त होशियार और काबिल दोस्त ने कहा कि उसकी बड़ी इच्छा है कि वह संगीत पढ़ पाए। वह कुछ भी सीखने से कभी घबराती नहीं और संगीत प्रेमी है, मगर जब से उसने स्कूल में संगीत का अध्ययन किया, तब से यह काम उसे निहायत रहस्यमय, डरावना और असम्भव लगने लगा। मैंने उससे पूछा कि क्या कोई ऐसा हिस्सा है जो उसे ज़्यादा कठिन लगता हो। उसने हाथों से इशारा करके कहा, “सब का सब। मुझे समझ ही नहीं आता कि कागज़ पर बने उन काले धब्बों का मतलब क्या है।” मैंने पूछा कि उसे ताल ज़्यादा रहस्यमय लगती है या सुर। कुछ सोचकर उसने कहा कि सुर। पास में ही पियानो रखा था। मैंने कहा, “यदि तुम चाहो तो चन्द मिनटों में मैं बता सकता हूँ कि किसी कागज़ पर लिखे सुर को पियानो पर कैसे ढूँढते हैं।” वह राज़ी थी। आधे घण्टे के अन्दर वह पियानो की एक शुरुआती पुस्तक से एक टुकड़ा अपने आप बजा रही थी।

इस काम में उसकी मदद करने में मुझे पाँच बातों से मदद मिली थी। (1) यह उसका विचार था, उसकी रुचि थी; वह इसे करना चाहती थी। (2) वह चाहती तो मैं किसी भी क्षण रुकने को तैयार था। उसे पता था कि अपने जोश में मैं उसे भ्रम और बदहवासी में नहीं धकेलूँगा, न ही शर्मिन्दा करूँगा, जैसा कि कई उत्सुक या दृढ़ शिक्षक करते हैं। (3) मैंने उसकी चिन्ता व भ्रम दोनों को वैध व संजीदा माना। अपने दिमाग की तनहाई में भी मैंने उसके डर या सवालों को नादान कहकर खारिज नहीं किया था। (4) मैं उसे सारे सवाल पूछने देने, उसके सवालों का इन्तज़ार करने और उसे अपने जवाबों का मनचाहा उपयोग करने की छूट देने को तैयार था। मैंने उसकी समझ की जाँच नहीं की थी। मैंने यह फैसला उस पर छोड़ दिया कि वह समझी है या नहीं, और यदि नहीं समझी है, तो अगला सवाल क्या पूछे। (5) मैं उसका उपयोग यह साबित करने के लिए नहीं करने वाला था कि मैं कितना प्रतिभावान शिक्षक हूँ। यदि वह मुझसे और मदद चाहे तो अच्छी बात है, मगर उससे भी अच्छी बात यह होगी कि वह मेरी मदद के बगैर काम चला सके। मगर यदि वह आश्वस्त हो जाती है कि अब वह समझ सकती है कि सुरों का क्या मतलब है, और आगे बढ़ना नहीं चाहती, तो भी कोई बात नहीं।

दी सेल्फ रिस्पेक्टिंग चाइल्ड में एलिसन स्टेलिब्रास ने बयान किया है कि कैसे एक साढ़े चार वर्ष के बच्चे ने एक छोटे बच्चे को धातु के क्लाइम्बिंग फ्रेम के बीच वाले खम्भे पर फिसलना सिखाया था:

माइकेल की यह इच्छा बिल्कुल नहीं थी कि वह दादागिरी करे या अपनी श्रेष्ठता का दिखावा करे; उसने तो बस वही सब किया जिससे जेम्स को सरलता हो। हमने देखा कि जब जेम्स कुछ और खेलने लगता तो माइकेल भी उसके साथ खेलने लगता, शायद यह सोचकर कि फिलहाल के लिए जेम्स ने खम्भे पर से फिसलना सीखने का काफी सबक ले लिया है। वह कभी अधीर या हताश होकर नहीं हटा, इसलिए जेम्स को कभी शर्मिन्दा नहीं होना पड़ा, वह हताश नहीं हुआ, अपनी क्षमता में उसका आत्मविश्वास समाप्त नहीं हुआ। अगली बार जब वे फिर से बगीचे में खेलने को आए – मौसम के हिसाब से, शायद एक हफ्ते बाद – उन्होंने एक बार फिर कोशिश शुरू कर दी। अन्ततः उनकी कोशिशें सफल हुईं और जेम्स खम्भे के लगभग ऊपरी सिरे पर झूलने और फिर बहुत खुशी से फिसलकर ज़मीन पर आने में कामयाब रहा...

कितने वयस्क शिक्षक यह धैर्य और चतुराई दर्शा पाते, सीखने वाले को अपने सीखने पर ऐसे नियंत्रण की छूट देने की तत्परता दिखा पाते? बहुत कम।

न ही मैंने यह किताब यह कहने के लिए लिखी है कि किसी को S-school में नहीं पढ़ाना चाहिए, या कि वहाँ पढ़ाने का किसी के पास कोई कारण है ही नहीं। इसके अच्छे-बुरे दोनों तरह के कारण हैं। एक बैठक में, मुझसे इस किताब में प्रस्तुत अधिकांश विचार सुनने के बाद शिक्षा के एक युवा छात्र ने गुस्से से कहा कि मैंने उसे निरुत्साहित कर दिया है, और जब वह अगले साल एक S-school में कला पढ़ाने जाएगी तो मेरे विचार उसके काम को मुश्किल ही बनाएँगे। मैंने कमोबेश यह जवाब दिया था, “मैं यहाँ तुम्हें प्रोत्साहित करने नहीं बल्कि शिक्षण व स्कूलिंग के बारे में सच्चाई बताने आया हूँ, जैसी कि मैं उसे देखता हूँ। वैसे भी तुम्हें प्रोत्साहन की क्या ज़रूरत है? तुमने कला पढ़ाने का फैसला किया है। तुम्हारे पास यह मानने का कोई कारण ज़रूर होगा कि यह महत्वपूर्ण काम है। तो फिर आगे बढ़ो और अच्छे से अच्छे ढंग से यह काम करो। रोज़-ब-रोज़ कक्षा में जो कुछ होता है, यदि उसके एक छोटे-से अंश पर भी तुम अपना पूरा और विचारशील ध्यान दे सको, तो बरसों तुम्हारे पास करने को बहुत कुछ

होगा। यदि तुम्हें प्रोत्साहन की ज़रूरत है तो वह, मेरी तरह, तुम्हें अपनी समस्याओं को सुलझाते हुए और यह खोजते हुए मिलेगा कि तुम अपना काम बेहतर ढंग से कैसे करो। यदि मेरी तरह तुम्हें भी किसी दिन यह विश्वास हो जाए कि S-school की प्रकृति और उद्देश्यों की वजह से तुम्हारे लिए वहाँ अच्छे से पढ़ाना नामुमकिन है, तो खुद तय करो कि उस समस्या से कैसे निपटा जाए। परन्तु अभी मुझसे उम्मीद मत करो कि मैं तुम्हें कला शिक्षक होने का कोई कारण उपलब्ध कराऊँ। यह तो तुम्हारा फैसला था, मेरा नहीं।”

मैं शिक्षक बना था तो किसी बेहतर समाज का निर्माण करने, या गरीबी खत्म करने, या बच्चों की मदद करने, या सीखने के बारे में सच्चाई पता करने, या स्कूलों को बदलने, या शिक्षा में सुधार करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि मेरा ख्याल था कि यह एक दिलचस्प और सुखद काम है। मेरा पारम्परिक शिक्षा से कोई झगड़ा नहीं था। जो कुछ इस किताब में कहा गया है, यदि कोई मुझे ये सब बातें बताता तो मेरा जवाब होता, “बकवास!” मैं बेहिचक इस बात से सहमत था कि बच्चों को अँग्रेज़ी, गणित, इतिहास, विज्ञान वगैरह पढ़ाया जाना चाहिए, और यदि वे इन्हें न पढ़ें तो उन्हें फेल कर दिया जाए। मगर न सीखने के लिए मैं उन्हें दोष नहीं देता था; यह मेरा काम था कि पढ़ाने के ऐसे तरीके खोजूँ जिनसे वे सीख सकें। अपने अधिकांश शिक्षकीय वर्ष मैंने इन्हीं – तात्कालिक, टोस, व्यावहारिक मसलों के बारे में – सोचते हुए गुज़ारे हैं। मैं यह नहीं सोचा करता था कि स्कूलों को बेहतर कैसे बनाऊँ। मैं तो यह तक नहीं सोचता था कि बच्चों को बेहतर सीखने में मदद कैसे करूँ। मैं तो मात्र यह सोचा करता था कि *अमुक बच्चे* को किसी *शब्द विशेष* के हिज्जे सीखने या कोई *खास सवाल* करने में मदद कैसे करूँ। शिक्षा के बारे में मेरे सारे विचार इसी तरह के अनुभवों से और इसी किस्म के सवालों से उभरे हैं।

शिक्षा सुधारकों पोस्टमैन और वाइनगार्टनर का सुझाव था कि स्कूलों में पढ़ाना सेन्ध मारने जैसा कार्य भी हो सकता है; कि हम बच्चों को बकवास को खोज निकालने की शिक्षा दे सकते हैं, ताकि जब भी कोई उन्हें उलझाने या इस्तेमाल करने की कोशिश करे तो वे इसे समझ जाएँ और उलझने या इस्तेमाल होने से बच सकें। बढ़िया विचार है। मगर यह बात उन्हें उस जगह नहीं सिखाई जा सकती जहाँ हम उन पर दबाव डालें, उन्हें धकेलें, उन्हें घूस दें, फुसलाएँ, ग्रेड और रैंक दें, उन पर लेबल चस्पाँ करें।

लोगों को इशतहारी व्यक्तियों और व्यवहार परिवर्तकों को पहचानना व उनसे बचना सिखाने के लिए स्कूल एक अच्छी और शायद अनिवार्य बात है। मगर यह सोचना हास्यास्पद और अपने आप में विरोधाभासी होगा कि कोई *S-school* यह सब सिखा सकता है। जिस जगह पर बच्चों के जीवन व सोच के हर हिस्से का फैसला, नियंत्रण और मूल्यांकन अधिकारी करते हों, वहाँ बच्चे अधिकारियों के प्रति आलोचनात्मक व शंकालु होना कैसे सीख सकते हैं? यदि उन्होंने हमें गम्भीरता से लिया, तो वे कहेंगे, “मुझे यहाँ बैठकर आपकी बात क्यों सुनना पड़ता है?” किसी स्कूल में पढ़ाना लगभग उतना ही सेन्धमारी काम हो सकता है जितना जनरल मोटर्स या पेंटागन में काम करना।

कई छात्र शिक्षक, जो खुद को आमूल परिवर्तनवादी कहते हैं, अक्सर मुझसे कहते हैं, “मुझे स्कूलों से नफरत है, और मैं वहाँ उन्हें बदलने को जा रहा हूँ।” ऐसे लोग शायद ही कुछ बदलते हों। सम्भावना यही है कि वे गुस्से, हताशा और निराशा से आधे-पागल हो जाएँगे। स्कूलों में उनके तौर-तरीकों से ही शेष लोग समझ जाते हैं कि वे दुश्मन हैं, और यदि वे कोई साधारण-सा और सूझबूझ वाला सुझाव भी देते हैं, तो उसे सरसरी तौर पर ही खारिज कर दिया जाता है। एक युवा शिक्षक ने कभी एक “टीचर पेपर” लिखा था। इसमें उसने लोगों से सुझाव माँगे थे कि वह स्कूल को कैसे बदले। मैंने उसे लिखा था, “तुम्हारा काफी समय तो अपने लिए एक ऐसी जगह बनाने या खोजने में ही जाएगा जहाँ तुम बहुत ज़्यादा नुकसान न करो, अपने छात्रों के प्रति ईमानदार रहो, उनमें से कुछ को स्कूल की समस्याओं से जूझने में मदद कर सको, और अपने काम में थोड़ा मज़ा ले सको। इतना करना भी शायद आसान नहीं होगा। यदि तुम मज़बूत, चतुर, अड़ियल, जुगाडु, और इस सबसे ज़्यादा खुशकिस्मत रहे, तो शायद तुम यह सब कर पाओगे। इसके बाद, यदि तुम्हें कुछ साथी मिल गए, और एक बार फिर तुम भाग्यशाली रहे, तो शायद धीरे-धीरे तुम अपने स्कूल में कुछ छोटे-मोटे बदलाव कर पाओगे। मगर यदि तुम केवल स्कूलों में ही काम करते रहे, तो अधिक से अधिक इतना ही तुम कर सकते हो।”

जो लोग बच्चों की शक्तियों और रुचियों का पूरा उपयोग करते हुए अक्लमन्दी और मानवीय ढंग से पढ़ाना चाहते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि ऐसे स्कूल बहुत कम हैं जो उन्हें इसकी अनुमति देंगे। स्कूल

सुधार के बारे में मेरी किताब समेत सारी किताबों से यह ध्वनि निकलती है कि यदि शिक्षक चाहें तो अपनी कक्षा में रोचक व रोमांचक चीज़ें कर सकते हैं। ऐसा नहीं है। प्राचार्य तो बहुत बड़ी हस्ती है, कई स्कूलों में अकेला परिरक्षक ही ऐसे सारे परिवर्तनों पर विराम लगाने को पर्याप्त होगा। यदि परिरक्षक और प्राचार्य ने इसकी इजाज़त दे भी दी, तो अधिकांश पालक एतराज़ करेंगे। वे नहीं चाहते कि उनके बच्चे यह बात करते घर पहुँचें कि आज स्कूल में कितना मज़ा किया। वे सोचेंगे कि इस स्कूल में चल क्या रहा है, बच्चे कुछ सीखने की बजाय दिन भर खेलते-कूदते कैसे रहते हैं? और हो सकता है कि खुद छात्र भी एतराज़ करें, और स्कूल के खेल को उसी तरह खेलना चाहें जैसे वे हमेशा खेलते आए हैं। “हमें बताओ कि हम क्या करें। फिर हम कोई तरीका सोचेंगे कि उसे करने से कैसे बचें।”

अधिकांश स्कूल ऐसे लोगों को नहीं चाहते जो डर की बजाय अपनी कुदरती सत्ता, विश्वास, स्नेह और वास्तविक सम्मान के आधार पर अपने छात्रों के साथ व्यवहार करते हैं। जो शिक्षक डर का उपयोग नहीं करता, और जिसे डर का उपयोग करने की ज़रूरत नहीं है, जो अपने छात्रों को कम भयाक्रान्त बनाकर *अन्य लोगों के लिए उन्हें डराना ज़्यादा कठिन बना देता है*, वह स्कूल में बाकी शिक्षकों के लिए खतरा है। उसकी कुदरती सत्ता उनकी आधिकारिक सत्ता की पोल खोल देती है। बाकी शिक्षक उसे गलत पाले में – “हम” और “उन” के बीच की विभाजन रेखा के दूसरी ओर छात्रों के पाले में – खड़ा मानेंगे। लिहाज़ा, स्कूल लगातार शिक्षकों से कहते हैं कि छात्रों से “भाईचारा” मत बनाओ, “एक व्यावसायिक दूरी” बनाए रखो। मेरा एक दोस्त एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में पढ़ाता है; कई हितैषी वरिष्ठ प्रोफेसरों ने उससे कहा था कि वह छात्रों के साथ बहुत ज़्यादा समय बिताकर अपना कैरियर दाँव पर लगा रहा है।

हो सकता है कि नवाचारियों को बर्खास्त न किया जाए, मगर वे नाना प्रकार के दबाव महसूस करते हैं। बहुत समय नहीं हुआ मेरी मुलाकात एक मध्य पश्चिमी शहर के एक कमोबेश मुक्त प्राथमिक स्कूल के प्राचार्य से हुई थी। यह स्कूल कुछ ही बरस पहले बना था और वह उस समय एक परम्परागत स्कूल में प्राचार्य था; उसने यहाँ आने के लिए हामी भर दी। उसके सारे शिक्षक भी अपनी मर्ज़ी से ही यहाँ आए थे; यहाँ किसी ऐसे व्यक्ति को काम नहीं करना पड़ रहा था जो न चाहता हो। स्कूल काफी खुशनुमा नज़र आता था, बच्चे काफी खुश और सहज थे। बात करते हुए

प्राचार्य ने कहा कि उसके अधिकांश शिक्षक उसे बता चुके हैं कि जब से वे यहाँ काम करने आए हैं, शहर के अन्य शिक्षकों ने उनका बहिष्कार कर दिया है; इनमें वे शिक्षक भी शामिल हैं जिन्हें वे जानते हैं और पहले जिनके साथ वे काम किया करते थे। यही प्राचार्य के साथ भी हुआ था। वह इस तंत्र में करीब बीस वर्षों से शिक्षक और प्राचार्य रहा है, कई सारे अन्य प्राचार्य लम्बे समय से उसके साथी व मित्र रहे हैं। उसने बताया, “मगर आज मैं अछूत हूँ। जिन लोगों को मैं जानता हूँ, जिनके साथ बरसों से गोल्फ खेला करता था, बीयर पीया करता था, वे मुझसे बोलते तक नहीं, और बोलते हैं तो स्कूल के बारे में कोई छँटाकशी करने के लिए।” ऐसे दबाव मुश्किल होते हैं। कुछ ही नवाचारी लम्बे समय तक इनका सामना कर पाते हैं।

जो लोग खुद को “रेडिकल शिक्षक” कहते हैं वे स्वयं को उल्लू बना रहे हैं। अपने काम के अन्तर्गत वे रोज़ हाज़िरी लेंगे, देर से आने वाले और गैर-हाज़िर छात्रों की सूचना देंगे, स्कूल के नियमों को लागू करेंगे, और टेस्ट लेंगे, ग्रेड देंगे – वरना उन्हें बर्खास्त कर दिया जाएगा। मगर यह सब करके वे स्कूलों को अपने बुनियादी व यथास्थिति की सुरक्षा के कार्यों को अंजाम देने में मदद करते हैं। स्कूल का काम करते हुए वे स्कूल का सन्देश सिखाते हैं, और उनकी बातें कितनी ही रेडिकल या सेन्धमारू हों, उनसे यह सबक मिटने या दबने वाला नहीं है। “रेडिकल शिक्षक” का विचार ही असंगत है। यह “शान्तिवादी सैनिक” जैसा ही है; अपने दुश्मनों पर गोलियाँ चलाते हुए वह चीखता रह सकता है, “मुझे युद्ध से नफरत है! सब इन्सान भाई-भाई हैं!” जब तक वह गोलियाँ चलाता रहे, फौज को क्या मतलब कि वह क्या चीख रहा है। जो फौज में भर्ती होना चाहें, हो जाएँ। आप एक ईमानदार सैनिक हो सकते हैं – दरअसल मैं जिन लोगों को सबसे ज़्यादा चाहता हूँ, जिनकी सबसे ज़्यादा प्रशंसा करता हूँ, उनमें से एक काफी बरसों तक सैनिक ही था। मगर हम इस मुगालते में न रहें कि फौज शान्ति दल है और हम इन्सानी भाईचारा बढ़ाने के लिए भर्ती हो रहे हैं। यही बात S-schools – बच्चों के विरुद्ध फौज – पर भी लागू होती है। जो लोग स्वयं को रेडिकल मानते हैं और मेरी तरह जो लोग विजेताओं और पराजितों के समाज के विचार से नफरत करते हैं, उनसे मेरा कहना है कि हो सके तो इसे बदल डालें। मगर इस मुगालते में न रहें कि स्कूल में इसके खिलाफ बातें करके या अपने सारे छात्रों को विजेता बनाने की कोशिश करके आप इसे बदल रहे हैं। विजेताओं-पराजितों के समाज को

इसके विजेता नहीं बदलेंगे; जिस समाज को शीर्ष पर बैठे कुछ लोग चलाते हैं, उसे शीर्ष पर कुछ अन्य लोगों को बैठाकर नहीं बदला जा सकता।

स्कूल सुधारक

यह लगभग निश्चित लगता है कि कम से कम अगले दस सालों तक तो S-schools हमारे बीच रहेंगे। हो सकता है कि अगली एक पीढ़ी तक रहें। ज़ाहिर है कि अक्लमन्दी इसमें ही है कि हम यहाँ किसी कक्षा, वहाँ किसी स्कूल को थोड़ा बेहतर बनाने के लिए जो कर सकते हैं करें। मगर इससे ज़्यादा कुछ करना शायद सम्भव न हो। मैं लोगों को ऐसे छुटपुट परिवर्तन की कोशिशों से निरुत्साहित नहीं करना चाहता। मगर मैं उन्हें यह सोचने से ज़रूर निरुत्साहित करना चाहता हूँ कि ऐसे छोटे-छोटे परिवर्तन जुड़कर स्कूलों को एक अलग ही किस्म की संस्था में परिवर्तित कर देंगे। जब तक S-schools S-schools बने रहते हैं – अनिवार्य, दबावपूर्ण, और प्रतिस्पर्धात्मक – तब तक उनमें किया गया कोई भी परिवर्तन ज़्यादा गहराई तक या ज़्यादा दूर तक नहीं जाएगा, और न ही देर तक टिक पाएगा।

अपने बच्चों के लिए मानवीय स्कूल चाहने वाले पूरी आबादी के बमुश्किल 5 फीसदी लोग होंगे। और इनमें से भी अधिकांश लोग तो स्कूलों से वही चाहते हैं जो बाकी सारे लोग चाहते हैं – मेरे बच्चे को विजेता बना दो। उसे सारे बच्चों से आगे कर दो, कॉलेज में प्रवेश दिला दो, और एक बढ़िया, दिलचस्प, सम्मानजनक, मोटी तनख्वाह वाली नौकरी दिला दो। कोई स्कूल, कोई स्कूल सुधार, टिक नहीं सकता यदि पालक आश्वस्त न हों कि वह उनके बच्चों को विजेता बना रहा है। लिहाज़ा, चन्द स्कूलों में ही गहरे बदलाव किए जा सकते हैं। लोगों के ही समान स्कूलों के लिए भी विजेता स्थान सीमित हैं। चूँकि चन्द बच्चे ही विजेता हो सकते हैं, इसीलिए चन्द स्कूल ही विजेता हो सकते हैं। जब तक लोग अपने बच्चों को विजेता बनाने की चाह न छोड़ें या विजय-पराजय के खेल को स्कूलों से विदा न किया जाए, तब तक हम यह उम्मीद नहीं कर सकते कि हम सारे, या यहाँ तक कि अधिकांश स्कूलों में सुधार कर देंगे, उन्हें रोचक, जीवन्त, और मानवीय बना देंगे।

जो लोग S-schools में सुधार की बातें करते हैं, वे मुझे उन लोगों जैसे

लगते हैं जो किसी ऐसी नाव में से पानी उलीचने की कोशिश करते हैं जिसके पेन्डे में बड़ा-सा छेद है। यह दलील दी जा सकती है कि हमें तब तक पानी उलीचते रहना होगा जब तक कि हम छेद की मरम्मत करने की स्थिति में नहीं आ जाते। मगर लगता है कि सुधारकों को यह पता ही नहीं है कि नाव में छेद है। या वे कहते हैं, “हम छेद को बन्द नहीं कर सकते, हम तो सिर्फ पानी उलीच सकते हैं।” या “हम पानी को इतनी तेज़ी से उलीच रहे हैं कि हमें छेद को बन्द करने की ज़रूरत ही नहीं है; उलीचना ही काफी है।” यह तो पक्की बात है कि S-schools को s-schools में बदलना आनन-फानन नहीं किया जा सकता। इसलिए सुधारकों को और ज़ोरदार ढंग से माँग करनी चाहिए कि ऐसा किया जाए। इसकी बजाय कई लोग कहते हैं, “स्कूल अनिवार्य होने चाहिए, क्योंकि जब हम अन्ततः इन्हें मानवीय और दिलचस्प बना देंगे, तब शायद गरीब बच्चे इनमें न जाएँ और अच्छी-अच्छी चीज़ों से वंचित रह जाएँ।” यदि s-schools, यानी बच्चों के लिए करने के स्थान, ईमानदार, सक्रिय और पर्याप्त दिलचस्प हों, तो कोई ज़रूरत नहीं कि वे अनिवार्य हों। यदि वे अनिवार्य नहीं हैं, तो कोई ज़रूरत नहीं कि वे अच्छे ही हों; अधिकांश होंगे भी नहीं। यह कहना कि स्कूल अनिवार्य होना चाहिए क्योंकि किसी दिन उनके अच्छे होने की सम्भावना है, यह कहने के बराबर है कि वे चाहे जितने बुरे हों, स्कूल अनिवार्य होने चाहिए।

मैं एक बार फिर इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा: S-schools की समस्या साधनों की नहीं साध्य की है। मैं जिस परिवर्तन की बात कर रहा हूँ उसका सम्बन्ध अप्रीकी चूहे या तालाब के पानी या क्यूज़ेनेयर छड़ियों (Cuisenaire rods) या बेहतर पठन कार्यक्रमों से नहीं है। इसका सम्बन्ध इन्सानों के प्रति, और बच्चों की प्रकृति और ज़रूरतों के प्रति एक अलग नज़रिए से है। इसका सम्बन्ध उस झटके देने वाले स्विच से है। जब कोई हमें कहे तो हम इस स्विच को दबाएँगे, या नहीं दबाएँगे? क्या हम बच्चों को वह स्विच दबाने के लिए तैयार करना चाहते हैं? या हम इन्कार करने की स्वतंत्रता, ताकत और ज़िम्मेदारी विकसित करने में उनकी मदद करना चाहते हैं? इसका चुनाव हमें करना होगा।

क्या कोई सम्भावना है?

S-schools चाहे कितने ही सम्पन्न और ताकतवर क्यों न हों, वे प्राकृतिक शक्ति नहीं हैं। उन्हें लोगों ने यह सोचकर बनाया है कि वे उपयोगी हैं; जब इनका कोई उपयोग नहीं रहेगा तब लोग इन्हें खत्म भी कर सकते हैं। समाज के शासकों के लिए स्कूल उपयोगी रहे हैं क्योंकि ये अधिकांश लोगों को यह सिखाते हैं कि कैसे मशीनों की तरह जीएँ और काम करें, और कैसे सिर्फ उन्हीं चीज़ों की इच्छा करें जो मशीनें बना सकती हैं। अधिकांश लोगों के लिए स्कूल इस मायने में उपयोगी रहे हैं कि ये एक सपना बेचते हैं। वे लोगों को बताते हैं कि वे या उनके बच्चे भी दुनिया में ऊपर उठ सकते हैं, किसी दिन ताकतवर और अमीर बन सकते हैं। स्कूल ऊपर उठाने वाली एक मशीन की तरह दिखते जिस पर सभी (या लगभग सभी) सवारी कर सकते हैं, एक लॉटरी की तरह दिखते जिसमें सभी लोग जीत सकते हैं।

कुछ समय तक यही हुआ भी। सार्वजनिक शिक्षा और अनिवार्य स्कूलिंग इसलिए फले-फूले क्योंकि इनका प्रादुर्भाव तेज़ आर्थिक विकास के दौर की शुरुआत में हुआ था। जब नई-नई मशीनों, ऊर्जा के नए-नए स्रोतों, नए किस्म के मानव संगठन व नियंत्रण, और विपुल मात्रा में आसानी से उपलब्ध समृद्ध कच्चे माल ने “पश्चिमी” देशों के अधिकांश लोगों और अन्य लगभग सारे देशों के चन्द पाश्चात्य लोगों को इतना रईस बना दिया था जिसकी उन्होंने पहले कभी कल्पना भी नहीं की थी। मगर जिन सस्ते व समृद्ध ईन्धनों व खनिजों के बल पर यह उछाल आया था, वे अब चुक गए हैं। अब जो बचा है वह ज़्यादा दुर्लभ है, घटिया क्वालिटी का है, और पाने में कठिन है – और इसीलिए महँगा है। “अन्तहीन” उछाल का अन्त हो चुका है। ऊपर उठने की मशीन रुक गई है। अधिकांश लोगों के लिए यह अब पीछे लुढ़कने लगी है। यहाँ तक कि सबसे अमीर देशों के भी बहुत

ही कम लोग यह उम्मीद कर सकते हैं कि उनके बच्चे भविष्य में उनसे ज्यादा अमीर होंगे, जबकि अभी हाल तक वे यही मानकर चलते थे। गरीब देशों के अधिकांश लोग तो अकाल और विपत्तियों का सामना कर रहे हैं।

हम यथासम्भव धीमी रफ्तार से, मजबूरी के कारण, एक कम बर्बादीपूर्ण व कम विनाशकारी अर्थ व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं, जहाँ अपनी धरती और उसके संसाधनों के साथ एक बेहतर सन्तुलन होगा। यह गति कई रूप ले रही है – मन्दी, बेरोज़गारी, गरीबी, और भुखमरी इनमें से कुछ रूप हैं। जैसा कि आम तौर पर होता है, जब मानवता को अपनी गलतियों की कीमत चुकानी पड़ती है तब सबसे भारी कीमत वे लोग चुकाते हैं जिनके पास सबसे कम है। मगर धीरे-धीरे लोग माँग करेंगे कि यह कीमत बराबर-बराबर बँटे और हम एक ऐसा समाज बनाएँ जिसमें कोई विजेता न हो, कोई पराजित न हो, या कम से कम उनके बीच इतनी विशाल खाई न हो। कुछ लोगों ने इस खाई को यह सोचकर स्वीकार कर लिया था कि शायद उन्हें भी अमीर होने का मौका है, मगर अब वह मौका न होने पर वे शायद इसे स्वीकार न करें। ऐसे समय पर वे शायद S-schools के बारे में भी कुछ कठिन सवाल पूछेंगे। ये इतने महँगे क्यों हैं? एक ऐसे तंत्र को बनाए रखने के लिए सब लोगों पर कर क्यों लगाया जाए, जिससे मात्र अमीर व सम्पन्न लोगों के बच्चों को ही अधिकांश फायदा मिलता है? ये स्कूल ऐसी कैसी दौड़ करवा रहे हैं जिसमें गरीब बच्चे हमेशा हारते हैं और अमीर बच्चे हमेशा जीतते हैं? हम ज्ञान को इतना महँगा बनाने की बजाय सारे ज्ञान व हुनर को सबके बीच मुक्त रूप से क्यों नहीं बाँटते? संक्षेप में, वे इस पुस्तक में प्रस्तुत कई सवाल पूछने लगेंगे और उसी तरह के बदलावों की माँग करने लगेंगे।

पालक क्या कर सकते हैं?

अगले दसके सालों तक तो इसमें से कुछ भी होने की सम्भावना नहीं है। इस दौरान S-schools तो S-schools ही बने रहेंगे। वे लोग क्या कर सकते हैं जो S-schools के बारे में मेरी तरह सोचते हैं, मगर जिनके बच्चे वहाँ फँसे हुए हैं? कुल मिलाकर मुझे तीन सम्भावनाएँ दिखती हैं: (1) स्कूल से निपटने में बच्चे की मदद करना। (2) वहाँ से निकलने में उसकी मदद करना। (3) उसे कोई विकल्प उपलब्ध कराना। बच्चे और अपनी परिस्थिति

के मुताबिक स्वयं पालक इन सम्भावनाओं का मिला-जुला उपयोग कर सकते हैं। मिला-जुला इसलिए कह रहा हूँ कि पालक चाहे 1 अपनाएँ या 2, वह तब तक कारगर नहीं होगा जब तक कि वे कुछ हद तक 3 की भी व्यवस्था नहीं करें। मैं जितने भी बच्चों को जानता हूँ, जो स्कूल से उम्दा ढंग से निपट रहे थे, वहाँ ठीक-ठाक प्रदर्शन कर रहे थे, और कमोबेश वहाँ खुश थे, वे सारे बच्चे अपने जीवन का सबसे अधिक, सबसे रोचक व महत्वपूर्ण भाग स्कूल से बाहर बिताते थे। जो बच्चे स्कूल को पसन्द नहीं करते, और वहाँ उनका प्रदर्शन भी ठीक नहीं है, मगर वहाँ से पलायन भी नहीं कर सकते, उनके लिए तो स्कूल से बाहर ऐसा जीवन और भी ज़रूरी है। और जो बच्चे स्कूल से निकलने में सफल हो जाते हैं, उन्हें भी कोई विकल्प चाहिए, कोई ऐसा सुखद तरीका चाहिए जिससे वे वह समय व्यतीत कर सकें जो अन्य बच्चे स्कूल में बिताते हैं। मैं कई बच्चों को जानता हूँ जो स्कूल नहीं जाते और जाना भी नहीं चाहते। उनके पास विकल्प हैं – कई चीज़ें हैं जो वे करना चाहते हैं, और उन चीज़ों को करने के लिए जगह व समय है। ये विकल्प स्कूल-नुमा हो सकते हैं, मगर यह कोई ज़रूरी नहीं है। कुछ लोग जो अपने बच्चों को स्कूल से निकाल लेते हैं, वे उनके लिए मिनी स्कूल की व्यवस्था करते हैं; यानी बच्चों को घर पर ही कुछ घण्टों के लिए पढ़ाया जाता है। मगर कई बच्चे ऐसे हैं जो ऐसी किसी औपचारिक व्यवस्था के बगैर ही दुनिया के बारे में भलीभाँति सीखने में सक्षम होते हैं। उन्हें इतने स्पष्ट मार्गदर्शन की भी ज़रूरत नहीं होती। यदि कोई बच्चा रोज़ाना एक-दो घण्टे, या चाहे तो ज़्यादा समय, अपनी पसन्द के वयस्कों के साथ बिताए, तो वह प्रायः एक दिन में इतना सीख लेगा जितना किसी स्कूल में एक सप्ताह में सीखा जा सकता है। ये वयस्क ऐसे होने चाहिए जो दुनिया में दिलचस्पी रखते हों और उसके बारे में बात करने को तैयार हों।

मेरी जान-पहचान के कई पालकों के बच्चे स्कूल से बढ़िया ढंग से जूझ पाते हैं। ये पालक आम तौर पर “अपने भरोसे छोड़ दो” का उसूल अपनाते हैं। जब तक उनके बच्चे स्कूल में कमोबेश खुश, सक्रिय और सफल हैं, तब तक वे उनके वहाँ के जीवन में टाँग नहीं अड़ाते। यदि उन्हें स्कूल की कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती, तो वे इस बात को अपने तक ही रखते हैं। मेरी तरह, अन्य पालक, जिन्हें स्कूलों के मूल्य व गुप्त पाठ्यक्रम अच्छे नहीं लगते, उन्हें बड़ी चिन्ता होती है कि बच्चों को इन मूल्यों से ग्रस्त होने से कैसे बचाएँ। मगर हो सकता है कि यह खतरा उतना

न हो जितना वे सोचते हैं। यदि वे अपने बच्चों के साथ ईमानदार व खुले हैं, अपने मूल्यों को सिर्फ शब्दों में नहीं बल्कि पूरे जीवन में अभिव्यक्त करते हैं, और उनके साथ वैसा ही सलूक करते हैं जैसा वे खुद अपने लिए चाहते हैं, तो उनके मूल्य अवश्य बच्चों में उभरेंगे। और स्वस्थ बच्चों को उल्लू बनाना व भ्रष्ट करना काफी मुश्किल है। जो बच्चे अपने पालकों से प्यार करते हैं, उन पर भरोसा करते हैं, उनकी कुदरती सत्ता को सकारात्मक प्रत्युत्तर देते हैं, वे अक्सर अपने शिक्षकों में मौजूद थोड़ी-बहुत कुदरती सत्ता का प्रत्युत्तर देने के तरीके भी खोज निकालते हैं। किसी भी शिक्षक में कुछ न कुछ कुदरती सत्ता तो होती ही है। एक बच्ची को मैं जानता हूँ। बारह वर्ष की उम्र में उसकी एक जिम्नास्टिक शिक्षक हुआ करती थी जो कई मायनों में एक नमूना थी – वह लगातार बच्चों पर चीखती रहती थी, “यह करो, वह करो।” वह लगातार मीन-मेख निकालती और व्यंग्य करती रहती थी। परन्तु काफी उम्र-दराज़ होने (जिम्नास्टिक शिक्षक के हिसाब से तो उसकी उम्र काफी थी) के बावजूद उसमें खूब ऊर्जा, जोश और दक्षता थी। उसे जिम्नास्टिक और कलाबाज़ी से लगाव था और वह कई ऐसे करतब कर सकती थी जो छात्र नहीं कर पाते थे। मेरी बारह वर्षीय मित्र को इन गुणों के कारण उस महिला के साथ बहुत मज़ा आता था। वह उससे बहुत कुछ सीख सकती थी और जल्दी ही उसने उस महिला के कई दोषों को अनदेखा करना सीख लिया। ठीक उसी तरह जैसे वह किसी गम्भीर शारीरिक दोष (जैसे मुड़े हुए हाथ या जन्मजात भद्दे निशान) को अनदेखा करती। उसका कहना था कि वह ऐसी ही है, बस। बच्चे अपने आपको ढालने में सक्षम होते हैं – उन्हें ऐसा होना ही पड़ता है – और कई अच्छी चीज़ों तक पहुँचने के लिए बुरी चीज़ों को अनदेखा करने में हमसे कहीं बेहतर होते हैं।

समझदार पालक जिस तरह से अपने बच्चे के स्कूली जीवन में दखल नहीं देते (जब तक कि इसकी माँग न की जाए), उसी तरह से वे अपने बच्चे से यह भी माँग नहीं करते कि वह अपना स्कूली जीवन, अपनी इच्छा से ज़्यादा, घर में लेकर आए। वे उस पर यह बताने के लिए दबाव नहीं डालते कि वह बताए कि स्कूल में क्या-क्या हुआ, या उसके दोस्त कौन-कौन हैं, या वह क्या सीख रहा है, या उसे कैसा लग रहा है। वे होमवर्क को लेकर उसके पीछे नहीं पड़ते। हाँ, उसे पढ़ाई में ज़्यादा दिक्कत आ रही हो, तो वे उसकी दिक्कत को दूर करने में पूरी मदद करते हैं। यह दिक्कत बहुत ज़्यादा होमवर्क की भी हो सकती है। अच्छे अंक आने पर वे उसकी बहुत

प्रशंसा नहीं करते, शाबाशी नहीं देते, और कम अंक आने पर बहुत ज़्यादा चिन्ता नहीं करते, भला-बुरा नहीं कहते। यदि बच्चा अपने स्कूली जीवन के बारे में बात करना चाहे, तो वे खुशी-खुशी करेंगे। अन्यथा वे इस विषय को नहीं छुएँगे और बच्चे को उसके ज़्यादा महत्वपूर्ण, स्कूल-से-बाहर के जीवन में मशगूल रहने देंगे।

दूसरी ओर, यदि बच्चा भ्रमित है, डरा हुआ है, नाखुश है या अन्यायपूर्ण सलूक के कारण नाराज़ है, तो वे उसे पूरी हमदर्दी और नैतिक समर्थन देंगे। स्कूलों से जुड़े अधिकांश लोग इससे असहमत होंगे। मसलन, हाल ही में एक बड़े शिक्षक संगठन के अध्यक्ष का यह बयान न्यू यॉर्क टाइम्स में छपा था : “हमें वही पुराने ढर्रे के पालक चाहिए जो (बच्चे से) कहेंगे, ‘यदि तुम स्कूल में मुश्किल में फँसोगे, तो घर में भी तुम्हारे लिए मुश्किल होगी।’” मगर स्कूलों में बच्चों द्वारा व्यापक हिंसा एक हाल की समस्या है, जबकि स्कूल और शिक्षक तो बच्चों पर, यहाँ तक कि नन्हे बच्चों पर और खासकर गरीब व अश्वेत बच्चों पर, लम्बे समय से शारीरिक व मानसिक हिंसा बरपाते रहे हैं। जब इस मामले को उठाया गया, तो आम तौर पर स्कूलों ने झूठ बोला, सच्चाई को छिपाने के प्रयास किए, और यह माँग की कि बच्चों की बजाय उनकी बात पर विश्वास किया जाए। मगर स्कूलों ने इस तरह का विश्वास अर्जित नहीं किया है। जब किसी पालक का बच्चा उसे बताता है कि स्कूल में उसके साथ कुछ किया गया है, तो पालक की अक्लमन्दी इसी में होगी कि बच्चे की बात पर भरोसा करके आगे बढ़े।

यह ज़रूर है कि लोगों को अपने विवेक का उपयोग करना होगा, इस बारे में कि क्या वह बच्चा आम तौर पर सच बोलता है, या क्या उस परिस्थिति में उसके सच बोलने की उम्मीद है, या बच्चा जो कुछ बता रहा है, क्या वह शिक्षक विशेष वैसा कर सकता है। वैसे भी नैतिक समर्थन देने का यही मतलब नहीं है कि स्कूल जाकर आसमान सर पर उठा लेना। अक्सर सबसे अच्छा तो यह होता है कि कुछ न किया जाए या यह कहते हुए एक नोट भेज दिया जाए कि मेरा बच्चा कह रहा है कि ऐसा-ऐसा हुआ, मुझे पता नहीं कि ऐसा हुआ या नहीं, मैं उम्मीद करता हूँ कि नहीं हुआ होगा, मगर यदि हुआ है तो कृपया आइन्दा ऐसा न होने दें। बात इतनी सी है कि यदि बच्चा स्कूल को लेकर डरा हुआ है, घबराया हुआ है, या किसी अन्य तरह से नाखुश है, तो पालकों को चाहिए कि वे ध्यान से और सम्मानपूर्वक उसकी बात सुनें। “तुम बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे हो” या “तिल का ताड़ बना

रहे हो” कहने से काम नहीं चलेगा। अक्सर बच्चा इतना ही चाहता है कि उसे अपनी बात उन लोगों से कहने का मौका मिले जो उसकी सुनेंगे – यह मौका उसे स्कूल में नहीं मिलता। ज़रूरत इस बात की होती है कि उसे गम्भीरता से लिया जाए; इतना हो जाए तो उसे अच्छा लगता है।

मेरा मुद्दा यह है कि आम तौर पर जो बच्चे स्कूल से डरते हैं या उसे नापसन्द करते हैं, मगर वहाँ से भाग नहीं सकते, वे स्कूल से बेहतर ढंग से जूझ पाएँगे यदि (1) उन्हें यह एहसास न कराया जाए कि वे स्कूल को पसन्द नहीं करते इसलिए वे बुरे हैं, और (2) उन्हें यह एहसास हो कि उनके पालक स्कूल को नापसन्द करने के उनके कारणों को समझते हैं और उनसे सहमत हैं। कम से कम कुछ नाखुश बच्चों को मदद मिलेगी यदि उनके पालक यह कहें, “मैं जानता हूँ कि तुम उस जगह के बारे में क्या सोचते हो, और मैं तुमसे सहमत हूँ। यदि मुझे वहाँ जाना पड़े तो मुझे भी ऐसा ही लगेगा, और यदि सम्भव हुआ तो मैं वहाँ से निकल भागूँगा। मगर नहीं भाग सकता, तो सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि हम मिलकर दिमाग भिड़ाएँ और देखें कि सबसे बढ़िया क्या हो सकता है।” बच्चे को ताकत मिलेगी कि उसका एक साथी है।

स्कूल से निपटने में बच्चों की मदद के लिए पालक एक और काम यह कर सकते हैं कि उन्हें स्कूल का खेल खेलने के कुछ गुर बता दें। पढ़ने, लिखने, गणित वगैरह से सम्बन्धित ऐसे कई गुर मेरी किताबों (खासकर *क्वाट डू आइ डू मन्डे?*) या डेनिसन, कोल, हर्नडन, फेडर, मैक्रोरी व अन्य स्कूल सुधारकों की किताबों में सुझाए गए हैं। उन सारे गुरों में मैं एक गुर और जोड़ देता हूँ। इसकी बात तो मैंने बहुत की है मगर शायद लिखा नहीं है। यह गुर है तीन-गुणा-पाँच के कार्ड का सीखने की मशीन के रूप में उपयोग।

मान लीजिए हम किसी ऐसी चीज़ का अध्ययन कर रहे हैं जिसमें कई असम्बद्ध तथ्यों को रटना पड़ता है। ये तथ्य इतिहास के नाम या तारीखें, गणित के जोड़ या गुणा, भौतिकी या रसायन के सूत्र वगैरह हो सकते हैं। जब हम पाठ को पढ़ें और कोई ऐसी चीज़ सामने आए जो लगता है कि टेस्ट में पूछी जा सकती है – जैसे “अमरीका की खोज किसने की थी?” या “रोम का पतन कब हुआ?” – तो हम कार्ड के एक तरफ लिखते हैं “अमरीका की खोज” या “रोम के पतन की तारीख”, और पीछे की ओर लिखते हैं “कोलम्बस” (या जो कुछ भी आजकल किताबें या शिक्षक

बताते हों) या “400 ईस्वी”। इसी प्रकार से किताब के सारे तथ्य लिख सकते हैं।

इसमें देखने की पहली बात यह है कि याद करने का 90 फीसदी काम तो यह *फैसला करना* ही है कि कौन-सा तथ्य याद करना ज़रूरी है और इसे कार्ड के दो तरफ कैसे लिखा जाए। इसीलिए किसी और द्वारा बनाए कार्ड की अपेक्षा खुद के द्वारा बनाए गए कार्ड कहीं ज़्यादा कारगर होंगे। आगे की पढ़ाई में हम इन कार्डों का उपयोग अपनी याददाश्त को ताज़ा करने व जाँचने के लिए कर सकते हैं। हम यह याद करने की कोशिश करें कि कार्ड के दूसरी तरफ क्या लिखा है और फिर खुद ही जाँच कर लें। जब किसी कार्ड की बात सही तरह से याद हो, तो उसे एक तरफ रख दें, उस पर और वक्त ज़ाया करने की कम से कम फिलहाल तो कोई ज़रूरत नहीं है। जिन कार्डों के तथ्य याद न हों, उन पर लगे रहें, उन्हें फेंटें, उलटते-पलटते रहें, और जब वे सही हो जाएँ, तो “मालूम है” की ढेरी में रखते जाएँ। ऐसा तब तक करें जब तक एक भी कार्ड “नहीं मालूम” की ढेरी में बचा हो। यह तरीका सस्ता है, आसान है, और काम करता है। जो बच्चा अपनी स्कूलिंग की शुरुआत में ही यह कर लेगा, उसे याददाश्त वाले हिस्से में तो कोई दिक्कत नहीं आएगी। वैसे भी स्कूलों में इसके अलावा होता भी क्या है।

एक और उपयोगी गुर है जिससे बच्चे को स्कूल गणित की अधिकांश ऊब और चिन्ता से मुक्ति मिल सकती है। गुर यह है कि उसे एक छोटा इलेक्ट्रॉनिक केलकुलेटर खरीद दिया जाए (20 डॉलर से भी कम में आता है), और उसे इस पर अपनी पाठ्य पुस्तक के सवाल हल करना सिखा दिया जाए। इसकी मदद से वह अपनी उत्तरमाला बना सकता है। फिर जब वह केलकुलेटर के बगैर उन सवालों को हल करेगा, तो उसे पता चल जाएगा कि उसने सही किया है या नहीं। यदि शिक्षक उसे एक ही तरह के बीस, तीस या चालीस सवाल करने को दे – जो आम बात है – तो हम उसके साथ एक समझौता कर सकते हैं: उनमें से छः या शायद दस सवाल बगैर केलकुलेटर के सही कर ले, और फिर बाकी सवालों के लिए केलकुलेटर का इस्तेमाल कर सकता है। फालतू काम में वक्त क्यों बरबाद किया जाए?

सम्भावना यह है कि कई बच्चों को केलकुलेटर से सवाल करने में इतना मज़ा आएगा कि वे अपने शिक्षकों के मुकाबले कहीं अधिक तेज़ी से

गणित पाठ्य पुस्तक को पूरा कर लेंगे। यह अच्छा ही होगा। कक्षा से बहुत आगे रहना थोड़ा उबाऊ ज़रूर हो सकता है, मगर सुरक्षित है। और वे अपने ज्ञान का उपयोग अन्य बच्चों को मदद देने में भी कर सकते हैं।

या हम यह पता कर सकते हैं कि बच्चे की कक्षा में किस पाठ्य पुस्तक का इस्तेमाल हो रहा है, और उस पाठ्य पुस्तक की शिक्षक निर्देशिका (प्रकाशक से या किसी दुकान से) खरीद लाएँ। इन निर्देशिकाओं का उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। बहुत छोटे बच्चे तो इन्हें नहीं पढ़ सकेंगे, मगर नौ-दस साल के बच्चे पढ़ सकेंगे, और उन्हें ये काफी मनोरंजक, रोचक, और उपयोगी लगेंगी। छोटे बच्चों के मामले में पालकों को ये निर्देशिकाएँ पढ़कर बताना होगा कि उनमें क्या है। बात इतनी सी है कि इन निर्देशिकाओं की मदद से बच्चों को अपना समय व ऊर्जा यह ताड़ने में बर्बाद नहीं करनी पड़ेगी कि उनका शिक्षक क्या चाहता है। और, न ताड़ पाने की वजह से किसी दण्ड का खतरा भी नहीं रहेगा।

शिक्षक निर्देशिकाओं के ऐसे उपयोग का मैं ज़ोरदार बचाव करूँगा। कुछ वर्ष पहले मेरी एक बुद्धिमान व पढ़ी-लिखी दोस्त ने चौथी कक्षा में पढ़ रही अपनी बच्ची की कुछ पाठ्य पुस्तकें पढ़कर अध्यायों के अन्त में दिए गए सवालों के जवाब देने की कोशिश की। उम्मीद के मुताबिक ये किताबें अतिसरलीकृत, त्रुटिपूर्ण, पूर्वाग्रहों से ग्रस्त और उबाऊ थीं। मगर उक्त महिला को जिस बात ने सबसे ज़्यादा हैरान व नाराज़ किया, वह थी अध्याय के अन्त के सवाल। इसके बारे में बताते हुए, उसने कहा, “अध्यायों की सामग्री इतनी सरल और सीधी-सादी है कि कोई भी बच्चा इसके बारे में सवालों के जवाब दे देगा, बशर्ते कि उसे पता हो कि उन सवालों का मतलब क्या है। मगर पुस्तकें इन सवालों को घुमावदार और अस्पष्ट बनाकर कठिन बनाने की कोशिश करती हैं। अधिकांश समय में नहीं बता सकती कि वे क्या जवाब चाहती हैं। मैं इन सवालों के जवाब देने के तीन-चार तरीके सोच सकती हूँ, और सभी बढ़िया होते हैं। मगर शिक्षक इस बात की कोई परवाह नहीं करते, और न ही ऐसे बच्चों को शाबाशी देते हैं जो सवालों के विभिन्न सम्भावित उत्तर सोचते हैं। उनके पास तो अपना एक सही उत्तर होता है, और जो बच्चा इसके अलावा कुछ बोले वह गलत कहलाएगा, उसे खराब अंक मिलेंगे।” यह बात कई शिक्षकों पर लागू होती है, खासकर उन शिक्षकों पर जो निर्देशिका में से पढ़ाते हैं। लिहाज़ा, यदि बच्चे को ऐसे सवालों का सामना करना है जो उसकी मदद के लिए नहीं बल्कि उसे घुमाने और फँसाने के लिए बनाए

गए हैं, तो यह एकदम जायज़ है कि उसे पता हो कि वास्तव में अपेक्षा क्या है।

मैं कल्पना कर सकता हूँ कि बड़े बच्चे और भी कई तरीकों से इन निर्देशिकाओं का उपयोग करके स्कूल को ज़्यादा रोचक बना सकते हैं। मसलन, इनकी मदद से वे अपने शिक्षक की बारीकी से जाँच कर सकते हैं कि वह किस हद तक इन निर्देशिकाओं के अनुसार चलता है और कहाँ इनसे अलग हटता है। या वे इस खेल में शिक्षक को पछाड़कर कुछ मज़ा ले सकते हैं; जैसे, यदि निर्देशिका में लिखा है कि अमुक दिन शिक्षक फलॉ प्रश्न पूछेगा या फलॉ चर्चा का सुझाव देगा, तो उससे पहले बच्चे ही वह प्रश्न पूछ सकते हैं या चर्चा का सुझाव दे सकते हैं। इसके बाद वे शिक्षक की प्रतिक्रिया देखेंगे। या, जहाँ निर्देशिका में लिखा हो, “चर्चा के द्वारा यह बात उभारिए”, वहाँ बच्चे उस बात को पहले ही सामने रखकर चर्चा के नाटक को समाप्त कर सकते हैं, या वे यह भी कर सकते हैं कि शिक्षक के सारे प्रयासों, धक्कों के बावजूद वह बात उभरने ही न दें। या, बच्चे शिक्षक से पूछ सकते हैं, “क्या हम आपकी निर्देशिका देख सकते हैं?” अधिकांश शिक्षक ऐसी किसी चीज़ के अस्तित्व से भी इन्कार करेंगे, और बच्चों को उनके इस इन्कार में बहुत मज़ा आएगा क्योंकि उनके घर पर यह चीज़ रखी है। या बच्चे शिक्षक से निर्देशिका के उस हिस्से के सवाल पूछ सकते हैं जहाँ तक अभी कक्षा “बाकायदा” नहीं पहुँची है। मैं कई बच्चों, मात्र दस साल की उम्र के बच्चों, को जानता हूँ जिन्हें ऐसे खेलों में बहुत मज़ा आएगा। क्या पता, शायद वे स्कूल को थोड़ी दिलचस्प जगह बना दें, और धीरे-धीरे कुछ शिक्षक निर्देशिकाओं का उपयोग ही बन्द कर दें। मुझे इस तरह के सुझाव देने में कोई झिझक नहीं है। जो शिक्षक इतना आलसी और मूढ़ है कि निर्देशिका में से पढ़ाता है, वह इसी सलूक का पात्र है।

अलबत्ता स्कूल के खेल को पछाड़ने का सबसे कारगर गुर यह है कि आपको पता हो कि यह एक खेल है – उतना ही अमूर्त, अयथार्थ और फालतू जितना शतरंज का खेल – और इसे मात देना एक गुर है। यह खेल महत्वपूर्ण मात्र इसलिए है कि (शतरंज के समान) इसे अच्छे से खेलने पर पारितोषिक और (शतरंज के विपरीत) इसे बुरी तरह खेलने पर दण्ड मिलता है। यह बात लगभग सारे सफल छात्र जानते हैं। मैंने इसे दस साल की उम्र में ताड़ लिया था; तेरह वर्ष की उम्र तक तो मैं इसका पुर्जा-पुर्जा जानता था और इसके प्रति पूरी तरह सचेत हो चुका था। मैं

अपना स्कूली काम करते हुए यह नहीं सोचता था कि “यह अँग्रेज़ी, या इतिहास, या गणित, या विज्ञान क्या चीज़ है?” मैं तो यह सोचता था कि “वे चाहते क्या हैं? वे क्या-क्या पूछ सकते हैं?” बाकी A ग्रेड छात्र भी यही करते थे; सिर्फ D और E ग्रेड के छात्र ही यह सोचते थे कि इस सबका मतलब क्या है और वे सचमुच सीख रहे हैं या नहीं। कहने का मतलब यह नहीं है कि स्कूल में मेरा कोई बौद्धिक जीवन नहीं था; स्कूली काम के मुकाबले कहीं ज़्यादा समय मैं अपने दोस्तों से बातें करते हुए बिताता था। हम किसी टेस्ट के लिए रट्टा मार रहे हों तो बात अलग है, *अन्यथा हमारी बातों का सम्बन्ध स्कूली काम से कभी नहीं होता था।* यदि हम अच्छे छात्र हुए, तो हो सकता है कि कक्षा में हम किसी विचार पर खूब जीवन्त, कभी-कभी तो रुचि से भी, चर्चा करेंगे, मगर कक्षा की दहलीज पार की और चर्चा बन्द हो जाएगी। हमारे लिए अनुभव में कोई निरन्तरता नहीं थी; स्कूली काम अपनी जगह था, जीवन अपनी जगह था, और उनका एक-दूसरे से कुछ लेना-देना नहीं था। एक दिन हमारे भौतिकी शिक्षक ने हमें पहली बार किए गए परमाणु विखण्डन और उससे उत्पन्न विशाल ऊर्जा के बारे में बताया। जब हमें यह समझ में आ गया कि कक्षा में या कक्षा के बाहर यह किसी टेस्ट का हिस्सा नहीं होगा, तो हमने फिर इसके बारे में कभी नहीं सोचा।

पलायन के रास्ते

लेकिन मैं यह आभास नहीं देना चाहता कि इस तरह के उपायों से पालक अधिकांश बच्चों के लिए स्कूल को एक अच्छा अनुभव बना देंगे, या कम से कम उसे एक बुरा अनुभव नहीं बनने देंगे। मैं ऐसे कई बुद्धिमान व हमदर्द पालकों को जानता हूँ जिन्होंने स्कूल में बच्चों को बुरी तरह आहत होने से बचाने की कोशिश में मेरे द्वारा यहाँ सुझाए गए सारे उपाय किए। मगर कोई मदद नहीं मिली। बच्चे उस अमूर्त व विखण्डित ढंग से नहीं सीख पाए जैसे कि स्कूल अपेक्षा करते हैं और जिसे वे पुरस्कृत करते हैं। *दी लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन* के मैक्सिन की ही तरह वे यथार्थ से साक्षात्कार के बगैर काम नहीं चला पाते। वे यह कर ही नहीं पाते थे कि जो चीज़ें उन्हें सबसे महत्वपूर्ण लगे या हैरान करें, उनके बारे में न पूछें, या न सोचें, या बात न करें। वे कक्षा की उस ओछी प्रतिस्पर्धा से तालमेल ही नहीं बैठा पाते थे जिसमें वे सदा सबसे नीचे ही रहते थे। वे किसी तरह भी अपने शिक्षकों की संवेदनहीनता या निर्ममता को अनदेखा नहीं कर पाते थे,

उससे बचकर नहीं निकल पाते थे, या उनकी आधिकारिक सत्ता के आगे जाकर उनकी कुदरती सत्ता तक नहीं पहुँच पाते थे। साल दर साल वे पहले से ज़्यादा भयाक्रान्त, हैरान, निराश और शर्मिन्दा होते जाते थे। मैं अधिक से अधिक यही कह सकता हूँ कि मेरे द्वारा सुझाए गए उपायों से पालक कुछ बच्चों के लिए स्कूल को एक सचमुच अच्छा अनुभव बना पाएँगे, और कुछ अन्य के लिए इसे थोड़ा कम बुरा बना पाएँगे।

अधिकांश बच्चों को ज़रूरत है पलायन के रास्ते की। स्कूलों के बारे में मेरी तरह सोचने वाले अधिकांश लोग सबसे अच्छा काम यही कर सकते हैं कि बच्चों को ऐसे रास्ते तलाश करने में मदद करें। गुलामों को गुलामी से भागने में मदद देने के लिए किसी समय हमारे यहाँ एक (बिल्कुल गैर-कानूनी) भूमिगत रेल लाइन हुआ करती थी। तो अब बच्चों को स्कूलों से भागने में मदद के लिए एक नई भूमिगत रेल लाइन क्यों न हो? कुछ लोग कहेंगे कि ऐसी रेल लाइन अन्यायपूर्ण होगी क्योंकि कुछ ही बच्चे इसका उपयोग कर पाएँगे। मगर अधिकांश गुलाम भी गुलामी से भाग नहीं पाए थे, फिर भी किसी ने यह नहीं कहा और न कहेगा कि यदि सबको मुक्त नहीं कराया जा सकता तो एक को भी मत कराओ। इसके अलावा हमें एक नया रास्ता बनाना है ताकि अन्य लोग अनुकरण कर सकें। विरोध व परिवर्तन के किसी भी आन्दोलन की तरह बच्चों की भूमिगत रेल लाइन की शुरुआत भी छोटी ही होगी; जब ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे इस पर सवार होंगे, तो यह बड़ी होती जाएगी। इसके अलावा, फौज में अनिवार्य भर्ती से इन्कार के समान ही अपने बच्चों को स्कूल से बाहर रखना तब तक कानूनी नहीं हो पाएगा जब तक कि काफी सारे लोग, इसके गैर-कानूनी रहते हुए ही, ऐसा न करें। जब बहुत सारे लोग ऐसा करेंगे तभी वे बड़े पैमाने पर विश्वसनीय रूप से उस चीज़ को दिखा पाएँगे जिसे कुछ लोगों के अनुभव पहले ही दिखा चुके हैं – कि इससे बच्चों का कोई नुकसान नहीं होता, बल्कि आम तौर पर वे कहीं बेहतर स्थिति में होते हैं।

बच्चों को स्कूल से बाहर रखने के कई तरीके हैं – कुछ कानूनी हैं, कुछ शब्दों में तो हैं मगर कानून की मंशा में नहीं हैं, और कुछ गैर-कानूनी हैं। सबसे कानून-सम्मत, और शायद सबसे सुरक्षित, तरीका यह है कि पालक स्कूलों को मना लें कि वे उनके बच्चों को बाहर रहने दें। कुछ प्रान्तों में यदि पालक के पास किसी शिक्षक का प्रमाण पत्र है, तो उन्हें कानूनन यह अधिकार है कि वे अपने बच्चों को घर पर पढ़ाएँ। जिन प्रान्तों

में ऐसा कानूनी अधिकार नहीं है, वहाँ भी सम्भावना यही है कि यदि उनके पास ऐसा प्रमाण पत्र हुआ तो उन्हें ज़रूरी अनुमति मिल जाएगी। कई पालकों ने, समय क्रम, होमवर्क, टेस्ट वगैरह समेत एक विस्तृत अध्ययन योजना बनाकर ऐसी अनुमति प्राप्त की है। ऐसी योजना बनाने के बाद उसका पालन करना कतई ज़रूरी नहीं होता; जब तक बच्चों के टेस्ट अंक कक्षा के स्तर से ऊपर हैं, तब तक स्कूल शायद ही बारीकी से जाँच करें कि अध्ययन योजना पर अमल हो रहा है या नहीं।

कुछ प्रान्तों में शायद यह कानूनी तौर पर सम्भव हो कि पालक अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाने व अध्ययन कार्यक्रम का निरीक्षण करने के लिए एक प्रमाणित शिक्षक नियुक्त कर लें। यदि पढ़ाने का अधिकांश काम पालक ही कर रहे हैं, और शिक्षक मात्र इसलिए है कि पूरा कार्यक्रम स्कूल अधिकारियों को बेहतर दिखे, तो शायद सप्ताह में चन्द घण्टों के लिए ही शिक्षक नियुक्त करना काफी होगा। किसी प्राइवेट स्कूल के शिक्षक की अपेक्षा यह कहीं सस्ता पड़ेगा। शायद एक ही परिवार के साथ काम करके उस शिक्षक की रोज़ी-रोटी न चले, मगर यदि वह कई परिवारों के साथ यह काम करे तो चल सकती है। या हो सकता है कि किसी परिवार के पास घर में एक अतिरिक्त कमरा हो जहाँ शिक्षक मुफ्त में या थोड़ा-सा किराया देकर रह सके।

कुछ प्रान्तों में कानून कहता है कि शिक्षकीय प्रमाण पत्र से लैस कोई भी व्यक्ति स्कूल शुरू कर सकता है। यदि स्कूल छोटा है – छः या उससे कम बच्चे – तो अधिकांश घर शौचालय, निकास द्वार, खेलने की जगह वगैरह जैसी स्वास्थ्य व सुरक्षा सम्बन्धी शर्तें पूरी कर सकते हैं। इसके बाद भी निर्धारित क्षेत्र और पड़ोसियों की समस्या रहेगी, मगर शहर से दूर रहने वाले लोगों के लिए यह कोई बड़ी समस्या नहीं है।

यदि लोग अपने स्थानीय स्कूलों को एक गृह शिक्षा या कार्य अध्ययन कार्यक्रम स्वीकृत करने पर राज़ी नहीं कर पाते, तो शायद वे, थोड़ा-सा शुल्क देकर, अपने बच्चों को आसपास के या किसी अन्य ज़िले या प्रान्त के ऐसे वैकल्पिक स्कूल में दाखिल करा सकते हैं जो ऐसे कार्यक्रम को स्वीकृति दे दे। मेरे एक दोस्त की बच्ची का नाम दो साल तक एक ऐसे स्कूल में लिखा था जो उसने देखा तक नहीं था। इस दौरान वह अपने से थोड़े बड़े एक दोस्त के साथ देश भर में घूम रही थी। मगर उसके पास स्कूल का एक पत्र था जिसमें लिखा था कि वह एक परिसरेतर अध्ययन

कार्यक्रम में पढ़ रही है। पश्चिमी तट के एक वैकल्पिक स्कूल, पैसिफिक हाई स्कूल में एक समय कई सारे ऐसे विद्यार्थी थे जिनके पास ऐसे ही कागज़ात थे, और वे कैम्पस से बाहर, अक्सर सैकड़ों मील दूर, रहते या काम करते थे।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस तरह की व्यवस्था का उपयोग बच्चों को, स्थानीय स्कूल में जाए बगैर, घर पर जीने व पढ़ने देने के उद्देश्य से नहीं किया गया है, मगर कोई कारण नहीं कि क्यों इस उद्देश्य से इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।¹ मेरी जानकारी में किसी प्रान्त के पास यह अधिकार नहीं है कि वह पालकों से यह कहे कि वे अपने बच्चों को प्रान्त से बाहर किसी स्कूल में दाखिल नहीं करा सकते या उस स्कूल से कहे कि वह ऐसा गृह अध्ययन कार्यक्रम स्वीकृत नहीं कर सकता। हाँ, अपनी सुरक्षा के लिहाज़ से, शायद वह स्कूल पालकों से कहे कि वह इस व्यवस्था को तभी तक जारी रखेगा जब तक उनका बच्चा टेस्ट में ठीक-

¹ एक वैकल्पिक स्कूल के शिक्षक ने मुझे हाल में लिखा है: “...हमारे स्कूल में किसी दूसरे प्रान्त का एक बच्चा दाखिल हुआ था, वह आज तक स्कूल नहीं आया है। अपने पालकों के मार्गदर्शन में उसने एक अध्ययन कार्यक्रम बनाया, विभिन्न विषयों के लिए उपयुक्त शिक्षक चुने (यहाँ तक कि हमारी सिफारिश से उसने जीव विज्ञान के एक कॉलेज स्तर के कोर्स में प्रवेश के लिए आवेदन भी किया), और समय-समय पर विभिन्न विषयों में व्यतीत अपने समय की रिपोर्ट भी प्रस्तुत की ताकि हम मूल्यांकन करके अंक दे सकें। अपनी ओर से... हम उसकी प्रगति का मूल्यांकन करके उसे रिकॉर्ड करते हैं और साल के अन्त में एक उपलब्धि पत्र (विभिन्न विषयों में प्राप्त अंक) उसे भेज देते हैं। आज वह लड़का 16 वर्ष का है।

“इधर हमने अपने ही प्रान्त के 175 मील दूर के एक 8-वर्षीय बच्चे को दाखिला दिया है। इस मामले में पालक पहले ही निरीक्षक और शेरिफ समेत कई स्थानीय अधिकारियों का कोपभाजन बन चुके थे; शेरिफ उसकी गिरफ्तारी का वारंट जारी कर चुका था।... हमने तीन रास्ते सुझाए थे; उन्होंने हमारे स्कूल में दाखिले का रास्ता चुना। आप जानते ही हैं कि इससे स्कूल में अनिवार्य उपस्थिति के कानून की शर्त पूरी हो जाती है और पालक मुकदमे से बच जाता है, और बच्चा स्थानीय स्कूल संभाग के न्याय क्षेत्र से निकलकर उस प्राइवेट स्कूल के ‘संचालक प्राधिकरण’ के न्याय क्षेत्र में आ जाता है जहाँ उसने दाखिला लिया है!”

ठाक अंक प्राप्त करता रहे, या किसी और तरह से यह साबित करता रहे कि वह स्कूली कार्य में पिछड़ नहीं रहा है। कुछ स्कूल ज़रूर ज़्यादा दिलेर होंगे, बच्चों पर ज़्यादा भरोसा करते होंगे, वे शायद इस सबकी परवाह न करें।

हो सकता है कि कुछ पालक मेरे द्वारा सुझाई गई एक भी चीज़ पर अमल करने में असमर्थ हों, क्योंकि वे किसी शहर में रहते हैं, या दोनों पालक काम करते हैं, या इसलिए कि स्थानीय स्कूल तंत्र बहुत कठोर है। ऐसी स्थिति में वे यह कर सकते हैं कि अपने बच्चों को, कम से कम साल के कुछ समय के लिए, अपने किसी सम्बन्धी, दोस्त या किसी संवेदनशील वयस्क के साथ रहने को भेज दें, जो कानूनी तौर पर उसे स्कूल से बाहर रख सकते हैं।

कुछ लोगों के लिए इनमें से कोई भी विकल्प सम्भव नहीं होगा। ऐसे मामलों में वे कानून की अवज्ञा करके ही अपने बच्चों को स्कूल से बाहर रख सकेंगे। अपनी किताब “*नो मोर पब्लिक स्कूल्स*” (रैंडम हाउस – दी बुकवर्क्स, 1972) में हाल बेनेट इसके कई तरीके बताते हैं। कुछ मामलों में, यदि पालक स्कूलों को अपने बच्चे के बारे में न बताएँ तो उन्हें पता ही नहीं चलेगा कि वह बच्चा अस्तित्व में है, और फिर जब वह स्कूल में नहीं पहुँचेगा तो वे उसे भगोड़ा घोषित नहीं करेंगे। यदि परिवार पड़ोसियों की निगाह के दायरे में रहता है, तो ऐसा करना मुश्किल होगा क्योंकि कुछ पड़ोसी देख लेंगे कि स्कूल के समय पर वह बच्चा स्कूल नहीं जाता। दूर देहात में रहने वालों के लिए यह काफी आसान है। मैं दो पालकों को जानता हूँ जो एक छोटे कस्बे से करीब दस मील दूर देहात में (उपनगर में नहीं) रहते हैं। उनका नौ वर्षीय लड़का कभी स्कूल नहीं गया (न जाना चाहता था)। दोनों ही पालक शहर में काम करते हैं। यदि देहात के स्कूल बच्चे को जानते हैं तो वे मानकर चलते हैं कि वह शहर के स्कूल में जाता है, और शहर के स्कूल इससे उल्टा मानकर चलते हैं। इस बच्चे के कई दोस्त हैं जो स्कूल जाते हैं, स्कूल समय के बाद वह उनके साथ खूब खेलता है। वे जानते हैं कि वह स्कूल नहीं जाता, उन्हें समझ नहीं आता कि वह कैसे बच निकला है, और वे उसकी किस्मत पर रंज करते हैं। अब तक किसी ने उसकी शिकायत नहीं की है – शायद इसलिए कि वह देश के एक ऐसे हिस्से में रहता है जहाँ आज भी अपने काम से काम रखने का रिवाज़ है।

हाल बेनेट ने अपनी किताब में बताया है कि यदि पालक स्थानीय स्कूल को बताएँ कि वे अपने बच्चे को वहाँ से निकालकर किसी प्राइवेट स्कूल में डाल रहे हैं, तो सरकारी स्कूल यही मानकर चलेगा कि बच्चा किसी प्राइवेट स्कूल में पढ़ रहा है और शायद जाँच-पड़ताल न करे। कुछ लोगों के लिए अपने बच्चे को दर्दनाक या विनाशकारी स्कूली स्थिति से निकालने का यह एक तरीका हो सकता है।

अन्ततः, यदि पालक किसी ऐसी जगह पर नहीं हैं जहाँ, स्कूल के समय, वे अपने बच्चे को घर पर रख सकें या स्कूल से बाहर रख सकें, तो वे उसे, कम से कम कुछ समय के लिए, ऐसे लोगों – सम्बन्धियों, दोस्तों या किन्हीं संवेदनशील लोगों – के साथ रहने को भेज सकते हैं जो ऐसा कर सकते हों। शायद वे पूरे स्कूल वर्ष तक ऐसा न कर सकें, मगर स्कूल से जितना पलायन हो उतना ही अच्छा है। हो सकता है कि यदि पूरा साल स्कूल में न बिताना पड़े, तो कुछ बच्चे स्कूल जाने को तैयार भी हो जाएँ।

यह सब कहते हुए मैं यह सुझाव नहीं देना चाहता कि इसमें से कुछ भी करना आसान होगा या सब लोग ऐसा कर पाएँगे। यह तो मैं बिल्कुल ही नहीं कह रहा हूँ कि यदि काफी सारे लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजने से इन्कार कर दें, तो स्कूलों का लोप हो जाएगा। मैंने जो उपाय सुझाए हैं, उनसे कई बच्चों के लिए स्कूल से पलायन करना सम्भव होगा। मगर यदि बहुत सारे बच्चे इन (या अन्य) खामियों का फायदा उठाकर स्कूल से बाहर रहने में सफल हो गए, तो स्कूल अधिकारी, शिक्षक संगठनों व संघों की मदद से, अपनी राजनैतिक ताकत का इस्तेमाल करके इन खामियों को दुरुस्त करवा लेंगे। आखिर अनिवार्य और प्रतिस्पर्धात्मक शिक्षा (कॉलेज व विश्वविद्यालयों समेत) सालाना 100 अरब डॉलर का कारोबार है। यह कारोबार मजबूरन खपत पर आधारित है, और वे लोग बगैर कड़े संघर्ष के इसका एक अंश भी हाथ से नहीं जाने देंगे। मगर जब तक इतने बच्चे स्कूल से पलायन न करने लगें कि स्कूल यह महसूस करने लगें कि भागने के रास्ते बन्द करना ज़रूरी है, तब तक हमारे पास पर्याप्त सबूत होंगे कि हम अदालतों और कानून निर्माताओं को यकीन दिला सकें कि ये रास्ते खुले रखना ज़रूरी है। संक्षेप में, हम यह दिखा सकेंगे कि स्कूल से बाहर के बच्चे स्कूल में पढ़ रहे बच्चों की अपेक्षा काफी कम लागत पर कहीं तेज़ी से सीखते हैं। स्वतंत्रता व न्याय के अलावा सार्वजनिक नीति के लिहाज़ से भी अनिवार्य है कि हम पालकों और बच्चों

क्या कोई सम्भावना है?

को मिलकर फैसला करने दें कि यदि वे स्कूलिंग चाहते हैं, तो कितनी और किस किस की।

तब तक शिक्षा – अनिवार्य स्कूलिंग, अनिवार्य सीखना – मानव मस्तिष्क और आत्मा के खिलाफ अत्याचार और अपराध है। जो लोग, जिस भी तरह, इससे बच सकते हैं बचें।

परिशिष्ट

परिशिष्ट क

दी पेखम एक्सपेरिमेंट: ए स्टडी ऑफ दी *लिविंग स्ट्रक्चर* ऑफ सोसायटी

लेखक : इनेस एच. पीयर्स, लुसी एच. क्रोकर (एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1943)

पृष्ठ 11: आम लोगों का एक छोटा समूह, सभी 30 से कम। इस समूह को लगता था कि मानव जीवन में तन्दुरुस्ती सबसे महत्वपूर्ण कारक है। सभी लोगों की तरह उन्हें भी बहुत अस्पष्ट ही पता था कि “तन्दुरुस्ती” से उनका मतलब क्या है, मगर उन्हें लगता था कि इसका राज़ शिशु व उसके प्रारम्भिक विकास में छिपा है। उन्हें यकीन था कि गर्भधारण करने और गर्भावस्था पूरी करने से पहले पालकों को निरोगी होना चाहिए। यह भी पक्का होना चाहिए कि पालक बच्चा चाहते हैं, और वे उसकी परवरिश में समर्थ व उत्सुक हैं।

यह काफी सामान्य-सी बात लगती है। महत्व की चीज़ वह कार्यवाही थी जो इस समूह ने की।... यह तय किया गया कि एक पारिवारिक क्लब की तर्ज़ पर परिवारों को *स्वास्थ्य* सेवा उपलब्ध कराई जाए। इसके अन्तर्गत परिवार के सारे सदस्यों को समय-समय पर स्वास्थ्य कायापलट और शिशुओं, बच्चों और पालकों को विभिन्न पूरक सेवाएँ दी जानी थीं।

पृष्ठ 12: इस तरह 1927 में शुरुआती “हेल्थ सेन्टर” ने शक्ति अख्तियार की। साउथ लन्दन बरो में एक छोटा मकान लिया गया। इसमें एक कंसल्टिंग रूम, स्वागत कक्ष, स्नानागार व कपड़े बदलने का कमरा, और एक छोटा क्लब रूम बनाया गया। आसपास रहने वाले परिवारों को थोड़ा-सा साप्ताहिक शुल्क देकर इस पारिवारिक क्लब में शामिल होने का

न्यौता दिया गया। तीन साल बाद 112 परिवार, यानी करीब 400 व्यक्ति, शरीक हो चुके थे, और इन परिवारों के सारे सदस्य नियमित स्वास्थ्य कायापलट के लिए उपस्थित होते थे। इस पूरी अवधि में सारे परिवारों ने अपनी सदस्यता जारी नहीं रखी, मगर सवाल का जवाब मिल चुका था। *परिस्थितियाँ उपयुक्त हों* तो ऐसे परिवार हैं जो एक ऐसी स्वास्थ्य सेवा का स्वागत करेंगे जो किसी भी रुग्णता सेवा से अलग है, और ये लोग इसमें किसी आसन्न बीमारी के डर के बगैर ही शामिल होंगे।

पृष्ठ 13: सात साल बीत गए। यह अवधि बारीकी से अगले चरण के नियोजन में और एक नए व बड़े उद्यम हेतु धन जुटाने में व्यतीत हुई थी – इस नए उद्यम को मैदानी प्रयोग कहा जा सकता है। यह एक स्वास्थ्य केन्द्र की योजना थी जिसमें करीब 2000 लोगों को सेवाएँ दी जानी थीं। इसके अन्तर्गत पहले की तरह परामर्श सेवा तो दी ही जानी थी, साथ में इसमें सदस्य परिवारों को ऐसे उपकरण उपलब्ध कराए जाने थे जिनकी मदद से वे अपनी उन क्षमताओं का अभ्यास कर सकेंगे जिनके लिए जीवन की आम परिस्थितियों में कोई गुंजाइश नहीं होती।

पृष्ठ 67-68 : दक्षिण लन्दन के एक मुख्य मार्ग से कुछ ही दूरी पर एक शान्त सड़क के फुटपाथ से 100 फुट अन्दर एक इमारत है जिसे औपचारिक रूप से तो पायोनियर हेल्थ सेन्टर के नाम से जाना जाता है, मगर इसका नियमित उपयोग करने वाले इसे “दी सेन्टर” कहते हैं। इसमें तीन बड़े-बड़े पक्के चबूतरे हैं (160 फुट X 120 फुट)। ये अलग-अलग ऊँचाई के हैं और समान्तर खम्भों पर बने शहतीर पर टिके हैं। इनके बीच की जगह में एक तैरने का हमाम है (35 फुट X 75 फुट)। खम्भों पर बने इस तरह के निर्माण का एक फायदा यह होता है कि सारी बाहरी दीवारें और तैरने के हमाम की दीवारें काँच की बनाई जा सकती हैं। और वास्तव में जो चन्द पार्टिशन दीवारें यहाँ हैं, वे काँच की ही हैं। सामने की ओर दीवार से बाहर निकली खिड़कियाँ हैं। गर्मियों में इनका कुछ हिस्सा फोल्ड हो जाता है। यह ऐसा दिखता है जैसे एक-के-ऊपर-एक खुले झरोखे बने हुए हैं। डिज़ाइन इस तरह बनाया गया है कि लताएँ इसे रंग-बिरंगा रूप देती हैं और दोपहर की धूप इन पर पड़ती है।

ऊपरी मंज़िल में एक तरफ एकमात्र ऐसी जगह है जो आम लोगों के लिए खुली नहीं है। यह परामर्श खण्ड है जहाँ परामर्श कक्ष, स्वागत कक्ष, वस्त्र परिवर्तन कक्ष और जैव-रासायनिक प्रयोगशाला हैं। इसके सादे व हल्के निर्माण को छोड़ दें तो यह खण्ड कमोबेश किसी भी आधुनिक क्लिनिक

के चिकित्सा विभाग जैसा ही दिखता है। ऊपरी मंज़िल के शेष भाग में चुपचाप बैठकर काम करने, पुस्तकालय और कार्य कक्ष, तथा खेल वगैरह के लिए खुली जगह है।

इमारत की पहली मंज़िल पर एक कैफेटेरिया है और सामाजिक कार्यों के लिए एक बड़ा हॉल है। इन दोनों जगहों के आसपास गोलाई में काँच की खिड़कियाँ हैं जिनमें से तैरने का हमाम नज़र आता है। बड़े हॉल के एक ओर की दो बड़ी-बड़ी खिड़कियों में से तल मंज़िल पर एक छोर पर जिम्नेज़ियम तथा दूसरे छोर पर एक थिएटर दिखाई पड़ता है। तल मंज़िल के शेष हिस्से में शिशु नर्सरियाँ हैं जो मैदान में खुलती हैं; शिशुओं और सीखनेवालों के लिए एक तैरने का हमाम है, जो नर्सरियों को जाने वाले गलियारे की खिड़कियों से नज़र आता है; हमाम, जिम्नेज़ियम और थिएटर के लिए अमानती सामान घर, वस्त्र बदलने की जगह और स्प्रे चेम्बर वगैरह हैं। इमारत के सामने की ज़मीन, रोलर स्केटिंग, सायक्लिंग वगैरह के लिए पक्की की गई जगह को छोड़कर, वैसी ही पड़ी है। जब इस प्रयोग का विकास होगा तो इसकी बनावट को भी दिशा मिलेगी।

जब यह केन्द्र शुरू हुआ था तब, ऊपर वर्णित निर्माण कार्य के अलावा, यहाँ कौन-कौन से उपकरण थे? पुस्तकालय में कुछ किताबें, एक बिलियर्ड टेबल, बच्चों के लिए खेल, एक ग्रामोफोन, एक-दो पियानो – बस। आगे हमें जो भी गतिविधियाँ दिखेंगी, वे वहाँ आने वाले परिवारों की इच्छा के अनुसार एक-एक करके जुड़ती गई हैं।

पृष्ठ 69 : ... मूलतः यह एक ऐसी इमारत है जिसे लोगों और उनके क्रियाकलापों से सुसज्जित करने के हिसाब से डिज़ाइन किया गया है। यह उन युवा माताओं के लिए है जिनके पास दोपहर में फुरसत हो, उन शिशुओं के लिए है जो साहसिक कारनामे करना चाहते हैं, किशोरों के लिए है, काम पूरा हो जाने के बाद माता-पिता के लिए और सारे वयस्कों के लिए है। साथ ही यह एक ऐसी जगह है जहाँ परिवार के सदस्य इकट्ठा हो सकते हैं।

दरअसल, पूरी इमारत के डिज़ाइन की खूबी यह है कि यह सामाजिक सम्पर्क को न्यौता देती है; संयोगवश मुलाकातों, औपचारिक व उत्सव के अवसरों और अन्तरंग मेलजोल, सबकी बराबर गुंजाइश है यहाँ। यह जान-पहचान करने, मित्रता विकसित करने और परिवारों द्वारा अपने मेहमानों का मनोरंजन करने का स्थान है। विघटित होते शहरों के इस दौर में ऐसे स्थान उपलब्ध नहीं हैं। बहरहाल, इन्सान के पास ऐसे स्थानों का एक लम्बा इतिहास है जिन्होंने उसकी सामाजिक जीवन की और उसके

बड़े होते बच्चों के आजमाइशी साहसिक कारनामों की ज़रूरतों की पूर्ति की है: चर्च, चौपाल, बाज़ार, गाँवों की हरियाली, आँगन; यानी ऐसी आरामदेह, महफूज़ जगहें जहाँ कोई भी सार्थक सामाजिक गतिविधि की जा सके।

सेन्टर ऐसा ही एक स्थान है। यह अतीत की तर्ज़ पर नहीं बना है, पारम्परिक नहीं है, मगर इस तरह से बनाया गया है कि उन जैविक ज़रूरतों को पूरा कर सके जिन्हें हाल ही में समझा जाने लगा है।

पृष्ठ 72 : सेन्टर परिवारों का एक क्लब है, जिसमें कोई भी परिवार प्रति सप्ताह 1 शिलिंग का शुल्क देकर प्रवेश ले सकता है। सदस्यता की शर्तें व फायदे दो हैं :

(1) सदस्य परिवार के हर व्यक्ति के स्वास्थ्य की समय-समय पर जाँच।

(2) क्लब व उसके सारे उपकरणों के उपयोग का अधिकार, स्कूल-पूर्व उम्र के बच्चों के लिए निशुल्क और वयस्कों को प्रत्येक गतिविधि के लिए कुछ अतिरिक्त शुल्क देकर।

पृष्ठ 126 : पाठकों को याद होगा कि हमने वास्तुकार से कहा था कि इमारत ऐसी बने जहाँ गतिविधि का नज़ारा ही गतिविधि में शामिल होने का लोभ बन जाए।... मगर गौरतलब है कि सेन्टर पर मात्र कुशल व्यक्तियों की गतिविधि ही नहीं, बल्कि दक्षता के हर स्तर की क्रिया चलती रहती है।... आम जीवन में किसी भी गतिविधि का प्रायः विशेषज्ञों द्वारा प्रदर्शन ही पेश किया जाता है।... हज़ारों की संख्या में दर्शक विशेषज्ञ का खेल देखने को उमड़ते हैं। मगर इन “सितारों” की चकाचौंध में अक्षमता का एक एहसास पैदा होता है, जिसके कारण कोशिश करना बेकार नज़र आने लगता है और भीड़ की अक्रियता पुष्ट होती चलती है। यानी ज़रूरी नहीं कि हर तरह की क्रिया कोशिश करने का न्यौता दे: दर्शक के सामर्थ्य के अन्दर दिखने वाली क्रियाएँ एक प्रलोभन देती हैं और दर्शक अन्ततः स्वयं को रोक नहीं पाता।

पृष्ठ 128 : अब हमने अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक, मुक्त व स्वतःस्फूर्त विकास के हक में संयोजन के जान-बूझकर किए जाने वाले सारे प्रयास छोड़ दिए हैं। यह बदलाव शुरू के चन्द महीनों के अनुभव के कारण आया है। इस दौरान हमने देखा कि यदि बच्चों को वयस्कों के बीच एक सामाजिक परिस्थिति में मौका मिले तो वे कहीं अधिक उद्यमी विवेक का

प्रदर्शन करते हैं। जिन परिस्थितियों में उन्हें गतिविधि का अभाव न हो, वहाँ इतना ही करना होता है कि उन्हें व्यवस्थित रूप से कुछ करने का मौका या सम्भावना दी जाए और वे उसे पकड़ लेते हैं। गतिविधि में जुटने के लिए उन्हें हाँकने, फुसलाने या निर्देशों की कोई ज़रूरत नहीं होती, बल्कि वे इसे नापसन्द करते हैं। और सेन्टर की परिस्थिति में किशोर – जिन्हें आम तौर पर “समस्या” माना जाता है – और वयस्क भी अपनी गतिविधियों के संचालन में कुछ कम सक्षम नहीं होते। ...हमारे सदस्यों ने हमें यह तो पहले ही सिखा दिया है कि नेताओं को किसी प्रशिक्षण की ज़रूरत नहीं होती; सही हालात हों तो वे स्वाभाविक रूप से उभरते हैं। सेन्टर में आने वाला आगन्तुक आम तौर पर यह जानकर हैरान हो जाता है कि जो कुछ वह देख रहा है वह किसी कार्यक्रम, आग्रह या संचालन का नतीजा नहीं बल्कि स्वतःस्फूर्त क्रियाएँ हैं।

पृष्ठ 185 : मसलन, एक अकेले बच्चे या किसी परिवार के एक-दो बच्चों के लिए कितना ही सुसज्जित जिम्नेज़ियम बनाएँ, उसका उपयोग छुटपुट ही होगा। यह लगातार और बढ़ते हुए उपयोग की प्रेरणा शायद ही बन पाए। दरअसल साहसिक क्रियाओं की प्रेरणा और शिक्षाप्रद माहौल तो तब बनता है जब वहाँ हर उम्र के अन्य बच्चे हों जो हर चीज़ के नए-नए उपयोग खोजें और प्रदर्शित करें।

इन बच्चों को इतनी कम उम्र में अपनी क्षमताओं का अभ्यास करते देखते हुए हम भी लगातार अपने सबक सीखते हैं। हमने देखा है कि इन परिस्थितियों में छोड़े जाने पर कोई भी बच्चा ऐसी किसी चीज़ की कोशिश नहीं करेगा जिसे वह सुरक्षित ढंग से हासिल न कर सकता हो। सेन्टर के खुले रहने की अवधि में पाँच वर्ष के किसी बच्चे के साथ कभी कोई दुर्घटना नहीं हुई। ... बच्चे का अपना साहस ही उसे बता देता है कि कौन-सा काम आजमाना चाहिए। मगर जब बड़े लोग, माँ या कोई निर्देशिका, या “नन्ही माँ” की भूमिका निभाता कोई बड़ा बच्चा आग्रह करे, मदद करे, दबाव डाले या फुसलाए, तो किसी क्रिया या खोजबीन को लेकर बच्चे की अपनी कुदरती प्रेरणा भ्रमित हो जाती है। उसका स्वयं पर निहित भरोसा उस व्याकुल मददगार में हस्तान्तरित हो जाता है जो उसकी हर हरकत पर हावी हो रहा है। तभी दुर्घटना घटती है।

पृष्ठ 192 : गतिविधि के इस शोरगुल का अध्ययन ज़रा उस बच्चे के नज़रिए से करें जो इसमें शरीक है। वह आगे बढ़ता है और बगैर मदद के झूला झूलना और चढ़ना, सन्तुलन बनाना और छल्लांग मारना सीख

लेता है। यह सब करते हुए वह अपने शरीर का उपयोग करने में दक्षता हासिल कर रहा है। जो लड़का रस्सी पर से लकड़ी के घोड़े पर कूदता है, और वापिस रस्सी पर कूदता है, वह अपनी आँखों, पेशियों, जोड़ों, और अपने सारे संवेदी अंगों से अनुमान लगाना, निर्णय करना और जानना सीख रहा है। जिम्नेज़ियम में उपस्थित अन्य उन्तीस बच्चे भी उसी के बराबर सक्रिय हैं। उनमें से कुछ उसके नज़दीक ही हैं। मगर वह झूलना नहीं रोकता, वह वहाँ झूलता है जहाँ जगह है। यह बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है और इस प्रक्रिया में वह अपने उन्तीस साथियों के बीच से अपना रास्ता निकालता है। अपने सारे अंगों, क्षमताओं का उपयोग करते हुए वह जिम्नेज़ियम की समूची स्थिति – स्वयं अपने झूलने और अपने सारे साथियों की हरकतों – के प्रति सचेत है। वह चिल्लाकर और लोगों से रुकने को, इन्तज़ार करने को, या उससे दूर रहने को नहीं कहता। ऐसा भी नहीं है कि वहाँ खामोशी हो, क्योंकि जब वह हवा में झूल रहा होता है तब हॉल में लगातार बातचीत जारी रहती है।

मगर अपनी सारी संवेदनाओं के जीवन्त उपयोग की यह “शिक्षा” तभी हो सकती है जब उसके सारे उन्तीस साथी भी मुक्त और सक्रिय हों। यदि कमरा खाली करवा लिया जाए, और जब वह झूले तब उन्तीस लड़कों को एक किनारे खामोश बैठा दिया जाए, तो कुल मिलाकर हम उससे – उसकी टाँगों से, उसकी आँखों से, उसके शरीर से – यह कह रहे हैं कि “तुम अपना पूरा ध्यान झूलने पर लगाओ, हम बाकी दुनिया को दूर रखेंगे।” दरअसल आशय यह होगा कि “जितना चाहो अहंकारी बन जाओ।” इस तरह से माहौल में विविधता को घटाकर हम उसे एक जटिल स्थिति को समझना व उसमें कार्य करना सीखने से वंचित कर देंगे। कुल मिलाकर हम उसे यह सन्देश देंगे, “बस, इतना-इतना करो; तुमसे इससे ज़्यादा उम्मीद नहीं की जा सकती।” तब क्या आश्चर्य कि वह इस तरह से व्यवहार करने लगता है गोया वह इतना ही कर सकता है? शिक्षण की मौजूदा पद्धति से हम वास्तव में समाज में बच्चे के असमन्वय को बढ़ावा दे रहे हैं।

पृष्ठ 194-95 : सेन्टर में एक रोचक उदाहरण सामने आया जिससे पता चलता है कि प्रशिक्षण का कितना अवरोधक असर होता है। कुछ बच्चे गोताखोरी में काफी समय बिताते थे और माना जाता था कि उनमें काफी सम्भावना है। उन्हें एक पेशेवर प्रशिक्षक – ओलम्पिक खिलाड़ियों के एक प्रशिक्षक – ने उत्साह व व्यवस्थित ढंग से प्रशिक्षण दिया। वह बहुत अच्छा शिक्षक था और स्पष्ट तौर पर काफी प्रेरक था, क्योंकि बच्चे उसके साथ

सीखने को आतुर रहते थे। मगर उन सबका हुआ क्या जो अपने जोश के बल पर वह श्रमसाध्य कोर्स पूरा कर रहे थे? जैसे ही उनके शिक्षक ने आना बन्द किया, उन्होंने गोताखोरी बन्द कर दी। कुछ ने गोताखोरी की ज़रूर लेकिन उतने उत्साह से नहीं। ऐसा लगा कि शायद अपनी कुदरती क्षमता से परे प्रशिक्षण – जो एक ऐसे स्तर पर था जो उनका अपना नहीं बल्कि प्रशिक्षक का था – पाकर उनकी अपनी भूख तुष्ट हो गई और नष्ट हो गई। यह सही है कि गोताखोरी के वस्तुनिष्ठ व बाहरी मापदण्डों से देखा जाए तो वे अपने आप जितना अच्छा बन सकते थे, उससे बेहतर गोताखोर बन गए थे, मगर यह उनकी कुदरती दिलचस्पी और भूख की कीमत पर हुआ था। “शैली” हासिल करने के चक्कर में वे अपनी दिलचस्पी और सहज मज़े से हाथ धो बैठे थे।

हम यह नहीं कहना चाहते कि किसी भी उम्र में प्रशिक्षण का कोई स्थान ही नहीं है। जब व्यक्ति की बुनियादी दक्षताएँ स्थापित हो जाएँ, और किशोरावस्था या उसके बाद जब भी वह अपनी विशेषज्ञता की भावी दिशा निर्धारित कर लेगा, तब वह शायद स्वयं ही अपने कुशलताओं को निखारने के लिए कोई प्रशिक्षण कोर्स अपना लेगा। यह ज़रूरी है कि इस अवसर पर शिक्षण उपलब्ध हो।

अलबत्ता, स्कूली बच्चों पर लौटते हैं। हम कैसे तय करते हैं कि उन्हें कौन-सी सामग्री दी जाए? एक अहम बात यह है कि बच्चे को वे औज़ार उपलब्ध होना चाहिए जो उस समाज में आम तौर पर उपयोग किए जाते हैं जिसमें उसका जन्म हुआ है। वर्तमान में एक शहरी बच्चे के सन्दर्भ में इसका अर्थ होगा कि उसे सायकिल, टाइपराइटर, सिलाई मशीन, वायरलेस सेट वगैरह चीज़ें उपलब्ध हों। किसी मछुआरा गाँव में रहने वाले बच्चे के लिए यह बहुत बुरी बात होगी यदि उसे नाव और बंसी जैसे साधन, चाहे इन्हें कितना ही बचाकर रखा जाता हो, कुछ हद तक उपलब्ध न हों।

पृष्ठ 196: सेन्टर के सारे उपकरण, बड़ों या ज़्यादा दक्ष लोगों द्वारा उपयोग किए जाने पर, बच्चों को स्वतः स्पष्ट होते जाते हैं। इस माहौल में बच्चों का ध्यान आकर्षित करने के लिए किसी दिशा-निर्देश की ज़रूरत नहीं होती। उपकरण का निहित आकर्षण या अन्य लोगों के क्रियाकलाप ही बच्चों को मनपसन्द चीज़ें करने का न्यौता देते हैं। बच्चे इस बात का इन्तज़ार नहीं करते कि कोई बड़ा व्यक्ति – पालक या शिक्षक – उन्हें बताए कि अब क्या करें। इसकी बजाय बच्चा अपने ही उद्दीपनों से वे चीज़ें करना सीख लेता है जो उसके लिए सिलसिलेवार सीखने का सबब बनेंगी। वह अपनी पहल को निर्मित करने के लिए पहला कदम उठाना भी

सीख जाता है। सेन्टर में कोई वयस्क किसी बच्चे को सिखाने के मकसद से बिलियर्ड का खेल नहीं खेलता, न ही वह ड्रम के इस्तेमाल का प्रदर्शन करता है। नहीं, खेल इसलिए चलता है, बैण्ड इसलिए बजता है कि भागीदार लोग खेलना या बजाना चाहते हैं। उन्हें अपने प्रशिक्षकों में तो वह बच्चा तब्दील करता है जो उन्हें देख रहा है। अर्थात होता यह है कि *सेन्टर का समाज* एक प्रशिक्षक बन जाता है; जान-बूझकर नहीं। स्थिति की प्रकृति ही ऐसी है कि यह स्वतःस्फूर्त व अपरिहार्य रूप से होता है, क्योंकि सामाजिक क्रियाकलापों की प्रचुरता व विविधता के ज़रिए बच्चे को अनुभवों की भरपूर खुराक मिलती है।

पृष्ठ 200-01: इसके अलावा हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जब बच्चा स्कूल जाता है तो उस पर एक ऐसी शिक्षा प्रक्रिया लागू की जाती है जो *मानसिक* उपलब्धियों पर ज़ोर देती है, और उस *शारीरिक* ओजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए अवसर काफी कम होता है जो किसी भी नन्हे जानवर का स्वभाव है। आम तौर पर स्कूल का पाठ्यक्रम शारीरिक गतिविधियों के लिए बहुत कम गुंजाइश देता है, और सामाजिक जीवन से पूरी तरह कटा होता है। इस तंत्र में एक जीवन्त संगठन का लचीलापन नहीं होता। इसलिए इसमें बच्चा जो कुछ करता है उसमें उसकी अपनी बढ़ती विवेक क्षमता और स्वेच्छा के उपयोग के लिए कोई स्थान नहीं होता। हमारा अनुभव दिखाता है कि जहाँ शुरुआती उम्र से ही बच्चे को अपने स्वतःस्फूर्त शारीरिक पर्यटन का अवसर मिलता है, वहाँ अनुशासन, जो स्कूल में प्रायः इसका स्थान लेता है, की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती। अनुशासन हर उस बच्चे में निहित है जो एक परिचित व “संगठित” समाज के ढाँचे में स्वयं अपने लिए चुनौतियाँ तलाश करे। दरअसल, सेन्टर में एक गौरतलब अनुभव यह रहा है कि स्वस्थ उन्मुक्त उत्साह और दमन के उन्माद के बीच आसानी से भेद किया जा सकता है।

सारे प्रेक्षक यह देखकर हैरान होते हैं कि अपने मनपसन्द उद्यम में रत बच्चों में थकान का नाम नहीं होता। जो बच्चे सेन्टर में शनिवार या किसी छुट्टी के दिन दोपहर 2 बजे आकर शाम 6-7 बजे जाते हैं, उनमें से कई इस पूरी अवधि में चाय तक के लिए बिना रुके या बिना आराम किए एक के बाद एक गतिविधि में भिड़े रहते हैं। साढ़े पाँच साल का एक बच्चा अभी तैर नहीं पाता था। वह आधे घण्टे में एक स्प्रिंग बोर्ड से 10 फुट पानी में बीस से ज़्यादा बार गोता लगाता था। और वह ऐसा मात्र किसी उन्माद में नहीं करता था, बल्कि गोता लगाने में अपनी क्षमता के अनुरूप महारत हासिल करने के अपने वैयक्तिक तकाज़े के प्रत्युत्तर में बामकसद रोज़-

ब-रोज़ ऐसा करता था, और वापिस किनारे पर आने के लिए वह हर बार संघर्ष करके सन्तुष्ट था। या हम चार साल से छोटे एक लड़के की मिसाल दे सकते हैं जो बिना नागा रोज़ाना चार-चार घण्टे रोलर स्केटों पर बिताता था, जब तक कि उसने एक खास किस्म का सन्तुलन हासिल नहीं कर लिया। बच्चों के काड़ों से संकलित किए गए रिकॉर्ड से पता चलता है कि इन असाधारण उदाहरणों के समकक्ष सैकड़ों अन्य उदाहरण हैं जिनमें प्रयास की निरन्तरता नज़र आती है। दरअसल, सेन्टर के बच्चों में यह कोई अपवाद नहीं बल्कि सामान्य बात है।

पृष्ठ 203 : ...आजकल बच्चों की दुनिया की बहुत बातें होती हैं, मगर किसी गलतफहमी में न रहें, बच्चा अपनी ही दुनिया में कैद होकर रहना नहीं चाहता। उसके पालकों की दुनिया, वयस्कों की दुनिया रहस्य और रोमांच की जगह है, और बड़ा होता बच्चा इसमें अधिक से अधिक भागीदारी चाहता है।...

पारिवारिक विकास के दौरान दिए जाने वाले योगदान एकतरफा नहीं बल्कि परस्पर होते हैं। जहाँ पालक अपने बच्चे की परवरिश में अपनी चतुराई प्रयुक्त करते हैं, वहीं बच्चा अपनी गतिविधियों के ज़रिए पालकों के विकास में योगदान देता है। उसका सामना जिस भी चीज़ से होता है, उसके प्रति उसकी निर्दोष उत्सुक भूख पूरे परिवार पर बाहरी दुनिया के प्रभाव का एक मार्ग बन जाती है, क्योंकि वह अपने परिवार के बड़े सदस्यों के ध्यान में ऐसी चीज़ें लाता है जो शायद उसके बगैर न आतीं या शायद वे उससे नज़रें चुराते रहते। वास्तव में कई परिवारों ने सबसे पहले सेन्टर में आना अपने 9-10 साल के बेटे या थोड़ी ज़्यादा उम्र की बेटों के कारण ही शुरू किया था। ये बच्चे “ना” नहीं सुनना चाहते थे; और कई माता-पिता तैरने के हमाम में या बेडमिंटन के मैदान में अपने बच्चे की इसी ताज़ा, निडर सहजता की बदौलत ही पहुँचे थे। सो, किसी स्वस्थ परिवार में बच्चों और बड़ों की इस परस्पर क्रिया के फलस्वरूप पालक समय के साथ कदम मिलाकर चल पाते हैं, हालाँकि वे अधेड़ावस्था कब की पार कर चुके होते हैं। यह जानी-मानी बात है – जैसा कि पालक बताते हैं – “बच्चे आपको जवान रखते हैं।”

पृष्ठ 204: लिहाज़ा दो अहम तथ्य उभरते हैं। सेन्टर में समाज और बच्चा एक-दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध में होते हैं। बड़े लोग, *अपने काम से काम रखते हुए*, लगातार परिवार के विचरण के धरातल को विस्तार देते हैं। और बच्चा इस सतत् विस्तार में भागीदार होता है और अपना योगदान

देता है। इस परिस्थिति में बच्चे को कभी भी इस अहंकारी स्थिति में नहीं डाला जाता कि वही सबके ध्यान का केन्द्र है, वे पालक हों या प्रशिक्षक। वह गतिविधि के सक्रिय क्षेत्र के हाशिए पर होता है, जहाँ उसे पालकों के विकास के चलते लाया जाता है, और इसमें वह खिंचता है अपनी नवोदित रुचि के कारण। और चूँकि वह इस समाज में घूमने-फिरने को स्वतंत्र है, इसलिए वह अपनी रुचि के दौर के अनुसार अपने विकास के लिए उपयुक्त गतिविधि की ओर स्वतः बढ़ जाता है। इस तरह के समाज में गहरे व विस्तृत रूप में घुसकर, समय के साथ बच्चे का सम्पर्क हर स्तर व प्रकार के हुनर से हो जाएगा। ये सारे लोग जिन्हें वह जानता है – उसके पालक और उनके दोस्त व परिचित, उसके भाई-बहन व उनके हमउम्र – सब स्वाभाविक व अनिवार्य रूप से उसके स्वयं द्वारा निर्मित शिक्षक व प्रशिक्षक बन जाते हैं।

पृष्ठ 219-20 : मगर अनुभव हमें बताता है कि किशोरों को वयस्कों से जुड़ाव की ज़रूरत सिर्फ़ फुरसत के क्षणों में ही नहीं बल्कि हर गतिविधि में होती है। बाहर जाकर काम करने की किशोरावस्था के विकास में एक अहम भूमिका होनी चाहिए, क्योंकि ज़िम्मेदारी के कामों में वयस्कों से जुड़ाव अपने आप में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शैक्षिक कारक है। एक किशोर के लिए यह इस बात का ठोस सबूत होता है कि वह बड़ा हो रहा है, जिसके प्रति वह बहुत सचेत होता है और उसे लगातार इसकी पुष्टि की ज़रूरत होती है।

इस मामले में हमने 14 साल की उम्र में काम पर जाने वाले लड़कों और 16, 17 या 18 साल की उम्र तक स्कूल में बने रहने वाले लड़कों के शारीरिक गठन व सन्तुलन में जो अन्तर देखा है, उससे हम बहुत प्रभावित हुए हैं। प्रथम समूह के लड़कों में, अक्सर प्रतिकूल औद्योगिक हालात के बावजूद, एक चौतरफा मज़बूत कामकाजी विकास होता है। जबकि स्कूल जारी रखने वाले लड़के थुलथुल नज़र आते हैं – धूप से वंचित किसी तने के समान – गोया स्कूल के अलग-थलग माहौल के कारण उनका विकास विकृत हो गया हो।

पृष्ठ 248 : किसी भी दोपहरी में सेन्टर में चाय के समय सहज दोस्ताना बातचीत करते हुए तीन, छः, दस महिलाओं के समूह दिख जाएंगे। हमारे लिए, और किसी भी आगन्तुक के लिए यह हैरत की बात होती है कि पूछने पर दस में से नौ महिलाएँ बताएँगी कि “नहीं, सेन्टर में शामिल होने से पहले मेरा एक भी दोस्त नहीं था।”

पृष्ठ 266-67: सेन्टर में जितना भी औपचारिक शिक्षण होता है, वह इन लोगों के लिए है। एक अंशकालिक तैराकी प्रशिक्षक, जो मुख्यतः बड़ी महिलाओं को तैरना सिखाता है, के अलावा अब सेन्टर में कोई पेशेवर प्रशिक्षण नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं है कि पेशेवर स्तर का कोई हुनर नहीं है या दक्ष लोग सिखाते नहीं हैं। दरअसल, सीखना-सिखाना तो हर तरफ खूब चलता रहता है, मगर किसी इच्छुक पड़ोसी की मदद से। यानी शिक्षण, पेशेवरों की बजाय उत्साही लोगों की एक कला के रूप में इमारत में चारों ओर फलने-फूलने लगा है: नृत्य, तलवारबाज़ी, बेडमिंटन, गोताखोरी और तैराकी, नाटक और कंसर्ट दल कार्य, संगीत, वायरलेस, वस्त्र निर्माण, पाक कला वगैरह। दरअसल, सेन्टर में पेशेवर वृत्ति हुनर-रहित साधारण स्त्री-पुरुषों में हुनर के विकास को बढ़ावा देने के लिहाज़ से न सिर्फ अनावश्यक बल्कि बाधक भी साबित हुई है।

पृष्ठ 270 : हम जानते हैं कि इन रोगग्रस्त किशोरों को ठीक करने के लिए आम दुनिया क्या करती है। यह बात हर शिक्षा सम्मेलन के दौरान हर युवा समिति को हर चौराहे पर चीख-चीखकर बताई जाती है। सबसे पहले वह दुनिया इन्हें अलग-थलग कर देती है। फिर उन्हें विपरीत लिंग से दूर कर देती है। कोशिश करती है कि वे समाज के सारे बड़े व छोटे सदस्यों से अलग रहें – और फिर “नेतृत्व” की गुहार करती है। मगर जिन गड़बड़ियों की गहरी जड़ें परिवार के हालात में हों, उनका उन्मूलन करने का कोई त्वरित तरीका नहीं होता। दोष सामाजिक माहौल में है; सुधार सामाजिक माहौल में किया जाना है, “नेतृत्व” में नहीं। यह भुला दिया जाता है कि छोटे बच्चों के कुदरती नेता समाज में मिलेंगे, जहाँ हर हुनरमन्द आदमी, हर शौकिया एथलीट, हर सुखी दम्पति स्वतः और – उससे भी महत्वपूर्ण – अचेतन ढंग से उनका नेता बन जाता है।

मगर इन किशोरों को एक साथ घेरकर, उन्हें एक मिश्रित व परिपक्व समाज के सारे कुदरती प्रोत्साहनों और निहित अनुशासन से काटकर, उम्र समूहों में कैद कर दीजिए तो एक ऐसी परिस्थिति बन जाएगी जिसमें क्रिया का उद्दीपन और नियंत्रण दोनों ही अधिकारियों को प्रदान करना पड़ेंगे। ये उद्दीपन व नियंत्रण मालिकों द्वारा प्रदान किए जाएँगे नेताओं द्वारा नहीं।

पृष्ठ 272 : ...हमारे मत में, आज भी कोई मनोविज्ञान नहीं है, मात्र मनो-रोगविज्ञान का ज्ञान है। वास्तव में, जब तक तन्दुरुस्तों के अध्ययन का कोई प्रायोगिक क्षेत्र स्थापित नहीं होता, तब तक मनोविज्ञान का कोई वैज्ञानिक अध्ययन कैसे सम्भव हो सकता है?

पृष्ठ 274 : दरअसल वेतन की कोई कमी नहीं है, न ही नेताओं या क्षमताओं की कमी है; और निश्चित तौर पर सदिच्छा की भी कोई कमी नहीं है। कमी मात्र ज्ञान और क्रिया के लिए सामान्य वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक अवसरों की है, जो सबका जन्मसिद्ध अधिकार होना चाहिए। कमी है तो युवा शरीरों के लिए सहज अभ्यास की गुंजाइश की, सामाजिक मेल-जोल के लिए स्थानीय मंच की, और परिवार के साथ चलते हुए जानकारी हासिल करते जाने के सतत् अवसरों की...

यदि समाज में सम्पर्क के समुचित अवसर हों तो तन्दुरुस्ती बीमारी से कम नहीं बल्कि ज़्यादा संक्रामक होती है।

पृष्ठ 289: चीज़ों को कैसे करें, इसका ज्ञान सबसे ज़्यादा एक ऐसे माहौल में जीते हुए हासिल किया जाता है जहाँ कुशलतापूर्वक की गई क्रियाओं के उदाहरण चारों ओर बिखरे हों...

पृष्ठ 303-06 : 1939 में उपलब्ध सेवाएँ व सुविधाएँ

क्लब के खुलने का समय:

सोमवार से शुक्रवार	दोपहर 2 से रात 10.30	समस्त गतिविधियों के लिए (स्वास्थ्य कायापलट मंगलवार व शनिवार)
--------------------	----------------------	--

शनिवार	दोपहर 2 से रात 11	
--------	-------------------	--

सोमवार से शनिवार	सुबह 7 से 8	अल्-सुबह तैराकी क्लब के सदस्यों के लिए – सुबह तैराकी के लिए
रविवार	सुबह 7 से 9	

रविवार	शाम 6 से रात 10	अक्तूबर से मार्च, उस समय भी जब उन सदस्यों द्वारा विशेष कार्यक्रम आयोजित किया जाता है जो रविवार को सेन्टर चलाने के लिए पूरी तरह ज़िम्मेदार हैं।
--------	-----------------	--

सदस्यता शुल्क:

प्रति परिवार 1 शिलिंग प्रति सप्ताह। इसके अन्तर्गत 16 वर्ष से छोटे सारे बच्चों को सारी सुविधाओं के मुफ्त उपयोग की पात्रता होती है, और वयस्क लोग प्रत्येक सुविधा का उपयोग थोड़ा-सा शुल्क देकर कर सकते हैं। सदस्य परिवारों के वे बच्चे जो 16 वर्ष से बड़े हैं और अभी स्कूल नहीं जाते (और समस्त अस्थायी सदस्य) 6 पेंस प्रति सप्ताह का निजी शुल्क देते हैं, और उन्हें भी थोड़ा-सा शुल्क देकर सारे उपकरणों के उपयोग की पात्रता होती है।

साप्ताहिक सदस्यता के अन्तर्गत कोई भी अतिरिक्त भुगतान किए बगैर उपलब्ध सुविधाएँ:

I परामर्श सेवाएँ; पहले से समय लेकर, दोपहर 2 से रात 10 तक, मंगलवार से शनिवार:

समय-समय पर पूरी जाँच, जिसके अन्तर्गत शामिल है:

प्रयोगशाला में जाँच,
व्यक्तिगत जाँच,
पारिवारिक परामर्श।

स्टाफ या सदस्य के अनुरोध पर विशेष समय।

बीमारी के बाद पुनः जाँच या डिस्चार्ज।

गर्भ-निरोध सम्बन्धी परामर्श।

प्रसव-पूर्व और प्रसव पश्चात देखभाल।

शिशु की देखभाल।

संक्रामक बुखारों व एलर्जी वगैरह के विरुद्ध टीकाकरण (सेवा मुफ्त; सामग्री लागत खर्च पर)।

पालकीय परामर्श।

गर्भधारण की सूचना हेतु।

जन्म के समय।

स्तनपान छुड़ाने के समय।

परिस्थिति के अनुसार किसी भी समय।

व्यावसायिक परामर्श।

किशोरों के लिए यौन शिक्षा (डॉक्टर के साथ निजी समय लेकर)।

सदस्यों के मंगेतरों के लिए स्वास्थ्य की जाँच (चाहे वे सदस्य न हों)।

विवाह-पूर्व परामर्श।

सलाहकार सेवा, कानूनी व अन्य।

II सेन्टर खुला रहने के पूरे समय में कैफेटेरिया, और नृत्य स्थान वाले सामाजिक हॉल समेत इमारत का आम उपयोग।

शिशुओं के लिए दोपहर की नर्सरी: रोज़ाना दोपहर 2 से शाम 6 तक (रविवार छोड़कर)। इसके अन्तर्गत शिशु जिम्नेज़ियम व शिशु स्विमिंग पूल का उपयोग कर सकते हैं। नर्सरी के बच्चों की माँ रोज़ाना बदल-बदलकर चाय बनाती हैं। सिर्फ़ सामग्री का खर्च लिया जाता है।

रात्रि-नर्सरी: रात 8-10 बजे, 2 वर्ष से छोटे बच्चों के लिए।

सेन्टर खुला रहने के समय बच्चों को निशुल्क और वयस्कों को थोड़ा शुल्क देकर उपलब्ध सुविधाएँ:

तैरने का हमाम (आधा घण्टा, 3 पेंस)। तैराकी क्लब, 6 पेंस। साप्ताहिक, 3 तैराकी।

गरम स्नान (3 पेंस)।

बिलियर्ड टेबल (6 पेंस) (वयस्कों की टेबल पर बच्चे नहीं)

टेबल टेनिस (1 पेंस)

डार्ट (1 पेंस)

ताश, शतरंज, ड्राफ्ट वगैरह (1 पेंस)

क्रिकेट अभ्यास की नेट और उपकरण

मुक्केबाज़ी, तलवारबाज़ी वगैरह के उपकरण

सिलाई मशीन, काटने की टेबल, कैंचियों, इस्तरी, आइनों वगैरह से सुसज्जित कार्य कक्ष।

बच्चों के लिए विशेष साधन, जिनका उपयोग वे बगैर कोई अतिरिक्त शुल्क दिए कर सकते हैं:

रोलर स्केट

शिंटी स्टिक (स्केट पर हॉकी खेलने के लिए)

परी सायकिल

सायकिल

ट्रैम्पोलिन

बैडमिंटन के रैकेट

छोटी बिलियर्ड टेबल

टेबल टेनिस

अभ्यास नेट में इस्तेमाल के लिए क्रिकेट का सामान
गेंदें

पार्लर खेल: शतरंज, ड्राफ्ट, लूडो वगैरह
पहेलियाँ
किताबें
चित्रकारी का सामान
सिलाई का सामान
टाइपराइटर
सीखने वालों के लिए टैप नृत्य के जूते
थाप वाद्य वृन्द का सामान

वे गतिविधियाँ जो सप्ताह में एक बार, दो बार या तीन बार, दोपहर या शाम को उपलब्ध होती हैं; इनके लिए भुगतान आम तौर पर इंटर-म्युरल क्लब के सचिवों द्वारा लिया जाता है:

बैडमिंटन, विभिन्न कुशलताओं के अलग-अलग समूह (3 पेंस)
मुक्केबाज़ी (3 पेंस)
चुस्त रहो (3 पेंस)
महिला स्वास्थ्य व सौन्दर्य समूह (3 पेंस)
तैराकी प्रशिक्षण }
गोताखोरी प्रशिक्षण हम्माम के उपयोग के लिए 3 पेंस
वॉटर पोलो
कुश्ती (3 पेंस)
व्हिस्ट ड्राइव
ऑर्केस्ट्रा रियाज़
नृत्य वृन्द रियाज़
बेतार कक्ष
ग्रामोफोन और रिकॉर्ड
नृत्य क्लब (2 पेंस)
नृत्य प्रशिक्षण (2 पेंस)
टैप नृत्य कक्षाएँ (2 पेंस)
रोलर स्केटिंग (3 पेंस)
नाटक या कंसर्ट पार्टी रिहर्सल के लिए मंच (समूह के प्रत्येक सदस्य के लिए 2 पेंस प्रति सप्ताह। बच्चों के समूह इसे मुफ्त बुक कर सकते हैं।)
चर्चा समूह, आमंत्रित वक्ता हो या न हो (2 पेंस)
प्राथमिक चिकित्सा कक्षाएँ
बढ़ईगिरी कक्षाएँ
विभिन्न प्रदर्शन कक्षाएँ, जैसे पाक कला, छोटे बच्चों की शिक्षा वगैरह।

हर मामले में शुल्क का निर्धारण इमारत के उस हिस्से के किराए और सम्बन्धित उपकरणों के रख-रखाव के खर्च तथा किसी भी विशेष खर्च का ध्यान रखकर किया गया है।

विशेष आयोजन:

क्रिसमस या नव वर्ष की पूर्व संध्या पर पार्टी (400 लोगों के लिए 5 व्यंजन वाली पार्टी, और उसके बाद नृत्य या कैबरे)

क्रिसमस पर बच्चों की पार्टी; सदस्यों द्वारा आयोजित की गई, जिन्होंने जलपान व आयोजन की सारी तैयारियाँ कीं। 600 बच्चे।

जन्म दिन पार्टी; भोजन सदस्यों द्वारा तैयार किया गया और बुफे के रूप में परोसा गया। कैबरे व नृत्य। 800 लोग।

विभिन्न इंटर-म्युरल क्लबों, जैसे बिलियर्ड क्लब, डार्ट क्लब वगैरह द्वारा आयोजित पार्टियाँ (50-200 लोग)।

नाटक व कंसर्ट पार्टी के प्रदर्शन (प्रवेश का शुल्क लगाकर, लगातार 3-4 प्रदर्शनों तक थिएटर पूरा भरकर)। दर्शक 150-200।

अन्य क्लबों की टीमों के साथ मैच।

विभिन्न किस्म की सैर व यात्राएँ।

पारिवारिक पार्टियाँ व अन्य आयोजन, जिनके लिए कमरा बुक किया जा सकता है।

आमंत्रित खिलाड़ियों, नर्तकों, संगीतज्ञों द्वारा समय-समय पर प्रदर्शन।

सम्बद्ध गतिविधियाँ:

सेन्टर का “होम फार्म”, ओकले हाउस, ब्रोमले कॉमन, केंट (सेन्टर से 7 मील दूर)। यहाँ टी.टी. और प्रमाणित दूध, ताज़ा सब्जियों व फलों का उत्पादन किया जाता है। ये चीज़ें सदस्यों को बेची जाती हैं। इस मामले में गर्भवती स्त्रियों व छोटे बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है।

युवा परिवारों को भोजन व पोषण के सिद्धान्तों की शिक्षा की दृष्टि से नियोजित।

होम फार्म सदस्यों के समूहों को खेल के मैदान के रूप में उपलब्ध है। यहाँ वे क्रिकेट व फुटबॉल खेल सकते हैं।

फार्म सेन्टर का अन्तरंग हिस्सा है, मगर अभी तक इसका वित्तीय इन्तज़ाम अलग स्रोत से किया जाता है।

ग्रेट स्विफ्ट हॉलिडे कैम्प, सिंसिघस्ट, केंट। सेन्टर शुरू होने के कुछ ही दिन बाद, स्व. कर्नल विक्टर कैज़ालेट के सौजन्य से हमें एक बड़ी ज़मीन का उपयोग सेन्टर के सदस्यों के लिए एक ग्रामीण कैम्प के रूप में करने का मौका मिला। इस ज़मीन में एक चारागाह के अलावा एक बड़ा जंगल है। बीच में एक झील और एक खाली भट्ठी-घर है। सदस्यों ने इस भट्ठी-घर की मरम्मत की, इसे फिर से सजाया। इस काम के लिए सदस्य सप्ताहान्त पर यहाँ कामकाजी दलों के रूप में जाया करते थे। पानी के लिए नलों की व्यवस्था की गई और खाना पकाने के लिए गैस का इन्तज़ाम किया गया। कई सदस्य परिवार इसका उपयोग अपनी गर्मी की छुट्टियों के लिए करते हैं, तो कुछ सदस्य सप्ताहान्त की छुट्टियों के लिए। ये लोग अपनी या उधार की कार से यहाँ पहुँचते हैं। इसके अलावा किशोर बच्चे और नव विवाहित जोड़े सायकिल या बसों से भी यहाँ पहुँचते हैं। सोने के लिए जगह या तो भट्ठी-घर में है, या सेन्टर के टेंटों में है, या सदस्य अपने टेंट ले जाकर कैम्पिंग स्थल पर लगा सकते हैं। इनके लिए पहले से सेन्टर में बुकिंग की जा सकती है। सदस्यों ने स्वयं ही तय किया कि कैम्प के उपयोग का शुल्क परिवार के आधार पर होना चाहिए, चाहे परिवार का आकार कुछ भी हो। सेन्टर की सदस्यता भी इसी आधार पर होती है। यह कैम्प सदस्यों के सामाजिक जीवन में कड़ियाँ मज़बूत करने में अमूल्य साबित हुआ है।

परिशिष्ट ख

दी सेल्फ-रिस्पेक्टिंग चाइल्ड। लेखक एलिसन स्टालिब्रास। थेम्स एण्ड हडसन, लन्दन 1974; पेंग्विन, 1977

पृष्ठ 104-05 : शिशुओं व छोटे बच्चों के पूरी तरह स्वतःस्फूर्त व्यवहार के विस्तृत विवरण बहुत ही कम लोगों ने प्रकाशित किए हैं। इनमें से सम्भवतः सबसे ज्ञानवर्धक व पठनीय विवरण मिलिसेंट वॉशबर्न शिन के हैं। वे एक अमरीकी जीव वैज्ञानिक थीं। उनकी पुस्तकें 1900 के आसपास प्रकाशित हुई थीं और अब मुश्किल से ही मिलती हैं। सुश्री शिन ने शायद अपना सारा समय अपनी शिशु भतीजी रुथ के व्यवहार के प्रत्येक पहलू को – विनम्र कौतूहल और पैने अवलोकन से – देखते और हर देखी सुनी बात को, उबाऊ बारीकियों से कोसों दूर, लिखते बिताया होगा। ये किताबें, उन किताबों की बनिस्बत जो हमें बताती हैं कि एक औसत बच्चे से इस या उस उम्र में क्या करने की अपेक्षा की जा सकती है, हमें बच्चों के बारे में कहीं अधिक सिखाती हैं। और, चाहे यह लेखिका की मंशा नहीं थी, इन किताबों से यह भी पता चलता है कि वयस्कों का किस ढंग का प्रत्युत्तर शिशुओं में स्वस्थ, आनन्दित और शक्तिदायक क्रियाकलापों को बढ़ावा देता है।

जब रुथ दो माह की थी, तब एक दिन सुश्री शिन उसे गोद में उठाकर खड़ी थीं। ऐसा वे अक्सर करती थीं, ताकि बच्ची आसपास देख सके। उन्होंने अपने गाल रुथ के सिर से सटाए हुए थे ताकि जब भी वह अपना सिर सीधा रखते-रखते थक जाए तो उसे सहारा मिल सके। “मगर आज वह अपना सिर सीधा रखकर सन्तुष्ट नहीं थी: वह लगातार अपनी पीठ को उस हाथ पर दबाकर सीधा कर रही थी जो उसे सहारा दिए हुए था। इस तरह से कुछ माँसपेशियाँ उसकी इच्छा के नियंत्रण में आ रही थीं। जब भी मैं उसे अपने कन्धे पर नीचे करती, वह छटपटाती और फिर से सीधी होकर इधर-उधर देखने लगती।” इसके बाद तो रुथ पर “हर जगह ऊपर उठने का भूत सवार हो गया। यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि लिटाने की कोशिश करने पर उसकी छटपटाहट और चीखना-चिल्लाना मात्र एक बेशक्ल-सा असन्तोष था और इसमें एक साफ सोच नहीं थी कि वह क्या चाहती है। जैसे ही उसे सीधा करके उठा लिया जाता या तकियों से सहारा देकर सीधा बैठा दिया जाता, वैसे ही वह सन्तुष्ट हो जाती।”

ढाई माह के लगभग उसकी मुस्कानें कम हो गईं और वह अपने आसपास संजीदगी व संयम से देखने लगी; और तीसरे माह के आखिरी सप्ताह में

मैंने देखा, इसे समझे बिना ही, कि वह जब इधर-उधर देखती तो उसके चेहरे पर आश्चर्य का भाव आ जाता था। विस्फारित, आश्चर्यचकित आँखों का मतलब यही था कि उनके सामने कुछ नई चीज़ें थीं। क्या चीज़ें बच्ची की आँखों में स्थान की स्पष्ट सीमाओं में बँधकर अलग-अलग होने लगी थीं? ... अचरज दिन-ब-दिन बढ़ता गया और बच्ची खामोशी से अपने आसपास देखती रहती, दुनिया को ताकती रहती। वह जाने-पहचाने कमरे को मिनटों तक देखती रहती, एक-एक चीज़ को ध्यान से घूरती, जब तक कि पूरा दृष्टि-पटल आँखों से न गुज़र जाए। फिर वह उत्सुकता से अपना सिर कमरे के किसी और भाग की ओर घुमाती; और जब वह वह सब देख लेती जो एक जगह से देखा जा सकता है तो वह छटपटाने लगती, जब तक कि उसे किसी दूसरी जगह पर न ले जाया जाए। नई जगह पहुँचकर वह नए कोण से कमरे का निरीक्षण करने लगती – निरीक्षण करते हुए चेहरे पर हमेशा अचरज और उत्सुकता होती, आँखें फैली होतीं, भौंहें ऊपर उठी होतीं।

पृष्ठ 106: जब भी वह किसी चीज़ को नए कोण से देखती तो उसे पहचानना सीखने में उसकी दिलचस्पी का एक उदाहरण प्रस्तुत है:

... वह मेरी गोद में बैठी थी और ध्यान से, अचरज भरे चेहरे से अपनी दादी की पीठ और सिर का बाजू वाला भाग देख रही थी। दादी ने अपनी बुनाई से सिर घुमाया और उसकी तरफ देखकर आवाज़ की। आश्चर्य से बच्ची का मुँह खुला का खुला रह गया और भौंहें तन गईं। बहरहाल, मैं उसे अपने पैरों पर झूलाने लगी। झूले में हर विराम के दौरान वह आश्चर्यचकित होकर उस सिर को देखती रहती, जब तक कि दादी मुड़कर सिर न हिलाती या आवाज़ न करती; फिर वह सन्तुष्ट होकर और झूलाने की माँग करती।...दादी माँ के सिर पर सफेद बालों की लट और गालों के घुमाव को चेहरे में तब्दील होता देखकर एक बार चकित हो जाने पर वह इस चमत्कार की पुनरावृत्ति का इन्तज़ार करती रही, जब तक कि यह स्वाभाविक न लगने लगा और उसके दिमाग में ये दो पहलू पूरी तरह आपस में गुँथ न गए।

पृष्ठ 109 : रुथ के खेल का एक आखिरी उदाहरण। एक दिन वह अपनी चाची की गोद में चढ़ने में सफल हो गई, और फिर अगले दिन:

काफी समय तक वह काफी तल्लीन होकर एक दरवाज़े की दहलीज़ पर चढ़कर उल्टे उतरने की कोशिश करती रही। इसके अगले दिन उसने सीढ़ियों को काबू में किया और दो सीढ़ियाँ चढ़ गईं। उसी दिन

बाद में मैंने उसे सीढ़ी के नीचे बैठा दिया और खुद उसके आगे धीरे-धीरे ऊपर चढ़ गई। बच्ची भी पीछे-पीछे आ गई (हाँ, उसकी माँ के हाथ उसे पीछे से सम्भालने को तैयार थे; इतनी सावधानी के बगैर एक नन्ही बच्ची को कौन सीढ़ियाँ चढ़ने देगा?)। एक-एक पायदान चढ़ते हुए, अपने इस उद्यम से थककर बीच-बीच में आवाज़ करते हुए, और हर पायदान पर विजय के बाद सन्तोष की किलकारी भरते हुए। एकाध बार पीछे भी फिसली मगर हारी नहीं — पूरे पन्द्रह पायदान चढ़कर जब वह ऊपर लैंडिंग पर पहुँची तो सीढ़ी की मुँडेर पकड़कर खड़ी हो गई, हिचकिचाई, सिर के बल उतरने की कोशिश की, फिर हँसते हुए लैंडिंग को सरककर पार किया। पाँच और पायदान चढ़ गई, और जब उसने देखा कि वह ऊपरी मंज़िल पर पहुँच गई है तो वह चीख पड़ी। उसने ललक से अटारी की सीढ़ियों को देखा और चल पड़ी। मगर वहीं एक खुले दरवाज़े ने उसे कमरे की खोजबीन करने को मोह लिया और वह सीढ़ियों को भूल गई।

उस पूरे महीने बच्ची दरवाज़ा खुला देखते ही खुश होकर हाथ और घुटनों के बल सीढ़ियों की ओर बढ़ जाती। रोज़ाना कई बार सीढ़ी चढ़े बिना उसे सन्तोष न होता। उसके आसपास ऐसे लोग थे जो रोकने की बजाय उसे यह सब करने की छूट देने में विश्वास करते थे, और जब वह यह सब करती तो वे उसकी सुरक्षा सुनिश्चित करने को चौकन्ने रहते। जल्द ही वह सीढ़ियाँ चढ़ने में दक्ष हो गई। वह हर उस ऊँची चीज़ पर चढ़ाई करती जो चढ़ने योग्य दिखती।

यह तब की बात है जब रुथ चलना नहीं सीखी थी और वह एक साल से भी छोटी थी।

पृष्ठ 182 : औद्योगिक रूप से विकसित देशों में छोटे बच्चों को शायद काफी हद तक अपना समय ऐसे परिवेश में गुज़ारना होगा जिससे वे अपनी इन्द्रियों के ज़रिए परिचित नहीं हो सकते, समझ नहीं सकते। लिहाज़ा ऐसे परिवेश में वे अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं कर सकते — न ही उन्हें ऐसा करने की इजाज़त दी जा सकती है। वास्तव में कतिपय किस्म के बच्चे को यदि यह पता चले कि स्वतंत्रता या साहसिक कार्यों के उसके प्रयासों पर नाक-भौं सिकोड़ी जा रही है, तो वह शायद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निष्क्रियता ही बेहतर नीति होगी।

पृष्ठ 189 : किसी बच्चे के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए ज़रूरी है कि उसकी कुछ गतिविधियों — ज़रूरी नहीं कि भोजन से जुड़ी गतिविधियों — का कुछ प्रभाव हो, कुछ नतीजा निकले। दुनिया के बारे में और खुद

के बारे में उसका नज़रिया इस पर निर्भर रहेगा...।

... ज़रूरत इस बात की है कि उसकी माँ – और शेष परिवार – उसे खुश देखना चाहते हैं और मानते हैं कि खुश रहना उसके लिए अच्छा है। यदि उसे एक व्यक्ति बनना है तो ज़रूरी है कि उसके साथ एक वस्तु की तरह नहीं, व्यक्ति की तरह सलूक किया जाए। हमें उसकी भावनाओं और इच्छाओं का आदर करना चाहिए और उसकी ज़रूरतों को – सिर्फ उस रूप में नहीं जैसे हम उन्हें देखते हैं बल्कि जैसे वह स्वयं उन्हें देखता है – पूरा करने की कोशिश करनी चाहिए।

इससे हम यह सबक सीख सकते हैं कि यदि हम बच्चे को यह महसूस करने देते हैं कि उसके पास यह ताकत है कि वह जब चाहे हमसे वह पा सकता है जो वह चाहता है – हमारा ध्यान, प्यार-दुलार या भोजन – तो हम कदापि उसे बिगाड़ नहीं रहे हैं। बल्कि हम यह सुनिश्चित कर रहे हैं कि हम उसका अपमान न करें, उसे जड़ न बनाएँ।

पृष्ठ 198 : किसी भी बच्चे की शक्तियों को सहजता से विकसित होने दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसे वह सब सीखने की इजाज़त मिलनी चाहिए जिसे सीखने में वह सक्षम हो गया है। जैसे ही वह अपनी माँ के साथ एक परस्पर सन्तोषदायक सम्बन्ध बना ले, उसे अन्य किस्म के लोगों के साथ विभिन्न किस्म के सम्बन्ध बनाने के अवसरों की ज़रूरत होती है। जैसे ही वह वस्तुओं के अस्तित्व के प्रति सचेत हो, उसे *तमाम* वस्तुओं को टटोलने के अवसर की ज़रूरत होती है। जब वह रेंगने या घुटनों के बल चलने लगे या घिसटकर आगे बढ़ने लगे, तो उसे अपने शरीर को एक से दूसरी जगह ले जाने का मौका मिलना चाहिए; उसे एक कुर्सी या खटोले में कैद करने की ज़रूरत नहीं है। जैसे ही वह चलने लगे, उसे ऊपर चढ़ने की इजाज़त मिलनी चाहिए। जैसे ही वह स्पष्ट आवाज़ें निकालने लगे, उसे यह पता चलना चाहिए कि उसे उत्तर मिल सकता है और उत्तर मिलना चाहिए। कुल मिलाकर, उसे यह पता चलना चाहिए कि वह कई तरह की गतिविधियों को प्रभावित कर सकता है।

पृष्ठ 199 : किसी भी बच्चे के लिए, उसकी स्वतःस्फूर्त गतिविधि को मिली स्वीकृति का मतलब प्यार होता है। उस प्यार का उसके लिए कोई खास मतलब नहीं होता जो उसकी सुरक्षा या भविष्य में उसकी खुशहाली के प्रति चिन्ता के रूप में व्यक्त होता है, या लगातार ध्यान या *बिन माँगे* स्नेह प्रदर्शन के रूप में प्रकट होता है। उसे प्यार की वह अभिव्यक्ति चाहिए जो उसके आत्मसम्मान में वृद्धि करे।

शिक्षा की बजाय